श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १००८ शंकरभगवत्पाद विरचिता

सौन्दर्य लहरी

हिन्दी अनुवाद और

श्री विद्यातत्त्व कुन्डलिनी रहस्य

सहित

लेखकः—

स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज

शुल्क] १९४९ [रु. [illegible]
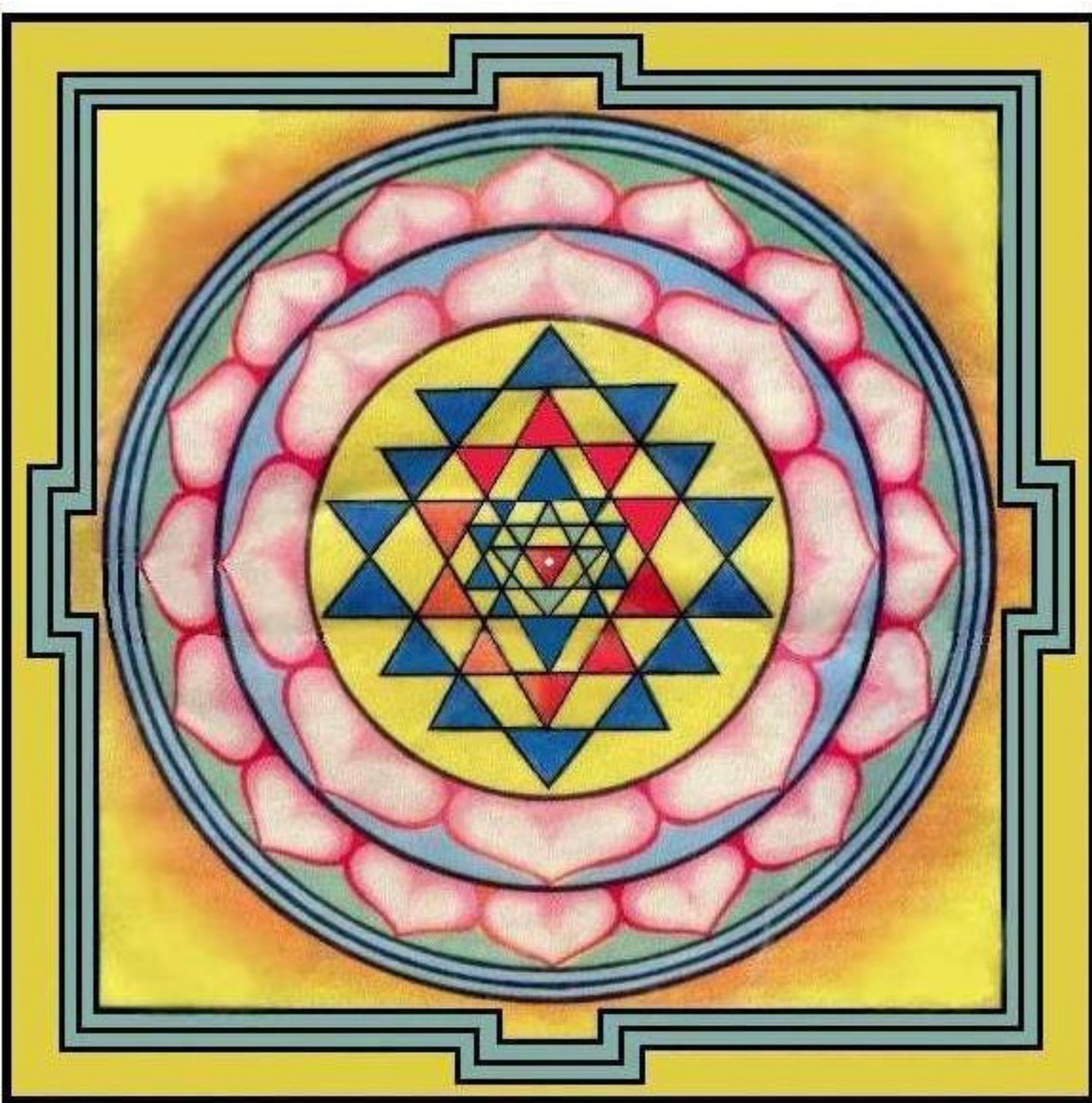
श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १००८ शंकरभगवत्पाद

श्रीमच्छंकर भगवत्पादकी जीवन झांकी

और

सौन्दर्य लहरी ।

अद्वैत स्थापनाचार्यं शंकरं लोक सद्गुरुम्

प्रस्थान त्रय भाष्यादि ग्रंथकारं नमास्यहम्

अहं ब्रह्मस्वरुपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत् शून्यं चाशून्यच ।

श्रीमद्भगवत्पाद जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी स्तोत्र में श्री आदि शक्ति मूलमाया एवं शुद्ध विद्या का तात्विक, यौगिक, और प्राकृतिक सगुणरुप का, रसगर्भित, भक्तिपूर्ण, व मनोहर वर्णन किया है । भगवत्पाद ने जो अनेक ग्रंथ तात्विक और धार्मिक विषय के लिखे हैं, उनमें 'सौन्दर्यलहरी' एक संकीर्ण स्तोत्र है, जिस की रचना भगवत्पादने बाल्यावस्था में ही की थी, ऐसा श्लोक ७५ और १०० से प्रकट होता है । श्रीशंकराचार्य का जन्मकाल इतिहास संशोधन कर्ता डा. भाण्डारकर, जस्टिस तैलंग, लो. तिलक, हाईकोर्ट वकील नारायण शास्त्री (age of shankar के लेखक), लो. का. बा. पाठक व म. रा. बोडस M. A. L L B प्रभृति विद्वद्मण्डली ने ७८८ ई. में केरल देशके काल्डी ग्राम में वैशाक शु. १० मी को निश्चित किया है । इन की माता का नाम आर्यअंबा, पिता का नाम शिवगुरु और आजा का नाम

विद्याधिराज था। शिवगुरुजी को संतान न होने के कारण उन्होंने शिवजी की आराधना की, जिस के फल स्वरूप भगवत्पाद का जन्म हुआ। बाल शकर का उपनयन संस्कार ५ वें वर्ष में हुआ और असाधारण विशद् बुद्धि होने से ८ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने वेदाध्ययन एवं १२ वें वर्ष में सब शास्त्राभ्यास समाप्त कर लिया, और उसी समय उनके पिता के भौतिक देह का परित्याग करदेने पर तत्पश्चात् ही ब्रह्मचर्य अवस्था में ही तीव्र वैराग्य उदय होने पर श्री श्रीगोविन्द पादाचार्य से ॐ कारेश्वर क्षेत्र में नर्मदा तटपर संन्यास दीक्षा ली। और १६ वर्ष की अवस्था में काशी जाकर प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिखे। तदन्तर सनातन वैदिक धर्म के पुनर्संस्थापन का अलौकिक कार्य किया; और तत्कालीन प्रचलित अवैदिक धर्म संप्रदायों को निरस्त किया। अद्वैत वेदान्त के सिद्धांत की विश्व में सुदृढ नींव कायम करने का एकांत श्रेय श्रीमच्छंकर भगवत्पाद को ही है। इतना सब कुछ आलौकिक कार्य ३२ वर्ष के अल्प समय में संपादित करके सन ८२० ई. में अपना प्रातः स्मरणीय नाम सदा के लिये छोडगये।

भगवत्पाद के घराने में परंपरागत सांबशिव उपासना चली आती थी। उनके श्रींगेरी आदि मठों में शिव व शार्दादि की शक्ति उपासना अद्यापि प्रचलित है शिव से निर्गुण परमतत्व प्राप्ति का ज्ञान मार्ग और शक्ति से शुद्धविद्या की उपासना समझना चाहिये। कांची मठ में श्रीचक्र की तांत्रिक उपासना समयाचार पद्धति के अनुसार आज भी होती है, जहां भगवत्पाद का विद्यार्थी कालीन आचार्य कुल था। सौन्दर्यलहरी के ११ वें श्लोक में श्रीचक्र का

वर्णन है। अद्वैत ज्ञान और शक्ति उपासना दोनों के पारस्परिक मेल की आवश्यकता और विधिक्रम श्रींगेरी आदि मठों में देखा जा सकता है। मानव जाति के परम उच्च तम उन्नत्तांविकास की समाप्ति अद्वैत ब्रह्मानुभूति में कही गई है, जिस के लिये अनेक ब्रह्मविद्यापर साधन हैं, उनमें श्रीचक्र की उपासना एक बडे महत्व का साधन है। श्रीचक्र रेखा गणित के प्रमाण से दैवी शक्तियों का एक प्रतीक स्वरूप यंत्र बनाया गया है। भौतिक यंत्रों के सदृश यह भी अध्यात्म विज्ञान के विद्वानों की आध्यात्मिक खोज का फल है, जिस के द्वारा मनुष्य जीवन को आध्यात्म शक्ति की उपलब्धि करके सार्थक किया जा सकता है। इस विषय का साहित्य भडार अरण्यको उपनिषदों और तंत्रों में मिलता है।

श्री चक्र की उपास्य देवता श्री ललिता त्रिपुरा है। मंत्र के मनन द्वारा मन का तत्सम्बधी देवता से तादात्म्य किया जाता है। श्री ललिता त्रिपुराम्बा के मंत्र का निर्देश सौन्दर्य लहरी के श्लोक ३२ व ३३ में हैं, जिसका विशेष रहस्य श्री भास्कर राय के वरिवस्या नामक ग्रंथ से जाना जा सकता है। श्री ब्रह्म गायत्री का वैदिक मंत्र और श्री विद्या का कादि हादि तांत्रिक मंत्रों को एकार्थी ही समझना चाहिये, जैसे विभिन्न वर्णों की गायों का दूध एक जैसा मधुर होता है। देखें त्रिपुरतापिनी उपनिषद्।

श्री भगवती की उपासना जैसे मंत्र यंत्र द्वारा बाहर की जाती है वैसे ही शरीर के अभ्यन्तर षट् चक्र एवं नाडियों (ईडा, पिंगला सुषुम्ना) में देवता रूपी शक्तियों के केन्द्रों की सहायता से योग

पद्धति का साधन क्रम का विधान है, तब देह को ही श्री यंत्र माना जाता है और मंत्रों की सहायता से मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान कर के उसका आरोहण अवरोहण सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्म रंध्र (सहस्रार) पर्यन्त किया जाता है। जिसका वर्णन श्लोक ९, १० एवं ३५ से ४१ तक किया गया है। सब शक्तियां बीज रूप से अपने शरीर में ही हैं, उनका जागरण कर के शरीर में ही ईश्वर की प्राप्ति की जाती है, कहीं बाहिर जाने की आवश्यकता नहीं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों की रचना तात्विक रूप से एक समान है। योग मार्गानुसार कुण्डलिनी, मन, प्राण, नाद और बिन्दु इन पांचों के ज्ञान से ब्रह्माण्ड के यावतीय सब तत्वों का ज्ञान होता है। मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी शक्ति ही महामाया कहलाती है, उसही का संवित् स्वरूप शुद्ध विद्या कहलाता है वह ही परापश्यन्ती मध्यमा वैखरी के रूप में व्यक्त होकर समस्त मंत्रमय जगत् की सृष्टि करती है, जिसकी योग उपासना का स्थान मनुष्य देह ही है। कहा है:—

देहो देवालयः प्रोक्तः।

परन्तु कोई भी विद्या क्यों न हो, उसकी प्राप्ति सद्गुरू की कृपा के बिना कठिन है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ गीता ॥

इसलिये तत्वज्ञ महानुभावों की शरण ग्रहण करना ही राजमार्ग है।

श्री १०८ स्वामीजी विष्णुतीर्थ महाराज ने श्री भगवत्पाद शंकराचार्य की रची हुई सौन्दर्य-लहरी का हिन्दी भाषा में विद्वत्ता-पूर्ण अनुवाद कर के यह पुस्तक प्रसिद्ध की है। यह उनका अनुग्रह है।

श्री स्वामीजी कतिपय महान पुरुषों में से एक संत महात्मा हैं। आप की विद्वत्ता और योगिक तपोबल प्रासादिक है।

सौन्दर्य लहरी में तत्वार्थ योगार्थ और मंत्रार्थ गुढ रीति से और काव्यालंकारों से छुपा हुवा है। पाठक महाशयों को इसका प्रतितार्थ यथायोग्य समझने में सहायता हो इस हेतु से श्री स्वामीजी ने अपने विवरण की पुष्टी में वेदोपनिषद् शास्त्र के आधार स्थान विशेष बार-बार उधृत किये हैं। वैसे ही नाडीयों एवं श्री चक्र के नकशे भी देने का प्रयत्न किया है। जिससे पुस्तक पढने वाले व योग साधन व उपासना करने वाले भक्तजनों को विस्तृत माहिती द्वारा सन्देह कटकर उनके मन को आनन्द लहरीयों की प्राप्ती हो। यह पुस्तक आदरणीय और संग्रहणीय है। इति शिवम्

देवास जूनियर
मध्यभारत
ता. २५-३-४९
फा व. ११ संवत २००५

विनायकराव बापूजी
वैशंपायन
रिटायर्ड स्टेट कौन्सिलर.

ग्रन्थ परिचय

भारतीय तत्वज्ञानियों में जगद्‌गुरू स्वामी शंकराचार्य्य का नाम सर्वप्रथम है। संस्कृत साहित्य के पंडितों का आज भी अभाव नहीं है किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति और उच्च स्तर पर पहुंचने वाले साधन-निष्ठ पुरुषों का अभाव सा ही है। पुस्तकों का साधारण अनुवाद कर देना सरल सी बात है किन्तु ग्रंथ के गर्भ भाग में प्रवेश कर उसका आध्यात्मिक तत्व निकालना और उसे साधन उपयुक्त बनाकर जनता के सामने रखना बडा कठिन है। हम पुरातन शास्त्रज्ञों से यदि आत्मा, मन, और प्राण की परिभाषा पूछे तो वे संतोष जनक उत्तर नहीं दे सकते। इसको कोई अध्यात्मिक पुरुष अस्वीकार नहीं कर सकता कि स्वामी शंकराचार्य्य ने सौंदर्य लहरी के १०३ श्लोकों में उपासना का कितना गूढ रहस्य और योग साधनों की कितनी उपयोगिता बतलायी है। भगवान शंकराचार्य के इस स्तोत्र मे जो भगवती की स्तुति की गई है उसमें उनके उद्गार कितने श्रेष्ठ, स्पष्ट, गंभीर, और उन्नत प्रदर्शित किये गये हैं। ऐसे बृहद्‌ग्रंथ का अनुवाद करना और उसे आध्यात्मिक साधना से उपयुक्त कर देना सरल बात नहीं है। उस पर तो वही महात्मा प्रकाश डाल सकते हैं जो आध्यात्मिक उच्च स्तर पर पहुंचे हुवे हैं और अधिकारी हैं।

ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी विष्णुतीर्थजी महाराज ने इस अनुपम ग्रंथ का अनुवाद करके हिन्दी जगत का बडा उपकार किया है। प्रस्तुत पुस्तक के कुछ पृष्ठों को पढने से ही स्वामीजी के गंभीर अध्ययन का परिचय मिलता है।

वेद, वेदान्त, उपनिषद, शास्त्र, तंत्रशास्त्र, योग, मंत्रशास्त्र तथा भारतीय तथा पाश्चात्य तत्वज्ञानियों के वैज्ञानिक अनुसंधान के

दृष्टिकोण को लेकर मंत्रोंका महत्व समझाया है। प्रत्येक श्लोक विशेष महत्व रखता है जिसमें स्वामीजी के अध्ययन की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

मंत्रों के विषय में स्वामीजी ने जो व्याख्या सहित अपने विचार लिखे हैं वह मंत्रशास्त्र के साधकों के लिये गूढतत्व, एवं अतीव उपयोगी है। शिवजी के तांडव नृत्य के सम्बन्ध में जो भाव प्रकट किये हैं उसमें स्वामीजी की मौलिकता स्पष्ट हो रही है। आनन्द-लहरी को पढते पढते पाठक स्वयं आनन्द विभोर हो जाता है। सौन्दर्य लहरी को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में ४१ श्लोक आनन्द लहरी के नाम से प्रसिद्ध हैं, और उत्तरार्द्ध-खंड सौन्दर्य लहरी है। दूसरे खंड को पढ कर अनात्मवादी भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेगा। चितिशक्ति का वर्णन और अपरोक्षानुभूति के विषय को इतना स्पष्ट किया है कि पाठक के चेतना स्तर को हिला देता है।

चक्रों और कुण्डलिनी का विषय बहुत सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया गया है। उसका रहस्योद्घाटन बडे सरल शब्दों में किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ को साधनायुक्त बनाने में स्वामीजी ने स्तुत्य प्रयत्न किया है और इसका समीकरण भी बहुत स्पष्ट हुआ है।

विचारी, विवेकी, और ज्ञानी इस ग्रंथका समुचित आदर करेंगे और इस ग्रंथ से लाभ उठावेंगे। आध्यात्मिक जिज्ञासु स्वामीजी के इस महान कार्य्य के लिये आभारी हैं।

इस ग्रंथका अधिक से अधिक प्रचार हो यही मंगल कामना है।

कल्पवृक्ष कार्यालय उज्जैन।
दिनांक ३ मार्च सन १९४९ } (डॉक्टर) दुर्गाशंकर नागर,

ॐ श्री शिवः शरणम्

आमुख ।

परमगुरु श्री गौडपादाचार्य महाराज का सम्मत अजातवाद तथा भगवत्पाद श्री आद्य शंकराचार्य महाराज का सम्मत विवर्तवाद दोनों को पर्यायभूत सिद्धांत समझना, सामान्य जनता की बुद्धि को अगम्य है, इस लिए भगवत् पूज्यपाद महाराज ने उपासनादि द्वारा जनता की बुद्धि को विशद करने के लिए 'हरिमिडे' इत्यादि तत्तद्देवता के स्तोत्र बनाए। इन्हीं उत्तमोत्तम स्तोत्रों की पंक्ति में अग्रणीपद इस सौन्दर्य-लहरी को ही प्राप्त है। दृश्यमान जगत् की सत्यता जिनको प्रतीत होती है ऐसी जनता के सद्बोध के लिए अध्यारोपापवाद न्याय से अध्यारोप—समय में विवर्तवादी भगवत् पूज्यपाद को परिणामवाद मानना क्रमप्राप्त होने से सुसंगत ही है। इसी अध्यारोप दृष्टी से सौन्दर्य लहरी में सर्व जगत पूज्य भगवती की प्रार्थना की गई है जिस से भगवती का प्रसाद मिलेगा, तदनन्तर केनोपनिषद वर्णित प्रकार से उपासक को सत्यज्ञान लाभ होगा; अर्थात यह विवर्तवाद का ही परिणित स्वरूप है। विमर्शशाली विद्वानों को यह भलीभांति विदित है कि जगतगुरु के प्रादुर्भाव के समय में कादि, हादि उपासना तथा योगमार्ग तत्र तत्र प्रचलित थे, उसी को लेकर भगवती की महाराज ने प्रार्थना की है। यह क्रम उपनिषद सम्मत है क्यों कि छांदोग्यादि उपनिषदों में कर्मठों की सम्मत उद्गीथादि उपासना कही गई हैं। स्पष्टार्थ से केवल भगवती के अंगप्रत्यंगों का वर्णन सौन्दर्य लहरी से प्रतीत होता है परन्तु अभियुक्त टीकाकारों ने तंत्रशास्त्र तथा

वह अतीव सराहनीय है इस शिव ताण्डव ने सचमुच सोने में सुगंध वाली कहावत चरितार्थ की है यह परम समाधान की बात है ।

अन्त में सर्वोपकारक ग्रंथकार का अभिनन्दन करके इस अल्प निवेदन का विराम करते हैं ! इतिशम्

सर्वेषां विधेयः
शंकरानन्द भारती यति
मु. मोरटक्का रेवातीर
पूर्वाश्रमीः—महामहोपाध्याय—वेदान्तवागीश
श्री० श्रीधरशास्त्री पाठक
डेक्कन कॉलेज पूना

नोटः—श्री स्वामीजी के निवास स्थान मुकाम मोरटक्का के निकट नर्मदातट पर खेडीघाटस्थ श्री राजराज्येश्वरी मन्दिर में प्रतिष्ठित श्रीमच्छंकर भगवत्पाद की प्रतिमा का फोटो इस ग्रंथ के प्रथम पृष्ठ पर दिया जाता है । लेखक उसके लिये और श्री स्वामीजी के इन भावपूर्ण उद्गारों के लिये श्री भालचंद्र शास्त्रीजी का बहुत आभारी है ।

"सौंदर्य लहरी" का "सौंदर्य-माधुर्य"

"सौन्दर्य लहरी" श्री भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य द्वारा रचित एक प्रासादिक स्तोत्र है जिसके पाठ से अनेक साधकों का महान कल्याण हुआ है। श्री जगज्जननी आदिशक्ति महात्रिपुर सुन्दरी के प्रकाश से यह सकल चर अचर प्रकाशित है। माँ की इस स्तुति से साधक शिशुओं के हृदय में अपार शान्ति एवं अपूर्व तेज और ओज का दिव्य समावेश होता है—यह अनेकों का अनुभव है। उसी महान मंगलमय स्तोत्र की श्रीमत्स्वामीजी श्री विष्णुतीर्थजी महाराज ने योगपरक अपूर्व व्याख्या की है जो ज्ञान-विज्ञान एवं व्यक्तिगत यौगिक अनुभूतियों से समवेत होने के कारण योगसाधकों के लिए अनमोल बन गयी है। वेद, उपनिषद, गीता, सप्तशति आदि ग्रंथों के प्रचुर उद्धरण एवं प्रमाण से ग्रंथ का एक-एक पृष्ठ परिपुष्ट है। पूर्वानुक्रमणिका के कारण यह अत्यन्त गहन एवं रहस्यपूर्ण विषय बहुत ही सरलता से संग्राह्य हो गया है। क्लिष्ट शब्दों के अर्थ, भावार्थ एवं संक्षिप्त टिप्पणी तथा विषय-विवेचन के विवरण से संपूर्ण ग्रंथ अपने आन्तरिक सौन्दर्य-माधुर्य के साथ आस्वाद्य हो गया है। लेखक 'अनुभवी' व्यक्ति मालूम होते हैं, साधना के गुह्य पथ का आपको अनुभव है, वे उसके रहस्य और मर्म को भली भांति जानते-समझते हैं और समझाने की भाषा इतनी प्राञ्जल, मधुर एवं रोचक है

Author

प्राक्-कथन

सनातन वैदिक धर्म में ब्रह्मोपासना की विधि के निर्गुण सगुण भेद से दो क्रम कहे जा सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म सत् असत् से परे अक्षर अविनाशी अनिर्देश्य अचिन्त्य अव्यक्त स्वरूप है। वह सर्व व्यापक होने पर भी कूटस्थ स्पन्दरहित अचल है, इन्द्रियों का वह विषय नहीं, मन की उस तक गति नहीं और बुद्धि की विवेक शक्ति वहां तक पहुंचते २ थक जाती है। एक मात्र निर्विकल्पावस्था में ही उसकी उपलब्धि होना सभव है। कहा है 'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' (पंचाशिखाचार्य)। अव्यक्त स्वरूपा प्रकृति से भी अतीत वह परम अव्यक्त है,

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।

गीता (८, २०)

चेतन आत्मा की भी पराकाष्टा अर्थात् अन्तिम सीमा होने के कारण उसको परमात्मा कहते हैं। उसी को सर्व व्यापक होने से महा विष्णु, सर्व कल्याणमय होने से पर शिव, सर्वशक्तिमान होने से शक्ति का ईश्वर, निरतिशय सर्वज्ञ होने से प्रज्ञान घन, परं सत्य होने से सत्यनारायण, सुख राशी होने से आनन्दकंद, सत्तात्म होने से सद्ब्रह्म, चेतन होने से चिद्ब्रह्म या चिन्मात्र चिति शक्ति कहते हैं। उसकी परम अव्यक्तता के कारण ही उसे बौद्धों ने शून्य निर्वाण पद कहा है।

श्री मद्भागवत् में भगवान वासुदेव का परं सूक्ष्मरूप समझने के लिये उसकी शून्यवत् कल्पना करने का निर्देश किया गया है, यथाः—

यत्तद्ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितं ।
भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः ॥(९, ९, ३०)

इंद्रियों एवं मन के संचालक, बुद्धि के प्रज्ञात्म प्रकाश, प्राणों के प्राण और प्रकाश को भी प्रकाश देने वाले ऐसे परम तत्त्व का ध्यान कैसे किया जा सकता है ? सामान्य जन की स्थूल चंचल बुद्धि वहां काम नहीं करती, इसलिये उसके व्यक्त होने वाले गुणों का ही ध्यानार्चन करना पडता है। वह ऐसा सूर्य है, जिसको दृष्टि नहीं देख सकती, उसके तेज का ही ध्यान संभव होने के कारण, उस तेज के विभिन्न स्तरों पर चमकने वाली उसकी विभूतियों द्वारा ही उसका चिन्तन किया जाता है, यह ही सगुण उपासना कहलाती है। उससे उद्भूत तेजोमयी भ्राजमान शक्ति की व्यक्तता में ही उस सत्य को देखा जा सकता है। उसकी श्री को कोई प्रकृति, कोई माया, कोई उमा, कोई लक्ष्मी, कोई शक्ति, कोई प्रकृति कहते हैं। वह वैष्णवी माया चेतन प्राणियों की चेतना है, विश्व की कांतिमयी श्री है, जगत् की धात्री और प्रतिष्ठा है। बुद्धि वह है तो निद्रा भी वह ही है, तृषा है तो तुष्टि भी वह ही है। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, दया के सात्विक भाव उसी की मंद मुस्कान से विभूषित होने के कारण सदा विश्व का कल्याण करने के निमित्त अनुग्रह की वर्षा किया करते हैं।

इसलिये सगुण उपासना में शक्ति रूप से ब्रह्म की उपासना करने की प्रधानता सनातन धर्म में विशेष रूप से पाई जाती है। नास्तिक

जड भौतिक-वादी जन तो सब शक्ति की ही उपासना करते हैं, परंतु उनकी उपासना अचेतनता के स्तर पर है, उसमें देव भाव न होने के कारण वह प्राणहीन उपासना है। सनातन धर्मावलंबी भक्तगण चिति शक्ति के उपासक होते हैं और उनकी वह उपासना परम ब्रह्मतत्त्व की ही उपासना है। वैष्णवों के वृन्दावन की श्री राधा रानी, राम के मन्दिरों में सीता माता, शैवों की उपासना में उमा और शाक्तों की मां दुर्गा, काली, शक्ति उपासना की प्रथम प्रधानता के द्योतक हैं। शंकर भगवत्पाद ने सौंदर्य लहरी में जगज्जननी उमा पार्वती की प्रार्थना के मिस सनातन धर्म के अतिरहस्यमय गूढ और प्रभाव शाली शक्ति उपासना के एक उस साधन क्रम की विशद व्याख्या की है, जो श्रीविद्या के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीविद्या की उपासना पद्धति तंत्रों की आधारभूत पद्धति है, जो योगियों में श्री रूपा कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये गुरु परंपरा से गुरु की शक्तिपात दीक्षा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। यह उपासना वैदिक काल से चली आ रही है, इस बात का अकाट्य प्रमाण यह है कि तैत्तिरीय अरण्यक की एक आख्यायिका में देखने को मिलता है कि पृश्नी नाम के ऋषियों ने श्रीचक्र के अर्चन द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का मूलाधार से सहस्रार में उत्थान करके योग सिद्धि प्राप्त की थी, और भास्करराय भी कादि विद्या की प्रधानता सिद्ध करने के प्रमाण में 'चत्वार ईं विभर्ति क्षेमयन्तः' इस शाङ्खायन श्रुति को उद्धृत करके अपने वरिवस्या रहस्य नामक ग्रंथ में कहते हैं कि इस ऋचा में चार 'ई' से कादि पंचदशी मंत्र की ओर संकेत है। त्रिपुरा तापिनी उपनिषद् में कादि पंचदशी का उद्धार गायत्री मंत्र, 'जातवेदसे सुनवाम' और

'त्र्यंबकंयजामहे' इत्यादि वेदमंत्रों के आधार पर किया गया है, अपिच त्रिपुरोपनिषद् में दोनों कादि हादि विद्याओं का स्पष्ट उल्लेख है। श्रीमच्छंकराचार्य को श्रीविद्या की दीक्षा योगीन्द्र श्रीमद्गोविंद पादाचार्य से मिली थी, श्री श्री गोविंदपादाचार्य को इस विद्या की दीक्षा श्री श्री गौडपादाचार्य से मिली थी। श्री श्री गोडपादाचार्य का लिखित सुभगोदय नामक ग्रंथ जो श्रीविद्या का ग्रंथ है, इस बात की पुष्टि करता है। श्रीमच्छंकर भगवत्पाद ने सुभगोदय की छाया पर ही सौंदर्य लहरी के प्रथम ४१ श्लोकों की रचना की है।

प्रत्येक उपासना के बहिर और अन्तरंग दो भेद होते हैं। बहिर्पूजा की उपयोगिता उस समय तक ही रहती है जब तक कुण्डलिनी शक्ति का जागरण नहीं होता, तत्पश्चात् अन्तःसाधना का आरंभ होता है। इस ही नियम के अनुसार श्रीविद्या की बहिरुपासना श्रीचक्र पर की जाती है और अन्तरुपासना के लिये देह में ही श्रीचक्र की भावना करने का विधान है। देखें भावनोपनिषद् परिशिष्ट नं. (३)। देह में सुषुम्ना पथ द्वारा कुण्डलिनी का उसके जागरणोपरान्त आरोह अवरोह होने लगता है। श्री चक्र पर अन्तर्भावना युक्त बहिरुपासना करने से शक्ति के जागरण में सहायता मिलती है। श्रीचक्र का अर्चन पूजन सब उपासना का कर्मकाण्ड रुपी स्थूल अंग है और शक्ति जागरण के पश्चात षट् चक्र वेध की क्रियाओं का योग परक साधन धारणा ध्यान समाधि के अंतरंग साधनों युक्त उसका सूक्ष्म अंग है। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण तक पहुंचा जाता है।

यद्यपि सौन्दर्य लहरी एक तांत्रिक ग्रंथ है, तो भी वह श्रीमद्-भगवत्पाद शंकराचार्य का विरचित है इस बात पर पराचीन और

अर्वाचीन सब विद्वानों का एक मत होने से, यह विषय अधिक विवादास्पद नहीं है; श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद के लिखित अनेक देवी देवताओं के स्तोत्र प्रसिद्ध हैं, परन्तु विद्वत्समाज का जितना ध्यान सौन्दर्य लहरी ने आकर्षित किया है और अब भी वह जितने मान से देखी जाती है, उतना दूसरा स्तोत्र नहीं है। सौदर्य लहरी पर श्री अच्युतानन्द, पंडित अनन्त कृष्ण शास्त्री और लक्ष्मीधर जैसे विद्वानों की टीकाएं संस्कृत साहित्य में बडे आदर से देखी जाती हैं। कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रमुख न्यायाधीश सर जोन् वुड्रफ महोदय ने भी, जो तांत्रिक संसार में आर्थर अवैलन के नाम से प्रसिद्ध हैं और तांत्रिक साहित्य का अन्वेषण, अध्ययन और प्रकाशन करके पाश्चात्य जगत् का ध्यान इस ओर खेंचने का श्रेय जिनको प्राप्त है, सौंदर्य लहरी के पूर्व भाग आनन्द लहरी पर एक संक्षिप्त अंग्रेजी टीका लिखी है। उक्त टीका के प्राक् कथन (preface) में जो मत प्रकट किया गया है, वह हम पाठकों की जानकारी के लिये यहां नीचे देते हैं। तदनुसार बंगाल के प्रसन्नकुमार शास्त्री की ई. सन १९०८ में प्रकाशित श्री शङ्कराचार्य ग्रंथावलि में सौन्दर्य लहरी को भी स्थान दिया गया है। और वहां पाठकों का लक्ष्य महामहोपाध्याय शतीशचन्द्र विद्याभूषण के कलकत्ता रिव्यू के १९१५ जूलाई मास के अंक में प्रकाशित एक लेख की ओर भी कराया गया है। आप का कहना है कि सौन्दर्य लहरी की प्राचीनता तो इस बात से काफी निश्चय के साथ प्रमाणित है कि इस पर स्तोत्र साहित्य में सब से अधिक टीकायें मिलती हैं, यद्यपि यह बात उसके भगवत्पाद का लेख होने का तो प्रमाण नहीं कही जा सकती; परन्तु सारे भारतवर्ष में

जो लगभग ३५ टीकायें इस स्तोत्र पर लिखी जा चुकीं हैं, इस स्तोत्र के शंकर भगवत्पाद का विरचित होने का बहुत बडा प्रमाण हैं, क्योंकि प्रायः सब ही टीकाकारों का इस बात पर एक मत है, कि यह स्तोत्र भगवत्पाद श्री शंकराचार्य का ही विरचित है। इन टीकाकारों में से जो प्राचीन तम हैं असंदिग्ध रूप से सौन्दर्य लहरी को भगवत्पाद की कृति ही सिद्ध करते हैं। कैवल्य शर्मा, जो उडीसा के नरेश प्रतापरुद्रदेव के राज्यकाल १५०४ से १५३२ तक में हुए कहे जाते हैं अपनी टीका के प्रारम्भ में स्पष्ट लिखते हैं:—भगवान् परमकारुणिकः शंकरावतारः श्री शंकराचार्यः शिवशक्त्योरभेदं ज्ञापयितुं सकलप्रपंचसाक्षिण्याः ब्रह्माविनाभूतं चिच्छक्तेः स्तुतिद्वारा इत्यादि। कैवल्य शर्मा और उनके समकालीन लक्ष्मीधर एक मनोरमा संज्ञक ग्रंथ का उल्लेख करते हैं जो श्री शिवादि गुरुपारम्पर्य्य सत्सम्प्रदायानुसारि मुनीन्द्र श्री सच्चिदानन्दनाथ के शिष्य सहजानन्दनाथ विरचित है और श्री सच्चिदानन्दनाथ स्वामी का नाम शृंगेरीमठ के आचार्यों की नामावलि में मिलता है (Vide Descriptive catalogue of Madras Mss., vol. XIX P. 7606) और एक ऐसे व्यक्ति की टीका जो आदि शंकराचार्य के संप्रदाय से सम्बन्ध रखता है, सौन्दर्य लहरी के भगवत्पाद की कृति होने का अच्छा प्रमाण है। लक्ष्मीधर ने सुभगोदय व्याख्यान नाम के श्री शंकराचार्य विरचित एक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है, जो श्री गौडपादाचार्य विरचित सुभगोदय की टीका मालूम होती है। इस से यह स्पष्ट है कि शिवागम का तांत्रिक साहित्य श्री गौडपादाचार्य के काल में भी बहुत प्रचलित था, और श्री शंकराचार्य को गुरुपरम्परागत संप्रदायानुसार शक्तिदीक्षा

मिली थी। सुभगोदय का अर्थ 'सुभगा का उदय' अर्थात् 'कुण्डलिनी शक्ति का जागरण' किया जा सकता है। श्री शंकराचार्य विरचित प्रपंचसार संग्रह तंत्र भी इस बात की पुष्टि करता है, जिस पर भगवत्पाद के शिष्य श्री पद्मपादाचार्य ने टीका लिखी है। शार्दा-तिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने अपनी ई. १४९३ में लिखित टीका में उसका उल्लेख किया है। इन प्रमाणों के होते हुए सब शंकाएं निरर्थक हैं। वेदोंके भाष्यकार सायनाचार्य ने भी प्रपंचसार संग्रह पर एक टीका लिखी है, और वेदान्त कल्पतरु अध्याय १ पाद ३ अधिकरण ८ सूत्र ३३ में भी प्रपंचसार संग्रह का उल्लेख मिलता है और वहां वह तंत्र शारीरकभाष्यकार श्री शंकर भगवत्पाद का लिखा हुआ बताया जाता है।

हमारी तो इन ऐतिहासिक समस्याओं से अधिक दिलचस्पी नहीं है, इसलिये इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं, कि शारीरकमींमांसाभाष्य के पढने से यह बात स्पष्ट है कि शंकर भगवत्पाद ने वेद वेदान्ता-नुकूल स्मृत्युक्त सब योग और उपासनाओं को अंगीकार किया है और वेदवेदान्त विरुद्ध सिद्धान्तों का परिहार किया है, इसलिये तांत्रिक योग पद्धतियों और उपासनाओं को भी अपनाने में उनको आपत्ति नहीं हो सकती थी, जहां तक कि वे वेदवेदान्त का समर्थन करने वाली हैं, और प्रपंचसार संग्रह एवं सौंदर्य लहरी की सैद्धांतिक भूमिका श्रौत मार्ग के विपरीत नहीं है अपितु श्रौत सिद्धान्तों का समर्थन करती है। और जबकि सब ही पराचीन और अर्वाचीन विद्वानों का बहुमत इस बात के पक्ष में है कि सौंदर्य लहरी भगवत्पाद की ही रचना है तो उसके विरुद्ध शंका उठाकर वादविवाद में पडना वांछनीय नहीं।

इस संबंध में एक शंका बहुदा यह भी उठाई जाती है कि शंकर भगवत्पाद विवर्तवाद के प्रवर्तक थे वे परिणामवाद के कदापि समर्थक नहीं बन सकते थे, परन्तु सौंदर्य लहरी में स्पष्ट रूप से परिणामवाद का समर्थन किया गया है, देखें श्लोक १ और ३५। इस शंका का उत्तर स्वयं भगवत्पाद ब्रह्मसूत्र (२, १, १४) के भाष्य की अंतिम पंक्ति में इन शब्दों में देते हैं:—अप्रत्याख्यायैव कार्य-प्रपंच परिणाम प्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषु उपासनेषूपयोक्ष्यते इति।' अर्थात् कार्य प्रपंच को सिद्ध करने के लिये नही वरन् सगुण उपासना के उपयोग के लिये परिणामवाद का सूत्रकार ने आश्रय लिया है। भगवत्पाद ने ब्रह्म सूत्रों में सर्वत्र सत्कारणवाद को सिद्ध करते समय जगत् को सत्‌शक्ति का परिणाम ही सिद्ध किया है। आगे चलकर ब्रह्म सूत्र (२,१,२४) के भाष्य की अन्तिम पंक्ति में भी वे इन शब्दों में उपसंहार करते हैं:—'तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिवत् विचित्र परिणाम उपपद्यते'।

श्रीविद्या का प्रचार मद्रास प्रान्त में अधिक है, उत्तर भारत में उसका सर्वथा अभाव-सा प्रतीत होता है, यहां तक कि उत्तर भारत का विद्वत्समाज इस विद्या से अनभिज्ञ दिख पडता है। इसलिये हमने सौंदर्य लहरी पर यह व्याख्या हिंदी जानने वालों के लाभार्थ हिंदी में लिखने का साहस किया है। यद्यपि यह विषय प्रधानतया तान्त्रिक है, परन्तु हमने अपने विचारों की पुष्टि में उपनिषद् गीता जैसे सर्वमान्य शास्त्रों का ही उद्धरण इस दृष्टि से किया है कि तंत्रों का साहित्य वाममार्ग की कुत्सित प्रथाओं के कारण सामान्य जनता में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। परन्तु हम साथ ही पाठकों को यह भी बता—

देना उचित समझते हैं कि तंत्रोक्त समयाचार शुद्ध सात्विक उपासना का मार्ग है और श्रीमच्छंकर भगवत्पाद की लेखनी से निकला हुआ यह स्तोत्र इस बात का सर्वोपरि प्रमाण है। श्रीभगवत्पाद का लिखित एक प्रपंचसार तंत्र भी मिलता है जिसे सेंट् अवैलन महोदय ने अपनी तंत्रागम ग्रंथावलि में प्रकाशित किया है।

श्रीविद्या पर परशुराम कल्पसूत्र, और उसके आधार पर संग्रहीत नित्योत्सव एवं भास्करराय का समस्त साहित्य पढने योग्य है। कैवल्य शर्मा ने सौंदर्य लहरी पर भाष्य लिखा है। संस्कृत जानने वाले विद्वानों को श्रीविद्या के रहस्यों को जानने के लिये उपरोक्त ग्रंथ अवश्य पढने चाहिये। श्रीविद्या के जिज्ञासुओं को त्रिपुरातापिनी, देवी, त्रिपुरा और भावनोपनिषदें भी देखने योग्य हैं। त्रिपुरा और भावनोपनिषदों को हम परिशिष्ट में दे रहे हैं।

अंग्रेजी में सौंदर्य लहरी पर कई ग्रंथ लिखे जा चुके हैं, २ ग्रंथ हमारे देखने में आये हैं। दि थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अडयर का प्रकाशित् और पंडित स० सुब्रह्मण्य शास्त्री (F. T. S.) और ट. र. श्रीनिवास अयंगार (B A. L. T.) की लिखित अंग्रेजी प्रति हमारे सामने है, जिसको पढकर हमें यह ग्रंथ हिंदी में लिखने की प्रेरणा मिली। हम उक्त दोनों सज्जनों के अनुग्रहीत हैं क्योंकि उनके ग्रंथ से अनेक विषयों पर हमें पर्याप्त सहायता मिली है।

साथ ही मैं श्री स्वामी शंकरानन्द भारतीजी, जिनको साहित्य-संसार महामहोपाध्याय वेदान्त वागीश श्री श्रीधर शास्त्री पाठक प्रोफेसर डेक्कन कालेज पूना के नाम से परिचित हैं, डॉ. दुर्गाशंकर

नागरजी (कल्पवृक्ष के संस्थापक उज्जयनी, और श्री विनायकराव बापू वैशंपायनजी देवास का भी अनुग्रह प्रकट करना जरूरी समझता हूं जिनने अपना बहुमूल्य समय प्रदान करके ग्रंथ पर अपनी सहानुभूति एवं सम्मति प्रदान की है, जो ग्रंथ के पूर्व भाग में प्रकाशित की जाती हैं।

परिशिष्ठ मे नासदासीय ऋग्वेदीय सूक्त भी हिंदी अनुवाद सहित दिया जा रहा है।

देवास–मध्यभारत
सं० २००५

विष्णुतीर्थ

सांकेतिक चिन्ह

गी, गीता	=	श्री मद्भगवत् गीता
यो० द०	=	योगदर्शन
बृ०, बृह०	=	बृहदारण्यक उपनिषद्
क, कठ०	=	कठोपनिषद्
प्र०, प्रश्न०	=	प्रश्नोपनिषद्
दु० स०	=	दुर्गा सप्तशती
मु०	=	मुण्डकोपनिषद्
छा०	=	छान्दोग्य उपनिषद्
ऐत०	=	ऐतरेय उपनिषद्
श्वे०	=	श्वेताश्वतर उपनिषद्
ब्र०,ब्र०सू०	=	ब्रह्म सूत्र
ऐ० आ०	=	ऐत्तरीय अरण्यक
यो० शि०	=	योग शिखोपनिषद्
शा० ति०	=	शारदा तिलक
ऋक्	=	ऋग्वेद
तै०	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
ना०	=	नारायणोपनिषद्
ल० स०	=	ललिता सहस्रनाम
सौं० ल०	=	सौन्दर्य लहरी

विषय सूची

प्रस्तावना

आनन्द लहरी

श्री चक्र निर्माण की विधि पृ. १०७, श्लो. १२ पृ. १११, भगवती का सौन्दर्य कल्पनातीत है पृ. ११०, श्लो १३ पृ. ११३. काय सम्पत् सिद्धि, श्लो. १४ पृ. ११५, तत्त्वों की किरणें ११५, किरणों का तत्त्वों से सम्बन्ध ११७, किरणों का वर्णमाला मे सम्बन्ध ११८, किरणों की अधिष्ठातृ शक्तिया १२१, श्लो. १५ पृ. १२५, वाक् सिद्धि, श्लो. १६ पृ. १२७, श्लो. १७ पृ. १२९, श्लो. १८ पृ. १३०. मधुमती भूमिका की सिद्धि श्लो १९ पृ. १३२, काम कला का ध्यान, श्लो. २० शक्तिपात करने की सिद्धि. पृ. १३५, श्लो. २१ पृ. १३७, चक्रों और सहस्रार का सविस्तार वर्णन, पृ. १३९ चन्द्र सूर्य पृ. १४४ तत्त्वों और चक्रों के अधिदेवों की कलाओं के नाम १४७ आक्त के ऊपर ९ स्तर १४९, श्लो. २२ पृ. १५३, अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान का उदय १५३, श्लो. २३ अर्ध-नारीश्वर सदाख्यतत्त्व का ध्यान, पृ. १५६, श्लो. २४ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव, पृ. १५७, श्लो. २५, पृ १५९, श्लो. २६ पृ. १६०, तीन प्रकार का पूजन १६१, श्लो. २७ पृ. १६२, श्लो. २८ पृ. १६४, श्लो २९ पृ. १६५, कैटभ भिद् १६६, श्लो. ३० पृ. ब्रह्मभाव १६८, श्लो· ३१ पृ. ६४ तंत्रों से भगवती का तंग स्वतंत्र है, १६०, श्लो ३२, ३३, १७५, हादिकादि विद्याओं के रूप पंचदशी और उसके आधार पर अन्य विद्यायें १८०, माला का विधान १८०, षोडशी विज्ञान १८१ नाद, बिन्दु और कला १८७, श्लो. ३४, शिव शक्ति का अंगी अंगवत् सम्बन्ध, पृ. १९०, श्लो. ३५, सारा विश्व शक्ति का परिआस है, १९३, श्लो. ३६ आज्ञा चक्र, १९६, श्लो. ३७ विशुद्ध चक्र, पृ. १९९

सौन्दर्य लहरी (उत्तरार्ध)

श्री

आनंद लहरी

आदौ गणपतिं नत्वा, नत्वा शिवं जगद्गुरुम् ।
आचार्यं शंकरं नत्वा भजे त्रिपुरसुन्दरीम् ॥

सौन्दर्य लहरी १०३ श्लोकों का एक बृहत् स्तोत्र है जो श्री १००८ आदि शंकराचार्य शंकर भगवत्पाद का विरचित है । इस स्तोत्र में भगवती की स्तुति की गई है । कविता और साहित्य की दृष्टि से भी इसका स्थान ऊंचा है । परन्तु विवर्तवाद के प्रवर्तक की लेखनी से निकला हुवा यह स्तोत्र तांत्रिक उपासना के रहस्यों पर प्रकाश डालता है और साथ ही प्रक्रियात्मक योग साधन की आवश्यकता सिद्ध करता है, इसलिये साधकों के लिये इसका विशेष महत्व है । सौन्दर्य लहरी की विशेषता इस बात में है कि केनोपनिषद् की बहुशोभमाना उमा हैमवती, अथवा पुराणों की उमा हिमशैल-सुता पार्वती के मानुषी स्त्री रूप को सामने रखते हुए भी उसे सृष्टि की आदि कारण भूता शक्ति, योगियों की षट्चक्राधिष्ठात्री कुण्डलिनी शक्ति, तांत्रिक श्री चक्रस्थ श्री विद्या की अधिदेवता महात्रिपुरसुन्दरी, और सकल ब्रह्माण्ड में स्थूल रूप से स्वयं व्यक्त होने वाली विराट अधिभूता शक्ति का निर्गुण ब्रह्म की

सत् चित् आनन्द से अभिव्यक्त होने वाली चिति अर्थात चिन्मयी शक्ति के साथ समन्वय करके अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया गया है। स्थूल बहिर्दृष्टि रखने वाले उपासकों का उपास्यदेव बहुधा किसी न किसी रूप में व्यक्तित्व की भावना की प्रधानता लिये होता है, परन्तु एक दार्शनिक का दृष्टिकोण, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों पर अपना लक्ष्य रखता है, उपासक के मूर्तिमान एकदेशीय व्यक्तिमापन्न रूप से सन्तुष्ट नहीं होता, वह सदा दोनों का समन्वय करने का यत्न किया करता है। जैसा कि श्री भगवान स्वयं गीता में कहते हैं:—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (गीता ७-२४)

अर्थः—बुद्धिहीन मनुष्य मुझ अव्यक्त को व्यक्तिमापन्न मानते हैं। क्योंकि वे मेरे उत्तम अव्यय परं भाव को नहीं जानते !

सौन्दर्य लहरी को पढने से यह बात स्पष्ट दिखने लगती है।

शिव शक्ति

ब्रह्म अक्षर है, अर्थात उसमें कभी किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता, वह अपरिणामी, अव्यय, अविनाशी है, परन्तु जगत के सृष्टि स्थिति संहार का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण भी है, इसलिये सर्वशक्तिमान है। शक्ति शक्तिमान से भिन्न नहीं कही जा सकती और न वह शक्तिमान से पृथक ही हो सकती है, यद्यपि सब कर्म शक्ति की ही क्रिया से सम्पादित होते हैं। अर्थात शक्ति ही सारे जगत का कारण है, तो भी शक्तिमान की शक्ति शक्तिमान की इच्छा के ही आधीन

कार्य करती है। स्वतंत्र रूप से उसकी कोई सत्ता नहीं होती, या यों कहें कि शक्तिमान की इच्छा ही शक्ति है। परन्तु वह उसका अंग भी नहीं कही जा सकती; अर्थात दोनों में अंग अंगी का सम्बन्ध नहीं है। दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं कहा जा सकता। जो भिन्नता दीख पडती है, वह सर्वथा व्यवहारिक ही है पहिले शक्तिमान में इच्छा अथवा संकल्प के रूप में उसका उदय होता है फिर वह क्रिया और ज्ञान का रूप धारण कर लेती है। इच्छा क्रिया और ज्ञान के रूपों में अभिव्यक्ति होने पर भी शक्ति एक ही है, और शक्तिमान का ही रूप है; परन्तु वह शक्तिमान का परिणाम अथवा विकार भी नहीं है। क्योंकि ब्रह्म अपरिणामी है।

श्वेताश्वतरोपनिषत् का कथन है कि :—

ब्रह्मवादियों की समाज में यह प्रश्न उपस्थित हुवा कि हम कहां से पैदा हुवे, हम किस के आधार पर जीवित और प्रतिष्ठित हैं, और किस के कारण सुख दुःख के चक्कर में पडे हैं। तो उन्होंने ध्यान योग द्वारा देखा कि सब का कारण एक शक्ति ही है, जो जड नहीं बरन देवात्मिका चेतन शक्ति है। "ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्"। यह हम कह चुके हैं कि शक्ति शक्तिमान की ही इच्छा के परतन्त्र है, अथवा वह शक्तिमान की इच्छा की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पाद ४ सूत्र ३ "तदधीनत्वादर्थवत्" के भाष्य में शंकर भगवत्पाद कहते हैं:–

" परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतंत्रा। अर्थवती ही सा नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्धयति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

अर्थः—हम तो जगत की प्रागवस्था परमेश्वर के आधीन मानते हैं, न कि स्वतंत्र। क्योंकि वह अर्थवती अर्थात सार्थक है उसके बिना तो परमेश्वर का सृष्टि करना भी सिद्ध नहीं होता शक्ति रहित परमेश्वर में प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण।

जब कि शक्ति की शक्तिमान से पृथक स्वतंत्र सत्ता नहीं, तो शक्ति की महिमा का स्तवन करना शक्तिमान का ही गुणगान करना है। किसी मनुष्य की वीरता अथवा कला कौशल की बडाई करने से उस मनुष्य की ही वडाई समझी जाती है। इसी प्रकार आदि शक्ति की भी उपासना, पूजन, स्तवन आदि द्वारा परमात्मा की ही उपासना, पूजन अथवा स्तवन करना है।

प्रयोजन

प्रत्येक ग्रंथ में चार अंग हुवा करते हैं—१ प्रयोजन २ विषय ३ उपाय और ४ सम्बन्ध। पाठकों को किसी भी ग्रंथ के स्वाध्ययन करने से पहिले यह जानना आवश्यक है, कि ग्रंथकार का इस ग्रंथ के लिखने में क्या प्रयोजन है, उसका विषय क्या है, अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये ग्रंथकार ने क्या क्या उपाय अथवा साधन बताये हैं, और अन्त में यह भी जानना आवश्यक है कि इन तीनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है।

श्री मच्छङ्कर भगवतपाद का किसी भी ग्रंथ के लिखने में मोक्ष के एक मात्र साधन तत्त्वज्ञान की अपरोक्षानुभूति की उपलब्धि के सिवाय दूसरा अन्य प्रयोजन नहीं हो सकता। विषय चाहे कुछ भी क्यों न हो। सौंदर्य लहरी का विषय भगवती का स्तवन है। स्तुति मनन का एक साधन है, जिससे तत्त्व दर्शन और तत्त्व दर्शन से अपरोक्ष ज्ञान होता है। कोई शंका करे कि योग और उपासना कर्म-कांड के विषय हैं, और कर्म का फल ज्ञान नहीं होता; उनको यह समझना जरूरी है कि योग अथवा उपासना के बहिरंग और अन्तरंग दो स्तर होते है। वहिरंग क्रियाएं कर्म प्रधान हुवा करती हैं, जिनका प्रयोजन मन को परमार्थ की ओर आकर्षित कराना मात्र है। जैसे बालक की पढने में रुचि बढाने के लिये पहिले उसे खिलौनों के विचित्र खेलों द्वारा kindergarten की आधुनिक पद्धति के अनुसार खेल में ही प्रवृत्त किया जाता है। उपासना का बाह्य कर्म-कांड ज्ञान का कारण नहीं। परन्तु उपासना के समय उपासक का चित्त भावना से युक्त होता है। भावना रहित उपासना प्राणहीन समझनी चाहिये। भावना और ध्यान ही उपासना और योग के बाह्य कर्माडम्बर रूपी स्थूल शरीर में प्राण का काम करते हैं।

तज्जपस्तदर्थ भावनम्। (यो. द. १, २८)

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च (यो. द. १, २९)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना (गी. १३·२४)

भगवान का अनन्य, तैलधारा प्रवाहवत, अनवच्छिन्न चिन्तन अथवा योग का "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत" साधन

वेदान्त का निदिध्यासन ही है। जीव ब्रह्मैक्यज्ञान तो वाणी से कथन मात्र का ज्ञान अथवा बुद्धि की समझ का परोक्ष ज्ञान नहीं, वह तो ध्यान की वह भूमिका है जिस पर आरूढ होने पर जीव की अहँ वृत्ति में देहाभिमान की वृत्ति तनु होकर ब्रह्म वृत्ति बढने लगती है, अहंकार को भगवान के चरणों में समर्पण करके मन उपास्य देव से तल्लीनता प्राप्त कर लेता है। ऐसे द्रढ भावना युक्त ध्यान अथवा अनन्य चिंतन का फल ही तत्त्व दर्शन है। उपासना के अन्तरंग स्तरों पर प्रगति होने के साथसाथ बाह्य कर्म-कांड का आडम्बर स्वयं छूटने लगता है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

(गीता ३. १७)

सौन्दर्य लहरी का विषय तो भगवती का स्तवन ही है। परन्तु उसकी शैली ऐसी है कि स्तुति के बहाने प्रथम ४१ श्लोकों में श्री विद्या के रहस्य, हादि कादि विद्या का उद्धरण, षट्-चक्र-वेध का प्रकरण. ग्रंथि त्रय का वर्णन इत्यादि साधनोपायों का दिग्दर्शन कराकर जीव ब्रह्म की एकता पर साधक का लक्ष्य कराया गया है, उक्त साधन-क्रम को तीन स्तरों में बांटा जाता है, जिनकी दीक्षा के लिये किसी समर्थ गुरु की शरण लेनी पडती है, क्योंकि साधन का रहस्य पुस्तकों के पढने से नही मिलता! वह गुरु कृपा का ही विषय है, और गुरु की कृपा ही दीक्षा तत्त्व है।

दीयते शिव सायुज्यं क्षीयते पाश बन्धनम् ।
अतो दीक्षेति कथिता बुधैःसच्छास्त्रवेदिभिः ॥

दीक्षा

दीक्षा ३ प्रकार की होती है, १ आणवी, २ शाक्ति और ३ शांभवी । प्रथम आणवी दीक्षा में मंत्र दीक्षा द्वारा श्रीचक्र के पूजन सहित कादि हादि विद्याओं में प्रवेश कराकर, बहिर्पूजन में जो कर्म प्रधान है, साधक को दीक्षित किया जाता है । अंतिम दोनों दीक्षाएं वेध दीक्षाएं कहलाती हैं, जिनमें गुरु शिष्य पर शक्तिपात करके शिष्य की कुंडलिनी शक्ति को जागृत कर देता है । शक्ति दीक्षा में षट्-चक्र के वेध द्वारा ग्रंथित्रय अर्थात रुद्रग्रंथि, विष्णु ग्रंथि और ब्रह्म ग्रंथि का वेध किया जाता है । इसीलिये इसको वेध दीक्षा भी कहते हैं । अंतिम शांभवी दीक्षा में जो तीव्रतम दीक्षा है, जीव ब्रह्मैकत्व ज्ञान का प्रस्फुटन होता है, इसीलिये इसको महावेध दीक्षा भी कहते हैं ।

शक्तिपात

यह ऊपर कहा जा चुका है कि उपरोक्त दीक्षाएं गुरु के शक्तिपात रूपी अनुग्रह के द्वारा ही संपादित होती हैं । शक्ति-पात दीक्षा में गुरु अधिकारी जिज्ञासु को स्पर्श, अवलोकन, मंत्र देकर वाणी द्वारा अथवा संकल्प मात्र से अनुगृहीत करता है; यदि शिष्य अपने को अनुगृहीत अनुभव न करे, तो दीक्षा का होना न होने के तुल्य समझना चाहिये ।

श्री मच्छङ्कराचार्य ने सौंदर्य लहरी जैसा ग्रंथ लिख कर मानव समाज पर बडी कृपा की है क्योंकि केवल वाचक ज्ञानियों को यह

बताना अत्यावश्यक है कि बिना गुरु के शक्तिपात रूपी अनुग्रह के जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान का होना दुर्लभ ही नहीं असंभव है, कहा है:—

दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्व दर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सदगुरोः करुणां विना ॥

नहीं तो क्या यह आश्चर्य अत्याश्चर्य नहीं है कि ब्रह्म-सूत्रों के भाष्यकार एक ऐसे विषय को इतनी महानता दें, जो वेदांत की परिपाठी से सर्वथा असंगत हो । इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण करने के लिये हम नींचे श्री वासुदेव ब्रह्मेन्द्र सरस्वतीजी के 'ब्रह्माणिका' नामक पुस्तक से संग्रहीत निम्न-श्लोक उध्दृत करते हैं:—

तत्वज्ञानेन मायायाबाधो नान्येन कर्मणा ।
ज्ञानं वेदांतवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्व गोचरम् ॥
तच्चेदेवप्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

अर्थः—तत्वज्ञान से ही माया का बाध होता है । अन्य कर्म से नहीं, जो ज्ञान वेदान्त के महावाक्यों द्वारा ब्रह्म और जीवात्मा के एकत्व की अनुभूति दिलाता है वह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद से और गुरु के साक्षात निरीक्षण अथवा वचन से शक्तिपात द्वारा अधिकारियों में प्रकाशित होता है ।

गीता में भगवान ने भी कहा है:—

" तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति "(गीता ४,३८)

अर्थः—वह (ज्ञान) स्वयं योग सिद्ध को यथा समय अपने अन्तर में ही मिलता है ।

अज्ञान से उत्पन्न होने वाला भ्रम पांच प्रकार का होता है।

पांच प्रकार का भ्रम और तीन प्रकार का मल

जीवेश्वरौ भिन्नरूपौ इति प्रथमः,
आत्मनिष्ठं कर्तृगुणं वास्तवं वा द्वितीयकः,
शरीरत्रय- संयुक्तजीवः संगी तृतीयकः,
जगत्कारण- रूपस्याविकारित्वँ चतुर्थकः,
कारणाद्भिन्नजगतः सत्यत्वं पंचमो भ्रमः

(अन्नपूर्णोपनिषत्)

जीव ब्रह्म का भेद पहला भ्रम है। आत्मा में कर्ता भोक्तापन वास्तविक है या नहीं, यह दूसरा भ्रम है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों के संयोग से इतरेत्तर अध्यास के कारण आत्मा संगी हो गया है, यह तीसरा भ्रम है। प्रथम मायामल, दूसरा कर्तामल और तीसरा आणव मल कहलाता है। चौथा और पांचवा भ्रम दोनों जगत और उसके अभिन्न निमित्तोपादान कारण-ब्रह्म सम्बन्धी हैं। पहिला भ्रम जगत के कारणस्वरुप अपरिणामी ब्रह्म तत्व में विकारीपन की प्रतीति कराता है, और दूसरा, कारण और कार्य में भेद बुद्धि उत्पन्न कराता है। मायामल, कर्तामल और आणव मल की निवृत्ति कुण्डलिनी शक्ति के जागरणोपरांत षट् चक्र वेध द्वारा तत्व शुद्धि होने पर होती है। तत्व ३६ हैं जिनका वर्णन आगे आयगा। उनमें पांच शुद्ध तत्व; सात शुद्धाशुद्ध तत्व और चौबीस अशुद्ध तत्व होते हैं। प्रथम पांच शुद्ध तत्वों को छोडकर शुद्धि शेष इकत्तीस तत्वों की होती है,

अनात्म तत्वों में आत्म भावना के न रहने पर उन तत्वों की शुद्धि कहलाती है।

चौथे भ्रम की निवृत्ति जगत को सत् शक्ति का परिणाम जान कर ब्रह्म के विकार रहित सिद्ध होने पर होती है; और पांचवे भ्रम की निवृत्ति शक्ति में ब्रह्म दृष्टि होने पर होती है।

तत्व शुद्धि

अनात्म तत्वों में से आत्माध्यास की निवृत्ति होना अर्थात पंचकोशों के विभिन्न स्तरों पर से आत्म-भावना रूपी तादात्म्यता को नष्ट करना ही तत्व शुद्धि कहलाता है। जैसा कि 'तैत्तिरीयोपनिषत्' के आठवे अनुवाक में कहा है कि इस लोक से प्रयाण करते समय अपने आत्म स्वरूप को जैसा बताया गया है, वैसा जानने वाला मनुष्य इस आत्मा को अन्नमय कोष से निकालता है, इस आत्मा को प्राणमय कोष में से निकालता है, इस आत्मा को मनोमय कोष से निकालता है, इस आत्मा को विज्ञानमय कोष से निकालता है, इस आत्मा को आनन्दमय कोष से निकालता है। आनन्द ब्रह्म को जानने वाला, जहां से मन सहित वाणी बिना उसे प्राप्त किये लौट आती है, किसी से भी भय नहीं खाता। अर्थात वह निर्भय ब्रह्म पद को प्राप्त हो जाता है।

अन्नमय कोष पांच महाभूतों से बना है, इसलिये उससे निकालने के लिये क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के ५ स्तरों से आत्मा को हटाना पडेगा। उक्त तत्व भी अपने अपने स्तर पर अन्य तत्वों के सम्मिश्रण के परिणाम हैं; पृथ्वी में ५६, जल में ५२, अग्नि में ६२, वायु में ५४, और आकाश में ७२ किरणें होती हैं, जिनका सम्बन्ध तत्वों और

मातृकाओं से है। और फिर उनके उतने ही अधिदेवता होते हैं। आत्मा का सब से सम्बन्ध है। उसको सब से पृथक करना होता है (देखें श्लोक १४); इसी प्रकार प्राणमय कोष के भी पांच स्तर हैं, उनके नाम प्राण, अपान, समान, व्यान, और उदान हैं, जिनके द्वारा अन्नमय कोष के अभ्यन्तर व्यापारों की सब क्रियाएं होती हैं। ये क्रियाएं पांचों महाभूतों से सम्बन्धित होने के कारण पांच प्रकार की हैं। अभ्यन्तर क्रियाएं श्वास प्रश्वास, पाचन, रस का सातों धातुओं में वितरण और उनका निर्माण, निकम्मे पदार्थों का मल-मूत्र स्वेद आदि से रेचन और शरीर को धारण करने इत्यादि की क्रियाएं हैं। मनोमय कोष में भी पांचों भूतों से सम्बन्धित ५ व्यापार हैं और उनकी ६४ किरणें हैं। (देखें श्लोक १४) वे हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ और वाक् शक्ति की कर्मेंद्रियों की क्रियाएं हैं। विज्ञानमय कोष के भी ५ स्तर हैं वे भी पांचों महाभूतों से सम्बन्धित ५ ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार हैं। चारों कोषों का अन्वय व्यतिरेक द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध हैं। आनन्दमय कोष के तीन गुणों के अनुरूप सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन स्तर हैं; जिनका भेद जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति में देखने में आता है।

उपरोक्त पांचों कोषों और उनके व्यापारों से तादात्म्य करके आत्मा जन्म मृत्यु जरा व्याधि शोक मोह के जाल में पडी है। इस तादात्म्य का कारण माया अथवा अविद्या का तम है। अविद्या का यह ही रूप है कि अनात्म तत्वों में आत्मभाव, उनकी अनित्यता में नित्यत्व का भाव, उनके अपवित्र संघातों में पवित्रता का भाव और उन पर पडने वाली आत्मा के ही आनन्द की छाया की

तारतम्यता से अनुभव में आने वाले दुखों मे सुख का भाव अर्थात सर्वथा विपरीतता का आभास उत्पन्न हो जाता है। इस लिये इसे तम कहते हैं। अष्टधा प्रकृति में आत्मभाव होने के कारण यह तम भी आठ प्रकार का है। अणिमादि आठ सिद्धियों के लिये उनका आश्रय लेकर अभिमान करना, अथवा उनमें फंसकर उनका अहंकार करना आठ प्रकार का मोह है। उक्त आठों सिद्धियों और शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक दिव्य और सामान्य १० विषयों की आसक्ति १८ प्रकार का महामोह कहलाता है। फिर उनके प्रतिबन्धकों से द्वेष करना १८ प्रकार का तामिस्र है, और उनके भोगने के साधन रूप देह के सदा बने रहने की वृथा इच्छा करना १८ प्रकार का अन्ध तामिस्र कहलाता है। यह सब अविद्या की फसल है, इससे निवृत्ति पाने पर तत्वों की शुद्धि कही जाती है।

विरजा हवन के मंत्रों द्वारा बहिर्यज्ञ करके तत्व शुद्धि की जो भावना की जाती है, अन्तर्याग द्वारा ही उसकी उपलब्धि होना शक्य है, जो योग और उपासना का अंग होने के कारण, अन्तःसाधन से सम्पादित होती है।

विरजा हवन के मंत्र नीचे दिये जाते हैं:—

१ प्राणा पान व्यानोदान समाना मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा।

२ वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्र जिव्हा
घ्राणं रेतो बुद्ध्या स्फूर्ति संकल्पा ,, ,,

३ त्वक् चर्म मांस रुधीर
मेदो मज्जास्नायवोऽस्थिनि ,, ,,

मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा
भूयासं स्वाहा ।

४	शिरः पाणिपाद पार्श्वपृष्ठोरुदर जङ्घ शिश्नोपस्थ पायवो	,,	,,
५	उत्तिष्ट पुरुष हरित पिङ्ग— लोहिताक्ष देहि२ ददापयिता	,,	,,
६	पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशाः	,,	,,
७	शब्द स्पर्श रूप रस गन्धा	,,	,,
८	मनोवाक् काय कर्माणि	,,	,,
९	अव्यक्त भावैरहंकारै ज्योतिरहं इत्यादि		,,
१०	आत्मा	,,	,,
११	अन्तरात्मा	,,	,,
१२	परमात्मा	,,	,,
१३	अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमयमानन्दमयमात्मा	,,	,,

प्राणायाम द्वारा भी भूत शुद्धि की जाती है। परन्तु वह भी भावनाप्रधान ही है। उसकी विधि इस प्रकार है:—

१. पिंगला से पूरक करे और हँ बीज के जप सहित यह भावना करे कि मूलाधार से जीवात्मा को सुषुम्ना पथ द्वारा ब्रह्मरंध्र में ले जाकर उसका परम शिव से योग कर रहा हूं, फिर कुम्भक करके ईडा से रेचक कर दे।

२. ईडा से पूरक करके यं बीज के जप सहित यह भावना करे कि शरीर सूख गया है और पिंगला से रेचक कर दे।

३. पिंगला से पूरक करके रं बीज के जप सहित यह भावना करे कि शरीर भस्म होगया है, कुम्भक करके ईडा से रेचक करे।

४. ईडा से पूरक करके वं बीज सहित यह भावना करे कि सहस्रार से अमृत स्राव हो रहा है, फिर कुम्भक करके पिंगला से रेचक कर दे, वं बीज के जप सहित यह प्राणायाम करना चाहिये।

५. पिंगला से पूरक करे और लं बीज के जप सहित यह भावना करे कि दिव्य देह उत्पन्न होगया है। लं बीज के सहित कुम्भक करके इडा से रेचक कर दे।

६. इडा से पूरक करे और यह भावना करे कि शिव से एकीभूत जीव पुनः मूलाधार में उतर आया है। 'हंसः सोहं' के जप सहित यह प्राणायाम करना चाहिये।

ज्ञान के पूर्व योग और उपासना की आवश्यक्ता

आधुनिक वेदान्त वादियों में प्रायः देखने में आता है कि वे योग और उपासना की अवहेलना करते है, और केवल महावाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन मात्र अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति के लिये पर्याप्त समझते हैं। उनके मतानुसार योग उपासना में समय नष्ट करना बृथा है; क्योंकि वे ज्ञान के साधन नहीं होते। ज्ञान महावाक्यज ज्ञान ही है और उसकी उपलब्धि महावाक्यों के विचार द्वारा हो सकती है। परन्तु शास्त्रों के अवलोकन से उनकी यह धारणा भ्रमात्मक सिद्ध होती है। यह बात तो सत्य है कि महावाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ही ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का उदय होगा; परन्तु श्रवण. मनन और निदिध्यासन के

वे ही लोग अधिकारी हैं, जिनके कषाय परिपक्व हो चुके हैं। यह बात वे भूल जाते हैं कि कषाय परिपक्व होने के लिये योग और उपासना ही अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। "अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा" ब्रह्मसूत्र के इस प्रथम सूत्र के भाष्य में 'अथ' शब्द पर भाष्यकार श्री मच्छंकर भगवत्पाद लिखते हैं कि ब्रह्म जिज्ञासा के उपदेश के पहिले कुछ भी साधन तो आवश्यक होना चाहिये, जो 'अथ' शब्द से निर्दिष्ट है वह क्या है? वह है नित्यानित्य विवेक, इह और परलोक के भोगों से वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान की षट सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा। इस साधन चतुष्टय के पश्चात श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अधिकार प्राप्त होता है। 'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध' योग दर्शन के इस सूत्र में भी विवेक और वैराग्य दोनों का सर्व प्रथम स्थान है। इस सूत्र पर व्यास भाष्य पढने योग्य है वहां नित्यानित्य विवेक को ही अभ्यास बताया गया है। शम, अर्थात मनोनिरोध के लिये अभ्यास और वैराग्य दोनों प्रथम साधन है। भगवान ने भी गीता में ऐसा ही उपदेश किया है:—

"**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**" (गीता ६.३५)

अभ्यास और वैराग्य के साथ साथ ईश्वर प्रणिधान भी आवश्यक है। 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' सूत्र में ईश्वर प्रणिधान को मनोनिरोध का दूसरा मुख्य साधन कहा है। इस लिये योग के साथ उपासना की भी आवश्यकता होती है। योग दर्शन में ईश्वर प्रणिधान का उपदेश तीन स्थानों पर किया गया है और उनका फल भी भिन्न बताया गया है। प्रथम ईश्वर प्रणिधानाद्वा, इस सूत्र में अभ्यास वैराग्य के

थ ईश्वर प्रणिधान का फल, मनोनिरोध रूपी शम है। दूसरे
ान पर "तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योग" (२-१)
तप और स्वाध्याय के साथ ईश्वर प्रणिधान का फल समाधि के
ये भूमिका तैयार करता है, और अविद्या आदि क्लेशों को तनु
रता है। तीसरी जगह "शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणि-
ानानि नियमः" में ईश्वर प्रणिधान के पूर्व तप और स्वाध्याय के
ाथ शौच और सन्तोष और बढा दिये गये हैं, जिनसे युक्त ईश्वर
णिधान का फल समाधि की सिद्धि है। "समाधि सिद्धिरीश्वर
णिधानात्"। दम इंद्रिय निग्रह को कहते हैं। उपरति का अर्थ
ाषयों से हट कर वृत्ति का अन्तर्मुखी होना है, जिसको प्रत्याहार
हते हैं। ये अष्टांग योग का पांचवा अंग है। उपरति के साथ
ख दुःख के सम रहने का साधन तितिक्षा कहलाता है। गुरु और
ास्त्रों में श्रद्धा सहित मन की स्वाभाविक एकाग्र अवस्था का उदय
ोना समाधान कहलाता है। इनके पश्चात मोक्ष की इच्छा होती
। तब ब्रह्म जिज्ञासा की क्षुधा लगने पर साधक महावाक्यों के
वण का अधिकारी बनता है। "शान्तौ दान्त उपरस्तितिक्षुः
माहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मन पश्यति" (बृह ४, ४, २३) इस
ुति के आधार पर ब्रह्म-जिज्ञासा के लिये उपरोक्त षट्सम्पत्ति
ी आवश्यकता बताई गई है। जिसका फल आत्म दर्शन है, और
ात्म दर्शन के पश्चात ब्रह्म जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यह बात
ीचे दी हुई श्रुति से स्पष्ट हो जाती हैः—

"आतमा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे द्रष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं
विदितम्" (बृह ४ ५ ६)

इस श्रुति में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के पूर्व दर्शन वाचक भी शब्द हैं, अर्थात श्रवण मनन और निदिध्यासन के पूर्व आत्मदर्शन होना जरूरी है जो षट सम्पत्ति के साधन से हो सकेगा। आत्मदर्शन होने के पश्चात मार्ग सरल हो जाता है। यह दर्शन प्रज्ञान आत्मा का दर्शन है। जब गुरू उपदेश करता है–" अयं आत्मा ब्रह्म तत्वमसि "। अर्थात प्रज्ञात्म दर्शन के पश्चात महावाक्यों के उपदेश से साधक जानता है कि यही आत्मा जिसका उसने दर्शन किया है ब्रह्म है। इस बात का युक्ति और न्याय के आधार पर निश्चय करता है, जिसको मनन कहते हैं। और फिर एकाग्र चित्त से उसी पर सदा अपना लक्ष रखता हुवा ' अहं ब्रह्मास्मि ' का साधन करता है, यही निदिध्यासन है। ' द्रष्टव्यः ' शब्द का लक्ष्य आत्मा है जो महावाक्यों के उपदेश के पूर्व द्रष्टा को अपने स्वरूप का लक्ष कराता है और पश्चात ब्रह्म का लक्ष करा कर ब्रह्मात्मैक ज्ञान का साधन बन जाता है।

हम इस बात को उपर समझा आये हैं कि योग का साधन भी ईश्वर प्रणिधान रूपी साधना के बिना समाधि की उपलब्धि के लिये पूर्ण नहीं है। उपासना और योग दोनों साथ साथ रहते हैं। एक दूसरे के बिना अपूर्णता का अनुभव करता है। श्रीमच्छंकर भगवतपाद ने तो सौंदर्य लहरी में कुण्डलिनी योग को प्रधानता देकर, उपासना और योग की एकता ही सिद्ध कर दी है, जो योग की एक तांत्रिक योग पद्धति है। उसका फल है शिव सायुज्य पदवी। देखें श्लोक २२।

ज्ञानयोग और भावना

शून्य एक निषेधात्मक शब्द है, और पूर्ण में सर्वात्मिता का भाव है। यदि बिन्दु को अभाव वाचक समझें तो अभाव पर अभाव कितना भी बढाया

जाय, वह सदा अभाव ही रहेगा । अभाव अथवा सर्वथा विशेषण युक्त अभाव में केवल विकल्प मात्र की प्रतिध्वनि दिखती है। अनन्त बिन्दुओं को एकत्रित करने पर भी क्या कभी कोई संख्याबन सकती है? फिर किसी संक्या पर उस अभावात्मक बिन्दु को रख देने से उस संख्या का मूल्य क्यों बढना चाहिये? एक पर एक बिन्दु रखने से उसका मूल्य दस गुणा हो जाता है, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? इसलिये वह बिन्दु शून्य नहीं वरन पूर्ण हैं। एक पर एक बिन्दु रखने से उसमें दस की पूर्णता समझी जाती है, और दो बिन्दु लगाने से वह दुबारा दस की पूर्णता प्रदान करती है, अर्थात प्रत्येक बिन्दु की वृद्धि से पूणेता की वृद्धि होती जाती है, परन्तु शून्य तो सदा शून्य ही है। इसलिये यह कहना अधिक सत्य प्रतीत होता है कि, जिसे शून्य कहते हैं, उस बिन्दु का मूल्य, अभाव नहीं, वरन पूर्ण है। यदि पूर्ण पर पूणे जोड कर उसका मूल्य बढ जाय तो प्रथम पूर्ण की अपूर्णता सिद्ध होती है। क्योंकि अनेक पूर्ण नहीं हो सकते, पूर्ण एक ही होना सम्भव है, इसलिये अनेक बिन्दुओं को एकत्रित करने से उनका संग्रह पूर्णता से अतिरिक्त किसी संख्या का निर्माण नहीं कर सकता और प्रत्येक संख्या अपूर्ण वाच्य ही है, क्योंकि पूर्ण की कोई संख्या अथवा गणणा नहीं की जा सकती, इसलिये बिन्दु शून्य नहीं वरन पूर्ण है। और संख्यायें सब अपूर्ण हैं। गणित विज्ञान का यह सिद्धांत अखिल विश्व पर लागू है। जहां तक नाम रुपों के भेदों की गिनती की जा सकती, वह पूर्ण नही कहला सकता और पूर्ण की पूर्णता को हमारी बुद्धि नहीं समझ सकती, क्योंकि उस

बुद्धि का ज्ञान स्वयं अपूर्ण है। इसलिये हम उसे शून्य कहते हैं। अभाव का अर्थ भी साधारण भाषामें किसी नामरूपके अभाव का ही द्योतक है। जैसे हमारे पास घडा नहीं है, इसका अर्थ इतना मात्र है कि हमारे पास घडे की आकृति धारण किये हुवे मृतिका का एक रूप नही है। जब विश्व के सब नाम रूपों के अभाव की कल्पना की जाती है, तो उसे हम शून्य कहते हैं। परन्तु वास्तव में क्या वह अभावात्मक शून्य है? नहीं वरन आदि कारण की पूर्णता का भाव उसमें निहित है। जैसे सिनेमा के पर्दे की तसवीरें लुप्त होने पर पूर्ण पर्दा दृष्टिगोचर होने लगता है। इसी तरह विश्व के नाम रूपों के अभाव में उसके एकमात्र आधार का, जो पूर्ण है, अनुभव होता है; दर्शन उसको विकार रहित पूर्ण–ब्रह्म कहते हैं। उसकी पूर्णता के कारण ही, विश्व का प्रत्येक नाम रूपात्मक अंग, अपने स्थान पर सत्य और पूर्ण प्रतीत होता है। अभाव का ही दूसरा नाम असत्य भी है, जो बात अथवा घटना जैसी हो वैसी ही न कही या समझी जाय वह असत्य कहलाती है। प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान सत्य कहलाता है, परन्तु उसकी संख्या, गणना अथवा सीमा बद्ध होनेसे वह ज्ञान अल्प हो जाता है, और निरपेक्ष अनन्त-ज्ञान यद्यपि सत्य है, तो भी बुद्धि की समझ के बाहर का विषय होने से समझ में नहीं आता है। यह रूप है उस पूर्ण परमात्मा का, जिसको वेद 'सत्य ज्ञानं अनंतं ब्रह्म' कह कर व्याख्या करते हैं। अर्थात उस बृहत् अनंत सत्य ज्ञान को ईश्वर कहते हैं। वह ही पूर्ण बिन्दु है। इसलिये एक मत के दार्शनिक विद्वान उसे परबिन्दु भी कहते हैं। परन्तु वह ऐसा गोलाकार बिन्दु है जिसका केन्द्र सर्वत्र है परन्तु सीमांत कहीं भी नहीं। उसका अनुभव साधारण-जन सुषुप्ति में

करते हैं और योगिजन समाधि में; परन्तु उसके सौंदर्य की द्युति सर्वत्र है और उसको सौंदर्य की लहरी में आनन्द की लहर का योगी उपासक अपने अन्तर में अनुभव करते हैं। क्योंकि सौंदर्य का भाव, अधिभौतिक प्रायः दृष्टिगोचर होता है। परन्तु उसकी अध्यात्म प्रतिक्रिया आनन्द में व्यक्त हुआ करती है। हम तीन स्तरों पर एक ही तत्व की अनुभूति इस प्रकार करते हैं। प्रथम स्तर पर वह परमतत्व अद्वैत अक्षर परम ब्रह्म कहलाता है। जगत में उसकी अधिभूता अभिव्यक्ति के सौंदर्य की मोहात्मिका शक्ति का विकास है और अध्यात्म पर आनन्द लहरी का। हम कह चुके हैं कि नामरुपात्म जगत, आदि सत् शक्ति की परिणति है और उसके सौंदर्य में उसी आधिदेवी की सौंदर्य लहरी झलक रही है। इस दृष्टि से प्रथम ४१ श्लोंको का पूर्वार्ध जो अध्यात्म विद्या परक है–आनन्द लहरी नाम से संज्ञित किया गया है। आठवें श्लोक में चिदानन्द–लहरी और २१वें श्लोकोक्त परमानंद लहरी पद इस बात के स्पष्ट संकेत हैं; और अंतिम उत्तरार्ध विराट विश्व में आदि कारणभूता शक्ति जगज्जननी के मुख की सुन्दर झांकी दिखाता है। जैसा कि ४४वें श्लोकोक्त 'तव वदन सौंदर्यलहरी' पद से स्पष्ट है, आधि–भौतिक रूप, आधिदैव की ओर लक्ष्य कराता है। और ३५वे श्लोक में पिण्ड और ब्रह्मांड की एक समानता दिखाने के अभिप्राय से कहा गया है कि दोनों एक चिदानन्द के ही परिणाम मात्र है। क्योंकि यह देह आधिभौतिक तत्वों का ऐसा संघात है, जिसमें परम और अध्यात्म दोनों ही भावों की उपलब्धि होती है। जिनका प्रत्यक्षीकरण आध्यात्म विद्या का विषय है। परम तत्व का ज्ञेयत्व दो भावों से ग्राह्य होता है और उसकी अनुभूति अध्यात्म स्तर पर

ही की जाती है। उक्त दोनों भावों को हम इन दो नामों के सम्बन्ध से स्पष्ट समझ सकते हैं। प्रथम 'सच्चिदेकं ब्रह्म' और दूसरा 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म' प्रथम पद में सद्ब्रह्म के एक प्रज्ञानघन भाव की प्रकर्शता का प्रत्याभास प्रस्फुटित होता है और दूसरे पद में चिदानंदघन भाव की प्रधानता का। इस प्रकार अध्यात्म विद्या के दो फांटे हो जाते है, प्रथम को ज्ञान मार्ग और दूसरे को भक्ति मार्ग कहते हैं; जिनका वर्णन भगवान ने गीता के १२वें अध्याय के २–४ श्लोकों में भी किया है, और प्रथम ज्ञान मार्ग को क्लिष्टतर बताकर दूसरे मार्ग की प्रशंसा की है कि:—

"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्युक्ता उपासते" (गीता १२–२)
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम ॥ (गी. १२-७)

यहां मय्यावेश्य मनः अथवा मय्यावेशित चेतस् से आनन्द के आवेश का ही अभिप्राय है। क्यों कि ज्ञान का आवेश नहीं हो सकता। आवेश सदा आनन्द का ही हुवा करता है। ज्ञान मार्ग 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयंमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'तत्वमसि' महावाक्य के श्रवण, मनन, निदिध्यासन का मार्ग है। और दूसरा योग का मार्ग है, उस योग का जिसमे प्रत्यगात्मा के आनन्दावेश से अहंवृत्ति का तादात्म्य किया जाता है। इन दोनों मार्गों को ज्ञान योग और भाव योग भी कहते हैं। प्रथम में शिव तत्त्व की और दूसरे में शक्ति तत्त्व की प्रधानता समझनी चाहिये। वैष्णव सम्प्रदायों में भी राधा तत्त्व, शक्ति तत्त्व, आनन्दावेश प्रदान है और सब

प्राणियों का केन्द्रीभूत आकर्षण पद कृष्ण तत्व ज्ञान प्रधान तत्व का वाचक है; परन्तु वैष्णव सम्प्रदायों की द्वैत भावना उपासक को परम तत्व का आभोग मात्र प्रदान कर सकती है। और उस आभोग से तादात्म्यभाव न कराकर अपूर्ण रह जाती है। तथापि उस आनन्दावेश की अन्तिम पहुंच तादात्म्यभाव प्राप्त होने पर ही मिल्ती है, जैसी चैतन्य महाप्रभु के भावावेश में प्रायः प्रादुर्भूत हुवा करती थी। ज्ञानयोग को भावयोग की अपेक्षा से अभाव योग भी कहा जाता है। कहा है:—

"योगोहि प्रभवाप्ययौ" (कठ)

अर्थात योग दो प्रकार का है प्रभव योग और अप्यय योग। प्रभव योग का मार्ग आनन्दावेश का प्रभव पूर्वक मार्ग है, और अप्यय योग में मनोमय कार्य जगत का परम तत्व में लयक्रम किया जाता है।

शक्ति उपासनायें सब आनन्द भाव की ही योग पद्धतियां हैं। यद्यपि उनमें वहिर कर्मकांड का अधिक समावेश होने के कारण उनके अभ्यन्तर्योग मार्ग से सर्व साधारण की जानकारी नहीं होती, और वे लोग वास्तविकता से दूर रह कर सकाम अनुष्ठान में ही आमरण लगे रहते हैं। श्रीविद्या की अधिष्ठातृ देवी महा त्रिपुर सुन्दरी का स्वरूप चितिशक्ति कहा जाता है, परन्तु चिति-शक्ति को चिन्मयी मात्र मानने से उसकी उपासना ज्ञान परक ही नहीं समझनी चाहिये, वास्तव में वह भी आनन्दावेश युक्त भाव योग का ही मार्ग है, इसलिये श्री भगवत्पाद ने चिदानन्द लहरी और परमानन्द लहरी पदों का प्रयोग किया है।

सनातन धर्म में सगुणोपासना के पांच मुख्य सम्प्रदाय है,

सगुण पचोपासना

वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर, जिनमें एक ही ब्रह्म की क्रमशः विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य पांच रूपों में उपासना की जाती है। शंकराचार्य के पूर्व पांचों सम्प्रदायों के अनुयायी आपस में द्वेष बुद्धि रखते थे और आपस में लडा करते थे, परन्तु श्री मच्छंकराचार्य ने सब में एक ही ब्रह्म की उपासना सिद्ध कर के उनका पारस्परिक द्वेष दूर किया और सब को एक ब्रह्मवाद के सूत्र में बांधकर सनातन धर्म का एक संगठन बनाया, तब से सब ही उपासनाओं का लक्ष ब्रह्म प्राप्ति माना जाने लगा है। विष्णु का अर्थ सर्वव्यापी है, इसलिये ब्रह्मांड का स्वामी, जो सगुण रूप से सब का पालन कर्ता है, बहिर्द्रष्टि से उपासना करने वालों का इष्ट है। शिव प्रायः निर्गुण ब्रह्म का वाचक समझा जाता है। शिव पद की प्राप्ति निर्विकल्प समाधि द्वारा ही होती है, इसलिये शिव का चित्र सदा समाधिस्त अवस्था में ही दिखाया जाता है। शक्ति परब्रह्म की शक्ति है, जो सारे विश्व में व्यक्त होकर अनेक रूप धारण कर रही है। गणपति शिवशक्ति के योग से समाधि में उदय होने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा का ज्ञान भण्डार है, जिसमें ऋद्धि सिद्धि प्रकट होती हैं। उसका हाथी का सिर यह प्रकट करता है कि साधक का पशुत्व अभी नष्ट नहीं हुवा है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान की बाधक सिद्धियां विघ्न बनकर उसे गिरा सकती हैं, परन्तु ज्ञान तो स्वयं ब्रह्म ही है, 'सत्यं ज्ञानं अनंतं ब्रह्म' इसलिये गणेश रूप से ज्ञान रूपी ब्रह्म की उपासना करने वालों को विघ्नों का भय नहीं रहता। सूर्य सारे विश्व का प्राण माना जाता है.

सहस्र रश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः
(प्रश्न १–८

इसलिये प्राणोपासना करने वालों के लिये सूर्य भी ब्रह्म ।
प्रत्यक्ष सगुण रूप है ।

उपासना का योग से सम्बन्धः-

हम कह आये हैं कि उपासना का योगसे बडा सम्बन्ध यदि कहा जाय कि उपासना योग का ही अं है तो अनुचित नहीं, उक्त पांचो उपासनायें यो से किस प्रकार गुंथी हुई हैं यह भी हम नं संक्षेप में बताने का यत्न करते हैं । योग साधन का कुण्डलिनी श के जागरण से श्रीगणेश होता है । मेरूदण्ड में जो नाडी सारे श के नाडीजाल का मस्तिष्क से सम्बन्ध करती है, वह ही सुषुम् ब्रह्मनाडी विरजा या सूर्य द्वार कहलाती है, जिसके द्वारा भ्रूमध्य आज्ञाचक्र अथवा मूर्धा में प्राण ले जाये जा सकते है । जो यो प्रयाण समय इस प्रकार प्राण भ्रूमध्य अथवा मूर्धा में ले जाकर प्र त्याग करते हैं, वे ब्रह्म में लीन हो जाते हैं (देखें गीता अध्याय श्लोक १०, ११, १२, १३,) । उक्त नाडी में ६ चक्र हैं । गुदा पीछे मूलाधार, उपस्थ के पीछे स्वाधिष्ठान, नाभि के पीछे मणि हृदय में अनाहत, कण्ठ में विशुद्ध और भ्रूमध्य में आज्ञा, ये छ चक्र क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मनस्तत्व स्थान हैं । पृथ्वी का पीत, जल का श्वेत, अग्नि का रक्त, वायु धूमाकार, आकाश का नील और मन का चन्द्र सदृश वर्ण है है । विष्णु की सर्व व्यापकता इन छः स्तरों में दिखाने के लि नीचे पीताम्बर, स्वाधिष्ठान के निकट चांदी की मेखला, नाभि

माला में गुंथा हुवा रक्त पुष्प, वक्षःस्थल को धूम्राकार वर्णवाला, कण्ठ को नोले रंग का और मस्तक को चन्द्रवत चमकनेवाला दिखाया जाता है। इस लिये ब्रह्माण्ड और पिण्ड में व्यापकता दिखाने के लिये भगवान का चित्र इस प्रकार का खेंचा जाता है। शंख शब्दब्रह्म का द्योतक है। सुदर्शन चक्र काल के नियन्ता सहस्ररश्मि आदित्य का; गदा भगवान के ईशन् शासन का चिह्न है, और कमल सौभाग्यदान का गरुड इस बात को प्रकट करता है कि भगवान के नामस्मरण से पृथ्वी से ब्रह्मलोक तक गति हो सकती है—अथवा षट् चक्र वेध द्वारा सब तत्वों का वेध करके सहस्रार में पहुंचा जा सकता है। प्राण ही महाखग है, जो सुषुम्ना में प्रणव भगवान को लेकर सहस्रार में उडता है। कहा है:—

प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीति एतस्मात् प्रणवः।
(अथर्व शिखोपनिषत्)

शिव शक्ति उपासना

शिव का रूप परब्रह्म है जो सब तत्वों का प्रकृति सहित लय स्थान है। इसीलिये उनको सदा समाधिस्थ दिखाया जाता है, और उनका स्थान सहस्रार है। शक्ति ज्ञानाग्नि का रूप है जो सब शुभाशुभ कर्मों को भस्म करके सब तत्वों को अपने अपने कारण में लीन करती हुई सर्व कारणभूत परब्रह्म में लीन करा देती है। शक्ति ब्रह्म के आदि संकल्प की स्फुरणा का प्रथम स्पन्द है। वही चिति शक्ति है, वही प्राण शक्ति है, वही इच्छा क्रिया और ज्ञान शक्ति है और विश्व को धारण करने वाली अनन्त शेष शक्ति और पिण्ड में मूलाधार में

सोने वाली कुण्डलिनी शक्ति है। जागने पर पशुराज सिंह पर बैठकर अर्थात रजोगुण को दबाकर मनुष्य की सब पाशविक वृत्तियों का संहार करती हुई शिव सायुज्य पदवी देती है। इसीलिये देवी पर पशु बली चढ़ाने की प्रथा पड गई है। मनुष्य अपने अभ्यन्तर पाशविक भावों की बलि न देकर बाह्य बलि देते हैं, और हिंसा करके जगत् जननी को सन्तुष्ट करना चाहते हैं।

या देवी सर्व भूतेषु चेतनेत्यभिधीयते, नमस्तस्यै ३ नमोनमः।
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्यस्थिता जगत् ,, ,, ,,

दुर्गा सप्तशति के ऊपर दिये हुवे श्लोकों का भाव अथर्ववेद के निम्न मंत्र में भी मिलता है, जिसका यह अर्थ है कि सब प्राणियों की चेतना भगवती का स्वरूप है। इसलिये हिंसा करना भगवती के स्वरूप की हिंसा करना है। अथर्ववेद का मंत्र यह है—

"ते देवा उपाशिक्षन् सा अजानात् वधू सती।
ईशा वशस्य या जाया सा वर्णमाभरत ॥

अर्थ:—उन देवताओं ने जानना चाहा (कि इस शरीर में किसका वर्ण अर्थात प्रकाश है) तब वह सती वधू (उनकी इच्छा को) जान गई और उसने बताया कि ईश्वर की जो ईश्वरी जाया (पत्नि) है, वह इस वर्ण का आभरण करती है।

परम ब्रह्म की आदि संकल्प शक्ति जो प्रत्येक सर्ग में सृष्टि और स्थिति का कारण होती है और प्रलय के समय संहार रूपिणी

बनकर समस्त त्रिलोक को भस्म करके शंकर की अंगविभूति बनाती है. वह ही महामाया ज्ञानियों को भी मोह में डाल रही है इतर जनों की तो गणना ही क्या है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥ (दु स.)

वह अपने भक्तों को कल्प तरु के सदृश मनोवांछित भोग भो देती है, और मुमुक्षुओं को शिव का साक्षात् कराकर शिव सायुज्य पदवी प्रदान करती है। केनोपनिषत् में ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार समझाया गया है:— श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, जो वाकशक्ति की भी वाक्, और प्राण का भी प्राण, चक्षु का भी चक्षु है, उसे जानकर बुद्धिमान मनुष्य जीवन मुक्त होकर इहलोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं। जो वाणी से नही कहा जा सकता, जिसके कारण वाणी बोलती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिसकी तू (वाणी द्वारा) उपासना करता है वह ब्रह्म नही है। जिसको (मनुष्य) आंख से नही देख सकता, आंख जिसके कारण देखती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिसकी तू उपासना (दृष्टि द्वारा) करता है, वह ब्रह्म नहीं है। जिसको (मनुष्य) श्रोत्र से नहीं सुन सकता श्रोत्र जिसके कारण सुनते हैं, उसीको तू ब्रह्म जान, जिसकी तू उपासना करता है वह ब्रह्म नही है जिसको प्राण से जीवित नही रखा जाता। प्राण जिसके कारण मनुष्य को जीवित रखते हैं। उसीको ब्रह्म जान। जिसकी तू उपासना करता है वह ब्रह्म नही है।

इसलिये जिस ब्रह्म को इन्द्रियां, मन, प्राण भी नहीं जान सकते उसको कैसे जाना जाय, यह बताने के लिये उपनिषत् में एक आख्यायिका द्वारा समझाया गया है कि देवासुर संग्राम में देवताओं की विजय हुई तो देवताओं को अभिमान हुवा कि हमने असुरों को हराया है। उनका अभिमान तोडने के लिये ब्रह्म ने एक यक्ष के रूप में दर्शन दिये। देवताओं ने अग्नि से कहा कि तू जान कि यह यक्ष कौन है। अग्नि से यक्ष ने पूछा कि तू कौन है और क्या कर सकता है, अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं जातवेदा अग्नि हूँ, सारे संसार को जला सकता हूँ। तब यक्ष ने एक तृण उसके सामने रखकर कहा कि इसको जला, परन्तु वह नहीं जला सका। फिर देवताओं ने वायु को भेजा वह भी इसी प्रकार तृण को नहीं उठा सका। जब देवताओं ने देखा कि यह दोनों यक्ष को नहीं जान सके तब उन्होंने इन्द्र से जानने को कहा। परन्तु जब इन्द्र गया तो यक्ष अन्तर्धान हो गया और उसके स्थान पर एक बडी सुन्दर स्त्री प्रकट हुई जो स्वयं हेमवती उमा थी। इन्द्र के पूछने पर उमा भगवती ने बताया कि वह यक्ष ब्रह्म था अर्थात इन्द्र भी ब्रह्म को नहीं जान सका, उमा के बताने पर उसने ब्रह्म को जाना, अतएव ब्रह्म को जानने का एक मात्र उपाय भगवती उमा ही है। शंकर भगवत्पाद ने सौंदर्य लहरी लिखकर मुमुक्षुजनों पर परम अनुग्रह किया है, जिसमें स्तवन के मिष, श्री विद्या की महिमा, उपासना की विधि, मंत्र, श्री चक्र और षट् चक्रों से इसका सम्बन्ध, षट्चक्रों का बेध एवं तत्सम्बन्धी दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डालते हुवे अद्वैत ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग दिखाया है।

(१)

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥

अर्थः—यदि शिव शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने को शक्तिमान होता है और यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर भी स्पन्दित होने को योग्य नहीं था इसलिये तुझ हरि और ब्रह्मा की भी आराध्य देवता को किसी भी पुण्यहीन मनुष्य में प्रणाम करने अथवा स्तुति करने की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

संक्षिप्त टिप्पणीः—

(१) शक्ति इच्छा ज्ञान क्रिया भेद से त्रिधा होती है, उस के बिना शक्ति रहित शिव कुछ नहीं कर सकता। शिव हं वाच्य है और शक्ति सः वाच्य, इसलिये इस श्लोक से हंसः मन्त्र सिद्ध होता है जिसको उलटा करने से सोऽहं बनता है। सोहं में से स और ह दोनों अक्षरों को हटा दिया जाय तो ॐ शेष रह जाता है। ॐ निर्गुण अक्षर ब्रह्म वाचक है, हंस जीव वाचक और सोहं ब्रह्मात्मैक्य पद है। ह, स दोनो हादि विद्या के प्रथम दो अक्षर हैं, इसलिये सौन्दर्य लहरी में प्रतिपाद्य आनन्द लहरी पद से श्री विद्या का संकेत करते हैं और यह श्लोक इस ग्रंथ का प्रथम मंगलाचरणार्थ लिखा गया है। ह और स दोनों के योग से ह्सौ बीज मंत्र भी बनता है, जिसको प्रेत बीज कहते हैं। इस बीज में शिव शक्ति

ोनों को प्रलय कालीन महासुप्ति अवस्था में दिखाया गया है। त=(प्र+इत) का अर्थ है प्रकर्ष रूप से गया हुआ। प्रत्येक श्वास ' प्राणिमात्र का हंसः अथवा सोहं जप होता रहता है,

'हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुंमंत्रं जीवोजपति सर्वदा ॥'

इसको अजपाजप अथवा अजपा गायत्री कहते हैं! जप द्यपि स्वतः होता है, परन्तु उस पर हेतु सहित ध्यान रखने से ही ाप का फल हो सकता है। उच्छ्श्वास के समय सः और निःश्वास के ामय हं बीज का शब्द स्वतः होता रहता है। यदि इस के जोड़े का ंयोग हो जाय तो श्वास की गति रुकने से यातो मृत्यु हो जावेगी नथवा समाधि हो जायगी। प्रभव के लिये शिव का शक्ति सहित रहना गावश्यक है। ब्रह्मा विष्णु और हर तीनों क्रमशः रजोगुण, सत्वगुण गौर तमोगुण की शक्तियों से शृष्टि स्थिति संहार करते हैं, इसलिये मादि शक्ति की अराधना के सिवाय उनमें कुछ भी करने का सामर्थ्य ाहीं। आदि शक्ति जब इन त्रिदेव की भी आराध्या हैं, तो हम ौसे अकृत पुण्य उसकी शरण में भी जाने के योग्य कैसे हो सकते हैं, ार्थना अथवा स्तुति करना तो दूर की बात है। इसलिये मुमुक्षुओं ो भगवती की शरण में रहकर आराधना करना आवश्यक है।

सृष्टि की रचना ब्रह्मा (विरंची) करते हैं और शिव (हर) संहार करते हैं परन्तु यहां पर सृष्टि का प्रभव शिवजी से होता है ऐसा कहने से शिव या हर

ह्म कारणवाद

ाब्द परम शिव अर्थात ब्रह्म वाचक समझना चाहिये।

१. अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, २ जन्माद्यस्ययतः

ब्रह्म सूत्र के उपरोक्त प्रथम सूत्र में यह कह कर कि अब यहां से ब्रह्म की जिज्ञासा आरम्भ होती है। दूसरे सूत्र में ब्रह्म को इस जगत के जन्मादि अर्थात सृष्टि, स्थिति संहार का कारण बताया गया है। कारण दो प्रकार का होता है। प्रथम निमित्त और दूसरा उपादान। जैसे घडे को कुम्हार बनाता है वह घडे का निमित्त कारण है, और उसके बनाने में जिन यंत्रों का प्रयोग किया जाता है वे भी निमित्त कारण ही हैं, परन्तु मिट्टी जिससे घडा बनता है वह उसका उपादान कारण है। सामान्य दृष्टि से इस जगत के उपादान कारण जड प्रकृति के भौतिक तत्व (Physical Elements) हैं, और वैज्ञानिक दृष्टि से भी कोई जड शक्ति (Cosmic energy) जगत का उपादान कारण है, परन्तु केवल जड तत्व बिना चेतन सत्ता का आश्रय लिये कार्य नही कर सकता। इसलिये ईश्वर जगत का निमित्त कारण होना चाहिये जो चेतन है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से शंकर भगवतपाद के अद्वैत मतानुसार ब्रह्म ही उसका अभिन्न निमित्तोपादात कारण है। अर्थात वही निमित्त कारण है, और उपादान कारण भी वही है। कुम्हार भी वही है और स्वयं मिट्टी भी।

ऋगवेद में ब्रह्म का स्वरूप और सृष्टि क्रम

ऋग्वेदीय नासदासीय* सूक्त में कहा है–'उस समय न असत् था न सत् था, उसके सिवाय निश्चय पूर्वक अन्य कुछ भी नहीं था। पहिले तम हुआ, तम से छिपा हुआ वह सब लिंग रहित था–परन्तु जल न था। तम रूपी तुच्छ माया से जो था वह

* देखें परिशिष्ट (१)

रुक गया। उसके महिमा रूप तप से एक पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसने सृष्टि के रूप में वर्तमान होने की इच्छा की। उसके मन से पहिले शक्ति उत्पन्न हुई। बुद्धिमान ऋषियों ने हृदय की जिज्ञासा से जाना के उस असत् में सत् का बन्धु था। मनकी शक्ति को यहां असत् और उस एक पुरुष को सत् कहा गया है। अर्थात ऋषियों ने जब सृष्टि के क्रम को जानने की इच्छा की तो ऐसा समझा कि पहिले सत् और असत् का जोडा उत्पन्न हुआ। सृष्टि के पूर्व न सत् था न असत् था। जो था वह ब्रह्म था। गीता में भी ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही बताया गया है।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ (गीता १३-१२)

अर्थात:—अनादि परब्रह्म न सत् कहलाता है न असत्। सत् और असत् दोनों परस्पर विरोधी सापेक्षिक शब्द हैं। परब्रह्म निरपेक्ष अक्षर अव्यय सत् असत् से परे हैं। सृष्टि के पूर्व उसके अतिरिक्त कुछ भी न था। वह अकेला था। कोई जड प्रकृति या भौतिक तत्व न थे। अर्थात् अव्यक्त अथवा प्रधान वाच्य जगत का कारण जैसा कि कुछ लोग मानते हैं—न था। सब से पहिले तम (अन्धकार) सा छा गया, यद्यपि उस समय न दिन का प्रकाश था न रात्रि का अन्धकार। अर्थात वह था महामाया का प्रादुर्भाव। उस माया विशिष्ट ब्रह्म ने अपनी महिमा से ही तप किया। उसका तप ज्ञानमय था।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः (मु. १-९)

अर्थः—जो सर्वज्ञ सर्ववित् है, उसका तप ज्ञान मय है।

फिर उसका ज्ञान तमोगुण की शक्ति से आच्छादित होकर, जगत की सृष्टि की कामना करने लगा। इसी स्वरूप को हिरण्यगर्भ कहते हैं। आदि इच्छा शक्ति महात्रिपुर सुन्दरी कहलाती है। इच्छा का संकल्पात्मक कार्य ही मन हैं। कहा है—"संकल्पात्मनं मनः" उस मन के तेजोमय संकल्प से असत् का जन्म होता है। संकल्प के साथ अहं (मैं) का स्फुरण सत् है और संकल्प का कार्य नामरुपात्मिका सृष्टि असत् है। इनको सद्विद्या और असद्विद्या भी कहते हैं। इच्छा के पश्चात ज्ञान तदनंतर क्रिया शक्ति सारे विश्व की रचना करती है। सद्विद्या को ज्ञान और असद्विद्या को क्रिया कहा जा सकता है, जो सत्वगुण और रजोगुण की प्रारंभिक शक्तियां हैं।

उपनिषदों के भी कुछ प्रमाण हम यहां देना असंगत नहीं समझते।

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"
(छा. ६, २, १)

'हे सौम्य, सत् ही यह पहिले था—अकेला अद्वितीय।
"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। (छा. ६, २, ३)

उसने इच्छा की कि सृष्टि बनाने के लिये मैं बहुधा, अर्थात् एक से अनेक हो जाउं।

स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति, स इमान् लोकानसृजत
(ऐत. १, १, १)

उसने इच्छा की कि लोकों की सृष्टि करूं, उसने लोकों की सृष्टि की।

"स ईक्षां चक्रे स प्राणमसृजत"। (प्रश्न ६. ३)

उसने इच्छा की, उसने प्राण की सृष्टि की।

शैव शाक्त दर्शन के अनुसार सृष्टिक्रम और स्पंदवाद

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरंजन, अव्यय, अक्षर, परब्रह्म स्पंद रहित है उसीको परशिव महानारायण अथवा महाविष्णु भी कहते हैं, उसको शुद्ध निर्मल वायु मंडल से उपमित किया जाय, तो जैसे निर्मल वायु मण्डल कभीकभी धुंध अथवा कोहरे से आच्छादित होकर मलीन दिखने लगता है, तद्वत् निर्गुण ब्रह्म में भी सृष्टि के आदि में माया की तमोमयी मलीनता का प्रादुर्भाव होता है। माया को शक्ति अथवा प्रकृति भी कहते हैं। उसका वर्णन शंकर भगवत्पाद ब्रह्मसूत्र (१-४-३) के भाष्य में इन शब्दों में करते हैं—

"अविद्यात्मिका ही बीज शक्ति है, जो अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट की जाती है, यह मायामयी महासुप्ति परमेश्वर के आश्रित रहती है, जिसमें स्वरूप के ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते रहते हैं।"

कहीं कहीं इसी को प्रकृति शब्द से भी सूचित किया जाता है, जैसे "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् (श्वे. ४-१०)" परब्रह्म का माया की तुच्छ तमोमयी मलीनता से आच्छादित हो जाना ही उसका प्रथम स्पंद है, इस प्रथम स्तर पर माया के

प्रादुर्भाव के साथ मायाशबल ब्रह्म में शिव तत्व और शक्ति तत्व दोनों की व्यक्तता दिखने लगती है।

अहं प्रत्यय (मैं के ज्ञान) को शिव तत्व कहते हैं, परन्तु शिव तत्व में अहं प्रत्यय अनन्यमुख अहंविमर्ष* युक्त होता है इस अहं अर्थात मैं की स्फुरणा में अपने से अन्य भिन्न वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इस समय शक्ति की सत्ता अव्यक्त स्वरूपा है और शिव तत्व पर उसका आवरण मात्र छा सा गया है। यद्यपि अहं अर्थात मैं के उदय के साथ युग पद् इदं भाव अर्थात यह का भाव भी उदय हो जाता है। मैं और यह दोनों भाव युगपद् ही उदय ओर अस्त हुवा करते हैं, दोनों का जोडा है, इदं भाव ही शक्ति तत्व है। मानों शुद्ध ब्रह्मस्वरूप आकाश में स्पन्द होने से कुछ आवरण सा छा गया है और उस आवरण में ब्रह्म का तेजोमह प्रकाश भी चमक रहा है। कहीं कहीं उस अव्यक्त माया को आकाश शब्द से भी निर्दिष्ट किया गया है—

जैसे:—

" एतस्मिन्नु खल्वेरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च (वृ. ३, ८, ११)

अर्थ—इस (ब्रह्म) में निश्चय हे गार्गि! आकाश ओत प्रोत है।

---

*नोटः—विमर्षोनाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन

विश्व संहारेण वा अकृतिमोऽहमिति स्फुरणम् ॥

विमर्ष का अर्थ:—विश्वाकार होने और विश्व को प्रकाशित एवं विश्व का संहार करने वाला जो आदि कारण अकृतिम अहंभाव है उसके स्फुरण को विमर्ष कहते हैं।

ब्रह्म देश काल से अतीत है, उसमें आकाश के ओत प्रोत होने की भावना मात्र का होना माया के अस्तित्व का व्यंजक है। आकाश में स्पंद होना संभव है. देश और काल से अतीत ब्रह्म में स्पन्द होना संभव नहीं, क्योंकि स्पंद के प्रसार के लिये देश और उसके क्रम को समय चाहिये और देश और काल दोनों माया के अंग हैं। आकाश में स्पन्द, स्पन्द में शक्ति और शक्ति में ब्रह्म के तेज की द्युति, सब का समन्वय होकर, शिवः शक्त्या युक्तो भवति शक्तः प्रभवितुम्' अर्थात शक्ति से युक्त शिव प्रभव करने को शक्त होता है। इसी भाव को मंत्र शास्त्र ने मायाबीज द्वारा व्यक्त किया है, हकार आकाश का द्योतक है, रकार स्पन्द का, ईकार शक्ति का और अनुस्वार ब्रह्म के प्रतिबिंबित तेज का। ब्रह्म में माया का धुंध अथवा अंधकार यद्यपि तमोमय अवश्य है, परन्तु वह हिरण्यमय कान्तियुक्त होता है, इसीलिये उसे हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। वेद कहता है कि—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यास्यापिहितंमुखम्'

अर्थात सत्य का मुख हिरण्यमय पात्र से ढका हुवा है। हिरण्यमय आवरण में एक कान्ति, प्रभा अथवा श्री होती है मानों आकाश में कांति की छाया बस गई है अर्थात हकार शकार में परिणित हो गया है। शकार और हकार दोनों आकाश तत्व के अक्षर हैं। हकार के स्थान पर शकार रखकर माया बीज ही लक्ष्मी बीज बन जाता है। रकार अग्नि का बीज भी है, अग्नि स्वयं शक्ति-स्वरूप है, और उसका वर्ण हिरण्मय श्री(कांति) युक्त है. परन्तु

उसमें जो श्री है वह उसकी अपनी नहीं है, वह श्री ब्रह्म की ही प्रभा है, जेसा कि कहा है—

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'

इसी अभिप्राय से शंकर भगवत्पाद कहते हैं—

'न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि'

अर्थात यदि वह ब्रह्मदेव शक्ति से युक्त नहीं होता तो वह स्पन्दित होने में भी कुशल नहीं हो सकता था। ऋग्वेदीय उपरोक्त नासदासीय मंत्र में कहा है कि फिर उसकी महिमा के तप से एक (पुरुष) उत्पन्न होता है। हम कह आये हैं कि ब्रह्म का तप उसके ज्ञान का उन्मेश है अर्थात ज्ञान के उद्भव अथवा व्यक्त होने को ही तप कहा गया है, मानो शिवजी के नेत्र अर्धोन्मिलित से खुल जाते हैं। इस स्तर पर अहम् और इदम् दोनों का युगपद ज्ञान उदय होता है। यह ज्ञानमय तप दूसरा स्पन्द है, जिसको सदाख्य अथवा सदाशिव तत्व भी कहते हैं। इस अहम्-इदम् विमर्ष वाले दूसरे स्पन्द को एक बीज के सदृश समझना चाहिये, जिसमें दो दल होते हैं परन्तु ऊपर से एक ही प्रतीत होता है। इस ही स्वरूप को अर्ध नारीश्वर अथवा अर्ध नारी नटेश्वर कहते हैं। देखें श्लोक २, ३। इस स्तर पर साधक योगी का तप भी ज्ञानमय ही होता है, अर्थात उसकी उन्नति साधन साध्य नहीं रहती वरन् पांचवी, छ:टी, सातवी भूमिकाओं वाली ज्ञान साध्य होती है, ये जीवन मुक्ति की भूमिकायें कहलाती हैं। यह सदाख्य तत्व सृष्टि करने की

कामना करता है। कामना से मन और मन में संकल्प* शक्ति का उदय होता है, जिसको 'मनसोरेतस्' कहा गया है। देखें परिशिष्ट नं. १। सकल्पात्मिका शक्ति का स्थान मन है। रेतस् का अर्थ शक्ति ही समझना चाहिये। इछा शंक्ति मन के स्तर पर उतर कर संकल्पात्मिका शक्ति में परिणत हो जाती है, अर्थात् संकल्पों की शक्ति कामना अथवा वासना का स्थूल परिणाम है, और संकल्पों का ही नाम मन है। कहा है:—

'संकल्पविकल्पात्मनं मनः'

इस स्तर पर मानो बीज अंकुरित होकर दोनों दल पृथक हो जाते हैं. अहम् अपने को इदम् शक्ति का ईश्वर समझने लगता है। यह तीसरा स्पन्द है, फिर शक्ति का परिणाम निम्न स्तरों पर होने लगता है, वह चौथा स्पन्द है। तीसरे स्पन्द में मानों शिवजी नेत्र खोल देते हैं, और उनको शक्ति के स्फुरण का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अर्थात शक्ति और शक्तिमान दोनों की पृथक सत्ता का ज्ञान उदय हो जाता है। शिवरुपी अहम् को महेश्वर तत्व और 'इदम्' को शुद्ध विद्या कहते हैं। शुद्ध विद्या की फिर सत् और असत् दो स्तरों पर अभिव्यक्ति दिखने लगती है। सत् को सद्विद्या और असत् को असद्विद्या भी कहा जा सकता है। शुद्ध विद्या में सामान्य भाव है और सद्विद्या में विशेष भाव निहित है। असद्विद्या

---

* संकल्प = मैं यह यह करूंगा (इदंमिदं कुर्याम), ऐसा मन का व्यापार संकल्प कहलाता है संकल्प में इदम् का ज्ञान विशेष रुप से रहता है।

को माया अथवा अविद्या भी कहा जाता है। काम मन और संकल्पात्मक रेतस में काम महेश्वर का रूप है, और मन की शक्ति (रेतस) शुद्ध विद्या और सद्विद्या है और उसका परिणाम असद्विद्या है। शक्ति का परिणाम वर्णात्मक अर्थात्मक दो स्तरों पर होता है और वर्णात्मिका शक्ति को सरस्वती कहते हैं जिसका उदय कामना के उदय के साथ-साथ ही होता है और अर्थात्मिका शक्ति परिणत होकर समस्त विसर्ग का रूप धारण कर लेती है। वर्णात्मिका शक्ति को स्वरात्मिका भी कहते हैं कहा है—

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वंहि वषटकारः स्वरात्मिका

(दु. श. ७३)

सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता
अर्ध मात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः

(दु. श. ७४)

अर्थ—हे देवि, तू स्वाहा, तू स्वधा और तू ही व षटकार स्वरात्मिका है, अर्थात सब स्वर तेरे ही रूप हैं, तू स्वधा है। हे नित्ये! और अक्षरो! अकार, ईकार अथवा उकार और मकार की तीनों मात्राओं के रूप में तू स्थित है और अनुस्वार स्वरुपी अर्धमात्रा में भी नित्य स्थित है जिसका विशेष रूप से उच्चारण भी नहीं किया जा सकता अ+उ=ओ और आ+ए=ऐ से ओम और ऐं दोनों रूप लिये जा सकते हैं अथवा इकारस्य भावे ऐ भी लिया जा सकता है. ऐं सरस्वती बीज है. ई शक्ति वाचक है और ऐ स्वरात्मक भाव वाचक है और अनुस्वार शिव वाचक

है। अर्थ स्वरूपा देवी आदि काम से उदय होकर संकल्प रूप धारण करके सृष्टि, स्थिति और प्रलय की कल्पना करती है और ब्रह्मा के दिन में स्थिति करके कल्प का निर्माण करती है। संकल्प, कल्पना और कल्प तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति क्लृप् (सामर्थ्ये) धातु से होती है अर्थात भगवती के सामर्थ्य का विकास अथवा प्रदर्शन स्वरूप आद्योपान्त सारा कल्प है इसलिये उसका रूप क्लृप् धातु से क्लीं बनता है। ब्रह्मा का दिन जिसको कल्प कहते हैं और जिसकी अवधि १००० चतुर्युगी का समय १२००० दिव्य वर्ष अथवा १२०००×३६०=४३२००० मानुषी वर्ष हैं, भगवती के क्लीं बीज के सामर्थ्य से कल्पित हैं, जो महेश्वर की काम अथवा संकल्प शक्ति का स्वरूप हैं। इसी अभिप्राय से भगवती को कामेश्वरी भी कहते हैं। और सौंदर्य लहरी में सर्वत्र भगवती के स्वरूप को कामदेव से भी उपमित किया गया है। यहां यह भी स्मरण रहे कि कामदेव की उपास्य विद्या मूल कादि विद्या ही है और क्लीं को काम बीज भी कहते हैं।

उपरोक्त शिव, शक्ति, सदाशिव, महेश्वर और शुद्ध विद्या को शुद्ध तत्व कहते हैं। प्रथम दो शांतातीता और अन्तिम तीन शान्तिकला के तत्व माने जाते हैं।

फिर तीसरा माया कला का स्तर शुद्धाशुद्ध विद्या का स्तर माना जाता है जिसे गीता में भगवान ने परा प्रकृति कहा है। माया का प्रस्तार देश (कला) और काल में होता है और जो नियति अर्थात प्राकृतिक नियमों के सूत्र में बंधा हुवा है जिनके अविद्या स्वरूप ज्ञान का जानकार होकर शिव स्वयं राग के पाश में बंध जाता है

और जीव कहलाने लग जाता है, इसलिये माया के सात तत्व शुद्धा-शुद्ध तत्व कहलाते हैं उनके नाम यह हैं—माया, काल, कला, नियति, अविद्या, राग और पुरुष। इस स्तर को विद्या कला कहते हैं। कला पांच हैं—शान्त्यातीता, शांति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति। काल से राग तक पांच तत्व पांच कंचुक कहलाते हैं जो माया के पांच आवरण या पांच केंचुलियां है, और जो शिवकी चितिशक्तिको काल से, क्रिया शक्ति को कला से, ज्ञान शक्ति को विद्या से, इच्छाशक्ति को राग से और आनंद को नियति से आवृत करके उसे जीव बना देते हैं। अशुद्ध तत्व २४ हैं जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं:—

(१) अव्यक्त प्रकृति (२) महत् (३) अहंकार (४) मन (५-९) पांच ज्ञानेन्द्रियां (१०-१४) पांच कर्मेन्द्रियां (१५-१९) पांच तन्मात्राएं (२०-२४) पांच महाभूत। प्रथम २३ तत्व प्रतिष्ठा कला के अन्तर्गत हैं और अन्तिम पृथिवी तत्व निवृत्ति कला कहलाता है। सब तत्वों का योग ३६ है और कलाएं पांच हैं।

बीज मंत्र द्वारा ब्रह्मोपासना

ह्रीं का उदय आकाश से होता है, इसकी पीठ विशुद्ध चक्र में है और उसका आयतन सहस्रार तक है। श्रीं का उदय स्थान भी आकाश है, इसलिये उसकी पीठ विशुद्ध है और आयतन आज्ञाचक्र तक है। ऐं का उदय अग्नि से है, इसलिये उसकी पीठ मणिपूर है और आयतन वाक शक्ति का स्थान विशुद्ध चक्र है और विकास स्थान जिव्हाग्र भाग है। इन तीनों में अग्नि ही प्रमुख है। क्लीं में लकार

से पृथिवी तत्व की प्रधानता लिये हुए वायु तत्व है। कं से जल भी लिया जाता है। इसकी पीठ मूलाधार है और आयतन काम, संकल्प और कामना तीनों में होने के कारण स्वाधिष्ठान और अनाहत् एवं आज्ञा चक्र तक है। वाक्शक्ति का संबंध संकल्पों से है, इसलिये ऐं का साथ क्लीं से है और शक्ति का प्रकाश कांति में होता है, इसलिये ह्रीं का साथ श्रीं से है। ऐं क्लीं वाला मंत्र के अंग हैं, जो सब कामनाओं का देने वाला है, उसका दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है। ह्रीं श्रीं को प्रथम रख कर अथवा उसे गर्भ में लेकर—इसलिये ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं और ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं दो रूप बन जाते हैं। यहां यह स्मरण रहे कि प्रत्येक मंत्र का आदि अक्षर अथवा बीजमंत्र सारे मंत्र का प्रमुख होकर उस मंत्र का संचालन करता है। मंत्र विज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान है जो पुस्तकों के आधार पर नहीं जाना जा सकता। जो लोग केवल पुस्तकों को पढकर किसी मंत्र का अनुष्ठान करते हैं, वे उस खिलाडी के सदृश हानि उठा सकते हैं जो तलवार चलाना न जानने के कारण अपना ही अंग काट लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुकों को प्रत्येक मंत्र के उपदेश की दीक्षा किसी जानकार देशक (दीक्षा देने वाले) से मन्त्र रहस्य समझ कर लेनी चाहिये। क्योंकि मंत्रों का अनुष्ठान अग्नि के साथ खेल खेलने के सदृश है। यहां पर केवल मंत्र बीजों की भावना करने की विधि पर प्रकाश डाला गया है जिससे साधक विज्ञान को समझ कर तद्रूप भावना सहित अभ्यास बढावें क्योंकि कहा है कि विज्ञान को समझ कर अनुष्ठान करने से विद्या वीर्यवती होती है। यथा "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।" (छा.१,१,१०)

क्लीं बीज (मकार युक्त ककार) से बनता है। ककार से काम, जल, और प्राण एवं सुख का अर्थ लिया जाता है। कं जल को कहते हैं और प्राण को भी। कं का अर्थ सुख भी होता है। जल के वेध से प्राण का विकास होता है, और प्राण का स्थूल रूप वायु है। वायु का कारण आकाश है। और आकाश का कारण सूक्ष्म प्राण है, प्राण स्वयं ब्रह्म का तेज है। इसलिये कहा है कि—"प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति। यद्वाव कं तदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः।" (छा. ४,१०,५) अर्थात—प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है, अथवा जो कं है वह ही खं है, जो खं है वह ही कं है और वह ही प्राण है। खं का अर्थ आकाश भी होता है, इसलिये कं, खं, और प्राण तीनों ब्रह्म वाचक है। ऐसा भी कहा है कि—"अन्नमयं हि सोम्य मनः अपोमयः प्राणस्तेजो मयी वाक्।" (छा. ६,७,६)

क्लीं में ककार के साथ लकार भी है, जो पृथिवी का अक्षर है। पृथिवी के वेध से अन्न होता है, और अन्न से मन। मूलाधार क्लीं बीज की पीठ है, जहां पर पृथिवी और जल दोनो का वेध होकर मन और प्राण के विकास में सहायता मिलती है। मन का वेध आज्ञाचक्र में होता है। मन आनन्द का स्थान है और आनन्द ब्रह्म है। इस प्रकार क्लीं की सहायता से प्राण और मन दोनों के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार ऐं अग्नि बीज है। अग्नि से वाक् और वाक् से ज्ञान की प्राप्ति होती है, और ज्ञान स्वयं ब्रह्म है। सूर्य भी अग्नि ही हैं। सूर्य से दृष्टि का उदय होता है और दृष्टि सत्य की पीठ है। सत्य स्वयं ब्रह्म है। स्थूल प्राण का

स्थान हृदय है और प्राण सबको प्रिय होते हैं। इसलिये प्राण प्रेम भक्ति की पीठ है। अर्थात हृदय में प्रेम भक्ति का उदय होता है, और प्रेम का भाव स्वयं ब्रह्म है। प्राण की सूक्ष्म गति द्वारा वायु का वेध होकर आकाश का वेध होता है। आकाश से श्रवणेंद्रिय की उत्पत्ति है जो अनंत की पीठ है। अनंत स्वयं ब्रह्म है। हृदय से अहं भाव की भी स्फुरणा होती है। और अहं मे सत् की पीठ हैं और सत् स्वयं ब्रह्म है। इस प्रकार ऐं और क्लीं दोनो से सब चक्रों का वेध होकर ब्रह्म की प्राप्ति की जाती है। यह विज्ञान बृहदारण्यक उपनिषत् के चतुर्थ अध्यायोक्त याज्ञवल्क्य—जनक संवाद के आधार पर बताया गया है, देखें प्रथम ब्राह्मण। इसी प्रकार वाग्भव कूट को समझना चाहिये। वाग्भव कामकला और शक्ति कूट जो ह्रीं युक्त हैं और लक्ष्मी बोज जिसकी सोलहवीं कला है, पूरा मंत्रराज वनता है।

श्लोक की प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि शिव शक्ति से युक्त होकर प्रभव करता है। —"नहि तया बिना परमेश्वरस्य सृष्ट्रत्वं सिध्यति" (शंकर भास्य ब्र.सू. १-४-३) उसके बिना परमेश्वर का सृस्ट्रत्व सिद्ध नहीं होता।

स्पन्द ही शक्ति है

दूसरी पंक्ति में कहा है कि शिव शक्ति से युक्त न हो तो वह स्पंदित भी नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह है कि शक्ति से युक्त ब्रह्म स्पंदित होता है। "तदेजति तन्नैजति" (ईश ५) वह स्पंदित होता है और वह स्पन्द नहीं होता, ऐसा श्रुति कहती है। अब यह बात विचारणीय है कि स्पन्द शक्ति का धर्म है या शिव का अथवा दोनों का। स्वभाव से निष्क्रिय, शांत और निरँजन पद

यदा पंचावावेष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टीति, तमाहुः परमांगतिम् ॥
ताँ योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

(क. ६, १०, ११)

अर्थः—जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन सहित स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परमगति कहते हैं, तब मनुष्य अप्रमत्त हो जाता है, अर्थात शांति प्राप्त करता है। इसलिये प्रभव और अप्यय ही योग है।

इंद्रियां और मन प्रकृति रूपा शक्ति के विकार हैं, और बुद्धि महत तत्व रुपी सिन्धु की एक तरंग है। महत् तत्व समष्टि हैरण्यगर्भ बुद्धि ही है। इसलिये बुद्धि को तीनों गुणों की विषमता होने पर शक्ति की अभिव्यक्ति की एक तरंग कहा जा सकता है। कहा भी हैः—

या देवि सर्व भूतेषु बुद्धिरुपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ३ नमोनमः ॥ (दुर्गा सप्त)

अहंवृति का कारण आत्मा है और इदं का रूप बुद्धि है! दोनों का इतरेतर अध्यास बन्धन का कारण हैं। एक का दूसरे के गुणों का आरोप अपने उपर कर लेने को अध्यास कहते हैं। अर्थात आत्मा अपने उपर बुद्धि के विकारों का आरोप करके स्वयं को

विकारी मानने लगता है, और बुद्धि अपने को आत्मतत्व समझने लगती है। अनात्मनि आत्मख्याति रुपी यह अविद्या है। परन्तु शिवतत्व में अविद्या का अभाव होने से अध्यास नहीं होता। आत्मा में अहं इदं का कभी उदय होना कभी अस्त होना यह प्रकट करता है कि नित्य निर्विकार शुद्ध स्वरुप आत्मा दोनों से प्रथक है। इदं सत्य है अथवा असत्य! सत्यवत दिखता है, परन्तु अहं के आधार पर उसका उदय अस्त होने से उसकी असत्यता सिद्ध होती है। इसलिये इसको शंकर भगवत्पाद ने अनिर्वचनीय-ख्याति कहा है। अर्थात यह नहीं कहा जा सकता कि शक्ति की शक्तिमान से अभिन्न सत्ता रहते हुवे भी वह विप्ररीत धर्मा कैसे उदय-अस्त हुआ करती है। इसी अभिन्नता को लेकर श्रुति कहती है-"तदेजति तन्नैजति" (ईश)

प्राणतत्व और अध्यात्म तथा आधिभूत भाव

यदिदं जगत्सर्वं प्राण एजति निः सृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

(कठ २,६,२)

अर्थः—यह जो समस्त जगत है वह प्राण के स्पन्दित होने पर निकलता है। वह प्राण वज्र के सदृश्य बडा भय वाला है, अर्थात उसके भय से अग्नि तपता है और सूर्य उदय अस्त होता है। जो उसको जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। (क. २.६,३)

प्राण यहां ब्रह्म वाचक है और वही जीवन शक्ति है। कहा है वह प्राण का भी प्राण है। उपरोक्त श्रुति में कहा गया है कि

ारा जगत प्राण के स्पन्द से बना है। जिस प्राण मे स्पन्द कहा
या है उसे आत्मा की रश्मिवत् समझना चाहिये, जैसे चुम्बक से
सकी किरणें निकला करती है। स्पन्द चुम्बक में नहीं होता, वरन
सकी किरणों में होता है। वह समष्टि प्राण सृष्टि का आदि कारण
और शक्ति का ही रूप है। नीचे के स्तरों पर यह प्राणशक्ति
ो रूप धारण कर लेती हैं। एक अध्यात्म और दूसरा अधिभूत।
अधिभूता शक्ति का परिणाम सारा जगत है, जो अध्यात्म रूपके
काश से सर्वत्र प्रतिभासित हो रहा है। इस विषय का भगवान
ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है:—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

(गीता ८, ३)

अर्थः—ब्रह्म अक्षर है, उसमें दो भावों का उदय होता है एक अध्यात्म और दूसरा अधिभूत। अध्यात्म भाव ब्रह्म का स्वभाव है अर्थात उसका अपना ही भाव होने के कारण वह अहं चेतन भाव है और दूसरा अधिभूत भाव उद्भव करने वाला है यह भी ब्रह्म का ही भाव है। इस दूसरे भाव का कर्म सारा जगत है। यह अधिभूत भाव क्षर अथवा नाशवान है।

सच्चिदानन्द ब्रह्म अक्षर है अर्थात उसकी सत्ता ज्ञान स्वरूप है और आनन्दमयी है, परन्तु अहं और इदं दोनों भाव से अतीत होने के कारण परम भाव कहलाता है। उससे अहम् और इदम्

दोनों भावों का उदय होने पर एक को अध्यात्म और दूसरे को अधिभूत भाव कहते हैं। अध्यात्म भाव उसी का स्वभाव वाला अर्थात सच्चिदानन्द स्वरूप है और अविनाशी और अपरिणामी भी है। अधिभूत भाव क्षर और परिणामी है जिसके परिणाम से सारा जगत बनता बिगडता है। अक्षर निस्पन्द परम शिव है और अध्यात्म में अहंता होने के कारण सस्पन्द शिव ईश्वरभाव और जीवभाव का समावेश है। अधिभूत भाव को उद्भव करने वाले भाव को ही आदि शक्ति कहा है जो ब्रह्म का ही एक भाव है। परमभाव को प्राप्त करने के लिये सब स्पन्दों का निरोध करके अहं भाव में स्थिति करनी पडती है। कहा है–" आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् " (गी. ६-२५) अर्थात–आत्मभाव में मन को स्थिर करके इदम् जगत का कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। यह योग का सब से उत्कृष्ट साधन है। यही अहंग्रह उपासना का अन्तिम स्वरूप है और इसी को निदिध्यासन भी कहते हैं।

हिरण्यगर्भ

समष्टि प्राण को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं जिसको सांख्य महत्तत्व कहता है और वह ही प्राणिमात्र की बुद्धियों का आदि कारण स्वरूप समष्टि बुद्धि है।

प्राणतत्व और हिरण्यगर्भ

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणिच।
खं वायु ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥ (मु. २, १)

अर्थः—वह ब्रह्म पुरुष दिव्य और अमूर्त है, अजन्मा बाह्य अभ्यन्तर सर्वत्र व्यापक है, वह प्राण और मन रहित शुभ्र है और अक्षर (प्रकृति, अव्यक्त) से अति सूक्ष्म है। उससे प्राण उत्पन्न होता है, और फिर मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, आप और विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होते हैं।

यहां पर महत् के स्थान पर प्राण की उत्पत्ति कही गई है इसलिये समष्टि प्राण जिसको हिरण्यगर्भ भी कहते हैं, महत् तत्व से भिन्न कोई अन्य तत्व नहीं है। शंकर भगवत्पाद ने ब्रह्म सूत्र (२, ४, १३) 'अणुश्च' के भाष्य में समष्टि व्यष्ट्यात्मक विश्व प्राणों को अधिदैविक हैरण्यगर्भ प्राण कहा है। और ब्रह्म सूत्र (१, ४, २) के भाष्य में महत् को हैरण्यगर्भी बुद्धि बताया है। शुभ्र ब्रह्म की तेजोमयी रश्मियां ही जीवन शक्ति रूपी प्राण की किरणें हैं और इस प्रथमज़ विभु प्राण को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं, जैसा कि नीचे दिये मंत्र से भी विदित होता है।

> हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
> सदधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

हिरण्यगर्भ की बुद्धि और चित्त दोनों महत तत्व के ही रूप हैं। महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है। चित्तस्वरूप महत् वासुदेव भगवान विष्णु है, बुद्धि स्वरूप महत् ब्रह्मा और अहंकार रुद्र शिव अथवा हर है। इसलिये आदि शक्ति तीनों की जननी सदा आराध्या है।

श्लोक की तीसरी पंक्ति में देवी को हरिहर और ब्रह्मा की आराध्य देवता कहा गया है। क्योंकि सृष्टि की

अकृत पुण्य भजन नहीं कर सकते

उत्पत्ति, पालन और संहार असद्‌विद्या में ही होते हैं। शुद्ध विद्या इनकी भी आराध्या है फिर अकृत पुण्य पापी जीवों की तो वहां गति ही कैसे हो सकती है, वे तो स्तुति और प्रणाम भी नहीं कर सकते। भगवान ने भी गीता में कहा है:—

न मां दुष्कृतिनो मूढाःप्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ (७-१)
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ (७-२८)
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् (९-१३)

हरि भी रजोगुण की शक्ति लक्ष्मी के बिना पालन नही कर सकते, हर भी सत्व गुण की शक्ति उमा की सहायता से संहार करते हैं, तमोगुण के वशीभूत होकर बिना सोचे समझे संहार करना तो विश्व के कल्याणार्थ नहीं हो सकता, उनकी संहार शक्ति इसलिये सात्विक ज्ञानमयी है। और ब्रह्मा की सृष्ट्रत्व शक्ति, तामसी मोहासक्ति के बिना उनके ज्ञान वैराग्य पर आवरण डाले, सृष्टि कार्य में उन्हें कैसे प्रवत कर सकती थी। इसलिये ब्रह्मा तमोगुण की शक्ति से युक्त होकर सृष्टि करते हैं। प्रथम मानसिक सृष्टि के सनकादि पुत्रों में ज्ञान वैराग्य देखकर तो उन्हें मैथुनिक सृष्टि क

आश्रय लेना पडा। इसी लिये श्लोक में कहा गया है कि हे मां! तू ही तीनों की आराध्या है।

दीक्षा का शक्ति से सम्बन्ध।

गुरु को शिव स्वरूप कहते हैं। जब गुरु शक्ति से युक्त होता है तब ही वह दीक्षा देकर शिष्य की प्रसुप्त शक्ति कुण्डलिनी को जागृत कर सकता है अन्यथा नहीं। जब तक शक्तिसंपन्न गुरु का अनुग्रह नहीं होता, तब तक शिष्य चाहे कितना भी विद्वान क्यों न हो, पुस्तकों से पढे हुवे मन्त्र से सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान राम और कृष्ण को भी गुरु करना पडा था, फिर अन्य साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है। अकृतपुण्य पापी जन तो गुरु की शरण में जा ही नहीं सकते, जब अनेक जन्मों के पुण्यों का उदय होता है तब ही सद्गुरु का समागम मिलता है। शक्ति के बिना जैसे शिव स्पन्दितुमपि न कुशलः तद्वत शक्ति के बिना शिव स्वरुप गुरु भी शिष्य में शक्ति जागरण करने की कुशलता नहीं रखता और शिष्य में भी मंत्र चैतन्य का प्रकाश नहीं होता। मंत्र चैतन्य के बिना मंत्र सिद्धि की बात करना तो बालू से तेल निकालने के बराबर है।

शिष्य में भी उसका अन्तरात्मा शिव है, परन्तु वह शिव उसको माया की भ्रांति में डालता रहता है।

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठित।
> भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गी. १८-६१)

उसकी शरण में अकृत पुण्य नहीं जा सकते। पुण्य प्रभाव से जब सद्गुरू की प्राप्ति होती है, तब गुरू शिष्य की शक्ति का जागरण करके उसे शक्ति से युक्त कर देता है और शक्ति से युक्त होकर शिष्य का अन्तरात्मा स्पंदित होता है और मोक्ष का पथ-प्रदर्शन कराता है। इसलिये जब तक शक्ति का जागरण नहीं होता, शिष्य भी गुरु का अनुगृहीत नहीं होता अर्थात् शिष्यस्थ शिव स्पंदित नही होता।

श्री विद्या

श्री विद्या आदि ब्रह्म विद्या है उसके कादि और हादि मन्त्रों के अनुसार दो अंग होते हैं जिनके दो प्रथम अक्षर शिव और शक्ति के द्योतक हैं और उन्हीं के आधार पर पूर्ण विद्याएं सिद्ध होती हैं। अर्थात् शक्ति के योग के बिना शिव का अक्षर अकेला मन्त्र नहीं बना सकता। तीसरा अक्षर सदाख्य तत्व, चौथा महेश्वर और पांचवा शुद्ध विद्या के द्योतक हैं। दोनों अक्षरों के पश्चात् तीसरा काम का द्योतक है। चौथा फिर शिव वाचक है जिसके काम अर्थात ईक्षण (इच्छा) से पृथ्वी तक व्याप्त है। पांचवा अक्षर पृथ्वी का अक्षर है। इस प्रकार ईश्वर, जीव और विश्व का भेद दिखाने वाला दूसरा कूट विद्या कला का संकेत कराता है। तीसरा कूट शक्ति कूट है जो प्रतिष्ठा और निवृत्ति का संकेत कराता है। इस प्रकार कादि विद्या प्रभव मन्त्र है। इसलिये इस श्लोक में यह पद कि शक्ति के योग से ही शिव प्रभव करता है श्री विद्या का प्रतिपादन करने वाले इस ग्रंथ के प्रथम श्लोक में मंगलाचरणार्थ लिखा गया है।

श्री विद्या का आधार वेद-वेदांत

जब तक किसी विद्या के आधार वेद नहीं सिद्ध होते, तब तक वह विद्या ऋषियों को मान्य नहीं होती, परन्तु श्री विद्या तांत्रिक है और वह श्री गौड-पादाचार्य शंकराचार्य प्रभृति की इष्ट थी, इसलिये उसे श्रुतियों का आधार है यह बात निश्चित ही है। परन्तु हम यहां विशेष रूप से इस विषय पर विचार करने का यत्न करते हैं। वेदों के मत से ईश्वर ही सृष्टि का कारण है। यह बात 'जन्माद्यस्ययतः' (ब्र. १, १, २) में कही गई है। क्योंकि सब शास्त्र एसा ही सिद्ध करते हैं और जहां कहीं उनके सृष्टि क्रम में भिन्नता दिखाई देती है, उन सब का समन्वय किया जा सकता है यह बात, 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र. १, १, ३) और 'तत्तुसमन्वयात्' (ब्र. १,१,४) इन दो सूत्रों में सिद्ध की गई है। जो लोग सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से स्वतंत्र किसी अन्य प्रकृति तत्व से सिद्ध करते हैं, उनके वादों का खण्डन ग्रंथ के उत्तर भाग में किया गया है। कोई-कोई वाद ईश्वर को मानकर भी प्रकृति की सत्ता स्वतंत्र अथवा अंग-अंगी भाव से बताकर ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानते हैं, वे वाद भी श्रौत नहीं हैं, जैसा कि श्रुतियों के पढने से स्पष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि कहीं तो सृष्टिका उदय ईश्वर के ईक्षण या कामनासे वर्णित है, कहीं एजत्व अर्थात स्पन्दनसे वर्णित है, कहीं मायासे, कहीं शक्ति से, कहीं प्रकृति से। उस परमात्म शक्ति कोही कहीं आकाश, कहीं अग्नि, कहीं माया, कहीं प्राण, कहीं वायु, कहीं प्रकृति प्रभृति शब्दों से व्यक्त किया गया है। इसका कारण यह है कि उस आदि शक्ति का स्वरूप किसी की समझ में नहीं आ सकता, इसलिये

श्रुतियों में उसे समझाने के लिये अनेक प्रकार से चेष्टा की गई है। परन्तु सब श्रुतियों का अभिप्राय एक ही है। वह ईश्वर में उसके आधीन अव्यक्त अथवा व्यक्त दशामें सदा रहती है। शंकर भगवत्पाद 'तदधीनत्वादर्थवत्' (ब्र. १, ४, ३) और 'ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके', (ब्र. १, ४, ९) के भाष्य में इस बात को स्पष्ट करते हैं और उस शक्ति को दैवी शक्ति कहते हैं।

"यथा प्रकरणातु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयो: प्रागवस्थानेनापि मंत्रेणाम्नायत",

अर्थः—प्रकरण के अनुसार तो वह ही दैवी शक्ति जो नाम रूप से विकृत नहीं है, नाम रूपों की पूर्व अवस्था के रूप में वेदोक्त मंत्र में कही गई है।

माया की अभिव्यक्ति, ईश्वर का ईक्षण अथवा संकल्प, ईश्वर का एजृत्व (एजृ कंपने) अर्थात स्पन्द सब सृष्टि के पूर्व में शक्ति के आन्दोलन के सूचकार्थ पद हैं। यह कहना कठिन है कि पहिले इच्छा अर्थात ईक्षण हुवा अथवा पहिले संकल्प हुवा, अथवा पहिले स्पन्द हुआ। जिसने जैसा समझा वैसा ही वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से उसने किया है। उपरोक्त नासदासीय सूक्त में पहिले तम (माया) फिर काम (संकल्प) फिर रेतस् (स्पंद) का क्रम मिलता है। परन्तु सर्वत्र यह ही क्रम नहीं दिखता। परन्तु इस बात में सब श्रुतियों का एक मत है कि चाहे वह माया हो, चाहे इच्छा, चाहे स्पन्द सब हैं एक ब्रह्म सम्बन्धी व्यापार ही। ब्रह्म की उस अवस्था को कहीं

ईश्वर कहा है, कहीं उसकी शक्ति, केवल नाम की भिन्नता है। शक्तिवादी उसको ईश्वर की दैवी शक्ति कह कर उपासना करते हैं, अन्य लोग उसे ईश्वर ही कहते हैं। वेदों में दोनों प्रकार का उपासना क्रम मिलता है कहा है—

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव इत्यादि, त्वमेव सर्वं मम देव देव'॥

मन्त्र शास्त्र के विद्वानों ने सृष्टि की उत्पत्ति शब्द से ही मानी है, और वे शब्द को अनादि शब्द ब्रह्म कहते हैं शब्द भी स्पन्द का ही रूप है। प्रथम शब्द ॐ है जो अ, उ, म के योग से बनता है। अकार सारी वैखरी वाणी की भूमि है। जिस पर अन्य वर्णों के नाम रूप रचे जाते हैं। ॐ भी अकार का ध्वन्यात्मसानुनासिक शब्द है। ऐतरेय अरण्यक में कहा है कि अकार ही समस्त वाणी है।

अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शान्तस्थोष्माभिर्व्यज्यमाना
वह्वी नानारूपा भवति। (ऐ. आ. २.३ ७ १३)

अर्थात अकार ही सारी वाणी है। वह ही स्पर्श, अन्तस्थ और उष्मा से युक्त होकर व्यक्त होती है और नाना रूपों वाली हो जाती है।

ऊपर हम बता आये हैं कि ऐं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं भी ॐ के ही रूप हैं, और शक्ति प्रणव कहलाते हैं। उनका शक्ति और स्पन्द तथा संकल्प से सम्बन्ध भी वहां दिखाया जा चुका है। परन्तु सृष्टि के पूर्व चारों में से पहिले कौनसा उदय हुवा और पीछे कौनसा यह कहना असंभव है। जिस ऋषि ने जो क्रम समझा

उसने अपनी उपासना उसी क्रम से की, और अपना मंत्र भी उसी क्रम से बनाया। इसलिये प्रत्येक मंत्र का ऋषि देवता और विनियोग जानना आवश्यक है। इसी प्रकार श्री विद्या के अवान्तर भेदों को समझना चाहिये। सबके मूल में दो ही विद्या हैं जो कादि और हादि के नाम से प्रसिद्ध हैं, कादि विद्या में सृष्टि का उदय काम (संकल्प) से माना गया है और हादि में आकाशवत् अव्यक्त शिव की माया शक्ति से। दोनों के प्रथम कूट में ही अन्तर है और वह भी प्रथम तीन अक्षरों में, कादि में काम से शक्ति, शक्ति में तुरियावस्था और उससे पृथ्वीतक सारी सृष्टि कही गई है जो मायाशक्ति का ही रूप है; हादि में अव्यक्त आकाशरूपी ब्रह्म से स्पन्दशक्ति, उससे कामपूर्वक पृथ्वीतक सारी सृष्टि का उदय दिखाया गया है। दूसरे काम कला कूट में ईश्वर से शक्ति की जीव रूपी पराप्रकृति का उदय बताकर फिर संकल्पपूर्वक पृथ्वी तक की शारीरिक सृष्टि दिखाई गई है जिसमें ईश्वर की व्यापकता का ओतप्रोत रहना भी स्पष्ट है, कहा है—

'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत'

ऐतरेयोपनिषत् (१,३,१२)

अर्थात वह ईश्वर उस (शरीर) में ही सीमा (कपाल के ऊपर के जोड) को विदार कर उस (छिद्र) के द्वारा प्रवेश कर गया अर्थात जीव बन गया।

तीसरे कूट का भाव स्पष्ट है कि समस्त कलाओं सहित सब कुछ माया शक्ति का ही दिखावा है। तीनों कूटों के अंतिम माया

बीज से यही बात झलकती है कि तीनों स्तर शक्ति अथवा माया के ही रूप हैं, जो ईश्वर के आश्रय से उदय अस्त होती रहती है। आदि शक्ति को वेदों में श्री संज्ञा दी गई है। इसलिए इस विद्या का नाम श्री विद्या अर्थात ब्रह्म की श्री की विद्या प्रसिद्ध है जो ब्रह्म विद्या ही है। देखे श्री सूक्त के १५ मंत्र। पंच-दषी में भी १५ ही अक्षर हैं। कहा है:—

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पक्त्न्याऽहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौव्यात्तम,....इत्यादि (यजुर्वेद)

अर्थातः—हे ईश्वर यह तेरी श्री लक्ष्मी तेरी पत्नि है, जिसके दिन रात्रि पार्श्व हैं, नक्षत्र रूप हैं, जिससे सब व्याप्त है।

श्री विद्या का एक रूप षोडशी विद्या भी प्रसिद्ध है, उसके भी कामादि षोडशी, रमादि षोडशी, मायादि षोडशी, वागादि षोडशी, तारादि षोडशी अवान्तर भेद हैं। ये भेद उस ही दृष्टि से समझे जाने चाहिये। जिसने काम से सृष्टि मानी, उसने कामादि की उपासना की। जिसने श्रीसे सृष्टि मानी उसने रमादि की, जिसने माया से सृष्टि मानी उसने मायादि की और जिसने शब्द से सृष्टि मानी उसने वागादि की उपासना की। तदनुसार उनके मंत्रों में बीजों का क्रम भी भिन्न-भिन्न होता गया। ये सब मंत्र लोम-विलोम क्रम से प्रभव और अप्यय उभयपर हैं।

श्री विद्या की उपासना अति प्राचीन है। शंकर भगवत्पाद भी श्री विद्या के उपासक थे यह बात असंदिग्ध है।

हकार से शिव और सकार से शक्ति का ग्रहण किया जाता है, जो महावाक्यों का मंत्रात्म स्वरूप है। सः जीव शक्ति है, और अहं का स्फुरण ब्रह्म की तेजोमयी अध्यात्म किरण है। हं शिव वाचक है, उसके पूर्व निषेधात्मक अकार लगा देने से उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। इसलिये सःहं, अथवा सोहं का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि सःजीव शक्ति, हं शिव स्वरूप है। ह, स. अथवा हंसः का अर्थ इसी प्रकार यह होता है कि शिव ही जीव बन गया है। इस प्रकार शिव तत्व का अहं वृत्ति के आधार पर तत्वानुसंधान करते-करते निषेधात्मक अकार का त्याग करके ब्रह्मलीनता प्राप्त करने के इस साधन क्रम को, अहंग्रह उपासना कहते हैं।

श्री विद्या गायत्री का भी तांत्रिक रूप समझा जाता है। वह निर्गुण ब्रह्म जगत का आदिकारण सविता अर्थात प्रसूता, जन्मदाता वरण करने के योग्य है, यह बात गायत्री के प्रथम पाद में कही गई है। वह ध्यान का विषय न होने के कारण वरेण्यम् है, ध्येयं नहीं, इसलिये उसकी तेजोमयी सत्ता 'भर्गस' का ही ध्यान संभव है। यह बात दूसरे पाद में कही गई है। बुद्धि ध्यान का यंत्र है, वह ध्यान द्वारा ब्रह्म में तल्लीनता होने को प्रवृत्त होनी चाहिये। इसलिये प्राणस्वरूप रूद्र की सहायता से उस पद की उपलब्धि की जिज्ञासा तीसरे पद में दिखाई गई है। गायत्री मंत्र का श्री विद्या से सम्बन्ध इसी विचार धारा से सिद्ध होता है। देखें त्रिपुरातापिन्युपनिषद्।

ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी ने भी श्री विद्या की उपासना की थी और उनके उपास्य मंत्र क्रमशः ब्राह्मी, वैष्णवी और शांकरी विद्याओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्री विद्या का स्थूल शरीर श्री चक्र है, जिसमें महात्रिपुर सुंदरी का निवास स्थान है। इसलिये श्री चक्र ब्रह्माण्ड का प्रतीक है और मनुष्य देह भी श्री चक्र ही है। श्री चक्र में चार शिव कोण और पांच शक्ति कोण होते हैं। (देखे श्लोक ११) दोनों के योग से ही सम्पूर्ण चक्र बनता है, इनके योग के अभाव में केवल केन्द्रीय बिन्दुमात्र रह जाता है जो परशिव प्रतीक है।

श्री चक्र

दूसरे श्लोक में सर्व शक्तिमान परमेश्वर की अनंत शक्ति की महानता दिखाते हैं।

(२)

"तनीयांसं पांसुं तव चरणपंकेरुहभवं
विरिञ्चिः संचिन्वन्विरचयति लोकानविकलम्।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां
हरः संक्षुद्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम्।

तनीयांसं = छोटा, पांसु = कण

अर्थ—"तेरे चरण कमल से उत्पन्न होने वाले छोटे से एक रजकण को चुनकर ब्रह्मा बिना विकलता के लोक लोकान्तरों की रचना करता रहता है और शेषनाग उसको जैसे तैसे अर्थात बड़े परिश्रम से सहस्र शिरों पर उठा रहा है

(धारण कर रहा है) और हर उसकी भस्म बनाकर अपने अंग पर लगाते हैं" ॥२॥

[शक्ति अनन्तता इस श्लोक में दिखाई गई है। उसकी सापेक्षता से ब्रह्मा, शौरि (शेष) और हर की शक्तियां तुच्छ हैं, क्योंकि वह अनन्त ब्रह्माण्डों की स्वामिनी है, और ये एक ब्रह्माण्ड के ही अधिदेव हैं।]

विरिञ्चः या विरञ्चिः ब्रह्मा को कहते हैं, और शौरिः विष्णु का नाम है। शेषशायी नारायण की शय्या बनाने वाला शेष नाग भी नारायण की ही शक्ति का एक रूप है। विष्णु के साथ राम कृष्ण दोनों अवतारों में लक्ष्मण और बलभद्र शेष के अवतार माने जाते हैं। योग दर्शन के सूत्रकार ऋषि पतञ्जलि को भी शेष का ही अवतार कहा जाता है, जिन्होंने शरीर के स्वास्थ्य के लिये चरक संहिता, व्याकरण की शुद्धि के लिये पाणिनि सूत्रों पर महाभाष्य और मनोनिरोध के लिये योग दर्शन की रचना की है। यहां उन शेष को विष्णु का ही एक नाम देकर नामांकित किया गया है।

अणुकारणवाद, प्रधानकारणवाद और विवर्तवाद

कणाद के वैशेषिक दर्शन और गौतम के न्याय दर्शन के मतानुसार सृष्टि का उपादान कारण परमाणु हैं, इसीलिये वे अणुवाद के समर्थक हैं। सांख्य और योग दर्शन सृष्टि का उपादान कारण मूल प्रकृति को मानते हैं। मूल प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं, इसलिये सांख्य और योग दोनों प्रधान कारणवादी हैं, बे अणुवाद का खंडन करते हैं। प्रधान में

तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है। विषमावस्था में वह ही महत तत्व कहलाता है, परन्तु वह आधुनिक वैज्ञानिकों की सृजन शक्ति (Cosmic-Energy) से सूक्ष्म तत्व है, क्योंकि मन और इंद्रियां भी उसी के विकार हैं। (Psychic Forces) अर्थात मानसिक शक्तियां भौतिक सृजन शक्ति (Cosmic-Energy) के विकार नही समझे जाते। **वेदांत सृष्टि का आदि कारण ईश्वर की इच्छा शक्ति को मानता है** और जड प्रधान कारणवाद और अणुवाद दोनों का खंडन करता है, परन्तु इस श्लोक में शंकर भगवत्पाद ने तीनों वादों का समन्वय करते हुवे वेदान्त के इच्छा शक्ति वाद का ही समर्थन किया है।

'पांसु' अणुवाद की ओर संकेत करता है, 'चरण पंकेरुह' जड प्रधान कारणवाद की ओर, और 'तव' पद महा त्रिपुर सुन्दरी इच्छाशक्ति की ओर संकेत करता है। भगवती के चरणों को कमलों से उपमा दी गई है, कमल कीचड में उत्पन्न होता है, इसलिये उसको 'पंकेरुह'—अर्थात कीचड में उत्पन्न हुआ कहा गया है। यहां इच्छाशक्ति को तमोगुण की शक्ति होने के कारण, उसके घनीभूत होने पर जडावस्था में परिणत होने को पंक से उपमित किया है और उस घनीभूत तमोगुणी इच्छाशक्ति की स्थूल कीचड से जो कमल खिलते हैं, वे ही सद् और असद् विद्या-रूपी दो चरण है। उनकी धूल कमलों की रज है। रज तो बाहर से चरणों पर जम जाती है, परन्तु जैसे कमलों की पराग रूपी रज कमल से ही उत्पन्न होती है, वैसे ही यह पांसु कण भगवती के चरणों से उद्भूत है। अर्थात इच्छाशक्ति की स्थूल घनीभूत अवस्था प्रधान कारणवादियों

का प्रधान है और वह ही परिणत होकर अणुओं का रूप धारण कर लेती है। आधुनिक विज्ञान वादियों के विद्युदाणुओं (Electrons) को सृष्टि का कारण मानें तो उनके केन्द्रीय (Protons) अणुओं को किसी जडशक्ति (Cosmic Energy) का अणुपरिणाम (granulaticn) मानना पडेगा, और उस सृजनशक्ति (Cosmic energy) को परमात्मा की आदि इच्छाशक्ति का परिणाम समझना चाहिये।

शेष और कुण्डलिनी

सर्व शक्तिमान की शक्ति का माप नहीं किया जा सकता, वह अनन्त है, और उसकी रचना में अनेक ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड के पृथकर हरि, हर और ब्रह्मा हैं। प्रत्येक ब्रह्मा जितनी शक्ति अपने ब्रह्माण्ड को बनाने में खर्च करता है, वह सब अनन्तशक्ति का अति स्वल्प भाग है, अर्थात दो एक कण के ही तुल्य है। क्योंकि अनन्त वस्तु कभी सान्त (Limited) नही होती, यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है। एक वट के बीज में कितना बडा वृक्ष निहित है, इतना ही नहीं प्रत्येक बीज में अपने जैसे बीज असंख्यों की गिनती में बनाने की शक्ति रहती है। अर्थात प्रत्येक बीज में अनन्तशक्ति भरी हुई है। अणुबम का चमत्कारी प्रभाव अब सबको विदित है। न जाने एक-एक अणु से क्या-क्या हो सकता है। परमात्मा की अनन्त शक्ति, अणु-अणु में अनन्त ही परिपूर्ण है। अनन्त भण्डार से प्रवाहित शक्ति सक्रिय (dynamic) होकर अनन्त कार्य करके भी समाप्त नही होती, वरन अनन्त ही बच रहती है। यदि सब समाप्त हो जाय, तो वह अनंत पद वाच्य

नहीं। ब्रह्माण्ड की रचना करके जो अनंत शक्ति बच रहती है, वह आणविक रूप धारण करने के लिये मानो कुण्डलों में घूमने लगती है और उसके कुण्डलाकृति रूपों के कारण उसको सर्प से उपमा दी जाती है। उसे अथर्व वेद में उच्छिष्ट ब्रह्म कहा है। (देखें अथर्व वेदीय उच्छिष्ट सूक्त) और पुरानों में उसे ही नारायण की सेज बनाने वाला शेष (बचा हुआ) कहा है, उसको अनंत भी कहते हैं। उस शेष या उच्छिष्ट शक्ति का ब्रह्माण्ड के धारण करने में उपयोग होता है। मानो वह ब्रह्माण्ड को अपने हजार फणो पर धारण किये हुवे है। शेष शक्ति विश्व को धारण करती है इसलिये उसकी संरक्षक और आधार होने के नाते विष्णु नारायण का ही रूप है।

' सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारोहि कुण्डली ॥

अर्थ—जैसे सब पर्वत वनों को धारण करने वाले लोकों का आधार शेषनाग अहिराट् है, वैसे ही सब योगतन्त्रों का आधार कुण्डली (कुण्डलिनी शक्ति) है। पिण्ड शरीर की रचना के उपरांत जो शक्ति बच रहती है, वह मूलाधार में शरीर को धारण किये हुवे प्रसुप्तवत पडी रहती है, इसलिये उसको आधार शक्ति भी कहते हैं, उसी को कुण्डलिनी कहते हैं, यह ही शक्ति जाग कर प्रतिप्रसव क्रम का आरम्भ करती है और सब तत्त्वों को लयाभिमुख करती हुई शिव में लीन होने सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार में चढने लगती है। मानों सब तत्वों को भस्म करके, शिवजी के अंग की विभूति बना देती है—यह लय क्रम मोक्ष मार्ग है—जैसा कि भस्म लगाने के मन्त्र में कहा जाता है—

" अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योमेति भस्म, देवा भस्म, ऋषयो भस्म, सर्वे ह वा एतादिदं भस्म, पूतं पावनं नमामि सद्यः समस्ताघ शासकम् ! "

श्लोक में 'पांसु' 'एनं' शब्दों में एकवचन का प्रयोग किया गया है, न कि बहुवचन का। इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि प्रत्येक अणु में भगवती के चरण हैं।

वह है विश्वतश्चक्षुरूत विश्वतोमुखी विश्वतोहस्ता उत विश्वतस्पात् ॥

अर्थात प्रत्येक परमाणु अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है।

तीसरे श्लोक में यह बताया गया है, कि भगवती की उपासना मुमुक्षुओं के अज्ञान का नाश करती है और सकाम उपासकों की सब कामनायें पूर्ण करती हैं। अर्थात भगवती भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रदान करती है।

[३]

अविद्यानामन्त स्तिमिर मिहिरोद्दीपनेकरी
जडानां चैतन्यस्तवकमकरन्दस्रुतिझरी।
दरिद्राणां चिन्तामणिगुणनिका जन्म जलधौ
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवती ॥

१. पाठान्तरः—(द्वीप नगरी)

कठिन शब्दों के अर्थ.— अन्तस्तिमिर=हृदय अथवा अन्तःकरण का अंधकार; मिहिर=सूर्य, चैतन्यस्तबक=ज्ञानरूपी चेतन गुलदस्ता; स्रुति=स्रोत, प्रवाह: झरी=झरना; गुणनिका=माला; मुररिपुवराह= विष्णु का वाराहावतार।

अर्थः—तू अविद्या में पड़े हुओं को हृदयान्धकार को हटाने के लिये (ज्ञानरूपी) सूर्य का उद्दीपन करने वाली है, जड मनुष्यों के लिये चैतन्यस्तवक से निकलने वाले मकरन्द के स्रोतों का झरना है, दरिद्रियों के लिये चिन्तामणियों की माला है और जन्ममरण रूपी संसार सागर में डूबे हुओं को विष्णु भगवान के वाराहावतार के दांत के सदृश उद्धार करने वाली है।

सं० टि०—शक्ति की उपासना से अज्ञान का नाश होता है, दरिद्रियों को धन मिलता है, जडता का नाश होता है और वह संसार सागर में डूबतों को सहारा है।

विद्या और अविद्या

मुण्डकोपनिषद् में परा और अपरा नाम की दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष सबको अपरा विद्या के अन्तर्गत माना गया है और जिस विद्या से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, उसे परा विद्या कहते हैं। अपरा विद्या के जानने वालों को विद्वान नहीं कहा जाता, क्योंकि वे अविद्या में ही पड़े रहते हैं। कर्मकांड और

उसका सब विस्तार अविद्यामय ही है, उससे ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। ब्रह्मप्राप्ति के जिज्ञासु मुमुक्षु उसका परित्याग करके पराविद्या की शरण ग्रहण करते हैं और वे पराविद्या के अन्वेषक ही विद्वान कहलाने के योग्य हैं।

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥ मु.(२.७)
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथांधाः॥८
अविद्यायां वहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥९
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥१०
तपःश्रद्धे येह्युपवसंत्यरण्ये शांता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतःस पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥११

अर्थः—ये १८ प्रकार के यज्ञयागादि अनुष्ठान अदृढ और अस्थिर हैं, और उनमें जो कर्म किये जाते हैं, वे श्रेय नहीं। जो मूढ इनको श्रेय समझ कर उनमें आनंदित होते हैं, वे जरामृत्यु में बार-बार आते हैं। अविद्या में पड़े हुए, अपने को बुद्धिमान और पंडित मानने वाले, अंधों से ले जाये जाने वाले अंधों के सदृश वे मूढ जंघन्य हैं। अनेक प्रकार से अविद्या में पड़े हुए वे बाल सदृश ऐसा कहते हैं कि हम कृतार्थ हैं। क्योंकि उनको कर्मों में राग रहने

के कारण वैराग्य नहीं होता, उससे आतुर वे लोग क्षीणपुण्य होने पर स्वर्ग से गिरा दिये जाते हैं। इष्टापूर्त कर्मों को श्रेष्ठ मानने वाले वे मूढ यह समझते हैं कि उससे अन्य कोई श्रेय का मार्ग नहीं है। वे स्वर्ग में अपने पुण्यों को भोग कर इस लोक में अथवा इससे भी हीनतर लोकों में प्रवेश करते है। परन्तु जो तप और श्रद्धा से युक्त होकर बनों में रहते हैं, शांत हैं, विद्वान हैं और भिक्षा से जीवन निर्वाह करते हैं, वे निष्पाप होकर सूर्यद्वार (सुषुम्ना मार्ग) अथवा देवयान मार्ग से वहां जाते हैं, जहां वह अमर अविनाशी परम पुरुष मिलता है।

यज्ञयागादि कर्मों के अनुष्ठान और कूपतडाग धर्मशाला इत्यादि का बनवाना, ऐसे इष्टापूर्त कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मोक्ष नहीं मिलती। स्वर्ग में अपने-अपने पुण्यार्जित भोगों के समाप्त होने पर वहां से उनको इस मर्त्यलोक में गिरा दिया जाता है। इसलिये सब सकाम अनुष्ठान और यज्ञों के कर्मकांड का विस्तार अविद्या कहलाता है। कर्मनिष्ठी मनुष्य कर्म को ही मोक्ष का साधन जानते हैं और उनके अनुष्ठानों में आसक्ति के साथ लगे रहते हैं इनके हृदयों में अनेक कामनायें उठा करती हैं और भगवान के भजन और अनेक प्रकार के अनुष्ठानों के द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति मांगा करते हैं। इस प्रकार मोहांधकार से उनका अन्तःकरण अन्धकार मय रहता है, यद्यपि वे शास्त्रीय ज्ञान के धुरन्धर पंडित क्यों न हों। जब तक मन की वृत्तियां बहिर्मुखी रहती हैं, आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं दिखता।

कुण्डलिनी शक्ति जाग कर जब सुषुम्ना पथ में छओं चक्रों का वेध करती हुई सहस्रार में शिवसायुज्य पद पर आरूढ होने जाती है, तब प्रतिप्रसव क्रम द्वारा सब इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर देती है, मन के परों को काट डालती है, और वुद्धि को जगत के बहिर्चिन्तन से विश्रांति देने लगती है, और अन्तरात्मा रूपी सूर्य पर छाये हुए वादल एक-एक कर के विलीन होने लगते हैं। हृदयाकाश निर्मल और स्वच्छ हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश अन्तराकाश में पूर्ण तेज से युक्त होकर चमकने लगता है। अविद्या का गाढ अन्धकार फट जाता है और अन्धेरे में बसेरा करने वाली वासना रूपी चिमगीदड़ों अथवा काम क्रोधादि उलूकों के ठहरने का कहीं स्थान नहीं रहता, और वे वहीं वैठे वैठे ज्ञान रूपी सूर्य के तेज से समाप्त हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से शंकर भगवत्पद कहते हैं कि भगवती अविद्यांधकार को नष्ट करने के लिये ज्ञानरूपी सूर्य का उद्दीपन करती है। दूसरा भाव यह भी है कि सूर्य मण्डल में अधोमुखी सूर्य शक्ति जागरण के पश्चात उन्मुख होकर अमृत का स्राव करने लगता है और परिणाम स्वरूप वहिर्विषयों की वासनायें स्वयं शांत हो जाती हैं। उसका फल यह होता है कि कर्मानुष्टानों में रत, अविद्या के अन्धकार में पडे हुए कर्मकांडी वहिरनुष्ठानों का तिरस्कार कर के अन्तर्याग में लग जाते हैं। क्योंकि भगवती की चिन्मयी वाटिका के पुष्पों से प्रवाहित मधुर मकरन्द के स्रोतों के झरने जड लोगों की जडता को भी द्रवीभूत करने का सामर्थ्य रखते हैं। भगवती की चिन्मयी सत्ता ही तो नाना भेद रूपा सृष्टि के प्रभव काल में स्थूल सूक्ष्म जगत् का स्वांग भर लेती है, और प्रतिप्रसव क्रम के आरम्भ होने पर सब नाम

रूपों को अपने में विलीन करती हुई शिव के निष्कल रूप से सायुज्यता का आलिंगन कर के स्वयं शिव स्वरूप हो जाती है। जीव की जडता पानी होकर बह जाती है और वह चैतन्य गंगा में स्नान करने लगता है।

आत्मा असंग है, उसका जड प्रकृति अथवा उसके विकारों से तादात्म्य नहीं होता। स्थूल सूक्ष्म शरीर पर आत्मा की चेतना का प्रकाश अवश्य दृष्टिगोचर होता है, परन्तु आत्मा कभी शरीर नहीं बनता, वह सदा असंग है। देहाभिमान द्वारा केवल भ्रांति मात्र का स्फुरण हो उठा है कि मैं देह हूं। क्या चेतन स्वरूप आत्मदेव कभी जड देह बन सकता है? यदि वह देह बन गया होता तो जागरण में अनुभव में आने वाला शारीरिक कष्ट स्वप्न में भी बना रहना चाहिये था, परन्तु वह ही एक आत्मा जागृत और स्वप्नावस्था के सुखदुःख अलग-अलग भोगता है, और गाढ निद्रा में सब छूट जाते हैं। तीनों अवस्थाओं का पृथक-पृथक योग होने से उनके भोगों की अनुभूति भी पृथक २ होती है। स्वभाव से असंग आत्मा में कष्ट पीडा वेदनादि का सर्वथा अभाव है, परन्तु जब वह देह से संगी होता है उसको देह के धर्मों का भी भोग अनुभव गम्य होने लगता है। देहाध्यास ने मानो उसे अपने स्वरूप से गिराकर उसमें शरीर की जडता के अध्यारोपण की भ्रांति उत्पन्न कर दी है। देहाध्यास जितना दृढ होता जाता है, उतनी जडता की भी वृद्धि होती जाती है। मनुष्यों से पशुओं और पशुओं से उद्भिजों में अधिक जडता देखने में आती है। मनुष्यों में भी अन्तर होता है, कोई कोई थोडे से कष्ट से विह्वल हो उठते हैं, उनमें जडता अधिक

है, और कोई कोई इतने तितिक्षु होते हैं कि महान कष्टों की भी परवाह नहीं करते, उनमें जडता कम समझनी चाहिये। शरीर के योग से ही आत्मा का स्वाभाविक आनन्द स्वरूप तिरोहित हो गया है। जितना मनुष्य देहवृत्ति का त्याग कर के आत्मस्थिति में ऊंचा उठ जाता है, उसे शारीरिक कष्ट उतना ही कम सन्ताप पहुंचाते हैं, और उसके आनन्दानुभव की वृद्धि होती है। कुण्डलिनी शक्ति जागकर पांचों तत्वों और मन का वेध कर के जड चेतन की ग्रंथियों को खोल देती है, तब साधक का देहाध्यास शिथिल हो जाने पर वह आत्मस्थिति की उच्च भूमिकाओं का अनुभव करने लगता है और आनन्द की लहरें उसकी प्रत्येक नाडी में प्रवाहित होने लगती हैं।

चैतन्यस्तबक मकरन्दस्रुतिझरी का संकेत मधुप्रतीका भूमिका के लिये भी हो सकता है, जो ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होने पर आती है। चैतन्य का अर्थ मंत्र-चैतन्य भी ग्रहण किया जा सकता है, उस पक्ष में श्री विद्या के मंत्र को स्तबक और मंत्र के अनुष्ठान द्वारा कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से प्राप्त होने वाले दिव्यानन्दावेश का प्रवाह मकरन्द के स्रोत की झरी से उपमित किया जा सकता है। मंत्र चैतन्य का लक्षण योगशिखोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है।

यदानुध्यायते मंत्रं गात्रकंपोऽथ जायते। ७०।

अर्थात् जब मंत्र का ध्यान किया जाता है, तब गात्रों में कंप का अनुभव होना चाहिये। कंप शक्ति के सक्रिय होने पर हुआ करते हैं, और उस कंप में दिव्यानन्द की लहरें प्रवाहित होती हुई

अनुभव में आती हैं, जिससे सिर में आत्मानन्द की मस्ती प्रदान करने वाला नशा सा चढ जाता है। मंत्र चैतन्य का अर्थ मंत्रयोग द्वारा शक्ति का जागरण ही समझना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर शरीर की जडता, आलस्य, भारीपन इत्यादि दोष तत्क्षण दूर हो जाते हैं। श्री विद्या के अक्षरों की चिन्तामणियों से और मंत्र की चिन्तामणियों की माला से भी उपमा दी जा सकती है। भगवती का अनुग्रह मुमुक्षुओं को मोक्ष देता है और सकाम उपासना करने वालों की अभीप्सित् कामनाओं को पूर्ण करता है, इसलिये कहा है कि भगवती दरिद्रियों के लिये चिन्तामणियों की माला के सदृश है। एक चिन्तामणि इन्द्र लोक में है जो कल्प वृक्ष के सदृश सब ही कामनाओं को पूर्ण करती है, परन्तु पंचदशी मंत्र में १५ और षोडशी में १६ अक्षर उतनी ही चिन्तामणियों के तुल्य हैं, जो उपासकों की सब ही कामनाए पूर्ण करते हैं।

इस श्लोक से हादिविद्या का प्रथम कूट इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है। मिहिर से हकार, मकरंद की सोमसदृश उपमा से सकार, चिन्तामणि से सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला ककार और वराहावतार के महीउद्धार सदृश पृथिवी वीज का लकार और 'भगवती' पद से भगवती का शाक्षात् हृल्लेखा अक्षर समझना चाहिये, एक कूट सिद्ध होने से पूरा मंत्र ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि इस विद्या के तीनों कूट इन ही अक्षरों से बनते हैं। आगे चल कर श्लोक ३२ के नीचे यह दिखायेंगे कि शंकर भगवत्पाद की इष्ट विद्या हादि विद्या ही थी। इसलिये इस श्लोक में भगवती के गुणानुवाद के साथ-साथ उस विद्या का रूप भी बता दिया गया

है। हादि विद्या से ही चतुष्कूटी शांकरी विद्या का भी निर्माण होता है, और त्रैलोक्य मोहन कवच में उससे पाताल लोक से रक्षा होने का उल्लेख मिलता है, इसलिये यहां 'मुररिपुवराहस्यदंष्ट्रा' कहने से स्पष्ट हादि विद्या की ओर संकेत दिख पडता है।

भगवान ने मुर राक्षस का वध किया था, इसलिये उनका एक नाम मुरारि अथवा मुररिपु भी प्रसिद्ध है, इसलिये मुररिपुवराह का अर्थ बाराह अवतार है। भगवान ने वराह का रूप धारण कर के पाताल से दांतों पर भूमि को उठाकर ऊपर निकाला था और उसे उसके स्थान पर अपनी आधार शक्ति प्रदान कर के स्थापित किया था। उसी प्रकार कुण्डलिनी रूपी आधार शक्ति के जागने पर भगवती जन्म मरण रूपी संसार सागर में डूबे हुओं का उद्धार करती है। बाराह भगवान का बीज मंत्र 'हूं' है अर्थात हूं बीज का प्रयोग करने से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह बाराह भगवान के दांत के सदृश जीवों को संसार सागर से बाहर निकाल लेती है।

मुररिपुवराहस्य दंष्ट्रा

मुरारि विष्णु भगवान ने वराह अवतार धारण कर के पाताल में धसती हुई पृथिवी को उभारा था। मूलाधार पृथिवी तत्व का स्थान है और चरण पाताल के स्थान माने जाते हैं। जीव ने पार्थिव शरीर में अध्यस्त होकर अपने को अन्धकार में डाल रखा है, जितना-जितना वह मूलाधार से ऊपर उठता जाता है, उसका अध्यास सूक्ष्म होता जाता है और सहस्रार में पहुंचकर सर्वथा मुक्त हो जाता है। इसलिये जन्ममरण रूपी संसार की पाताल रूपी दल-दल से निकलने के लिये, उसे भगवती की वैष्णवी बाराही शक्ति का

आश्रय लेना चाहियें। वाराही शक्ति अथवा वाराही विद्या का वर्णन वाराहोपनिषत् में मिलता है, वहां ब्रह्म विद्या को ही वाराही विद्या कहा है। देखें वाराहोपनिषत् (अतस्त्वद्रूपप्रतिपादितां ब्रम्हविद्यां ब्रूहीति हो वाच) (१,१) अर्थात ऋभु ऋषि वाराह भगवान से प्रार्थना करते हैं कि आप अपने रूप से प्रतिपादित ब्रह्म विद्या कहिये। भावनोपनिषत् में वाराही शक्ति को पिता समान दिखाया है, देखें परिशिष्ठ (१)। मूलाधार से भी नीचे अधिक अन्धकार के स्थान हैं। मूलाधार और स्वाधिष्ठान को अन्धकारमय आग्नेय मंडल माना जाता है। यदि शरीराध्यास की वृद्धि होती जाय तो जीव अधिकाधिक जडता में उतरता जाता है। पातालादि निम्न लोको को घनांधकारमय माना जाता है। ईशावास्योपनिषत् में यह बात यजुर्वेदीय निम्नोद्धृत मंत्र द्वारा इन शब्दों में कही गई है।

असुर्या नाम ते लोका अंधेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

अर्थः— अन्धकार से आवृत्त जो आसुरी लोक हैं, उनको आत्म हनन करने वाला मनुष्य मरकर जाता है।

जड पार्थिव शरीर में आत्म भावना के दृढ अध्यास को ही यहां आत्म हनन कहा गया है। आत्म स्वरूप को जानने के लिये इस अध्यास से उभरना अनिवार्य है और वाराही शक्ति का आश्रय लेकर उससे ऊपर उठा जा सकता है, यह भाव इस श्लोक की अन्तिम पङ्क्ति में दिखाया गया है।

[४]

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगण—
त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया ।
भयात्त्रातुं दातुं फलमपि च वांछासमधिकं
शरण्ये लोकांना तवहि चरणावेव निपुणौ ॥

अर्थः— तेरे सिवाय अन्य सब देवतागण दोनों हाथों के अभिनय से अभयदान और वरदान देते हैं । तू ही एक ऐसी है जो अभयदान अथवा वरदान देते समय हाथों का अभिनय नहीं करती । भय से त्राण करने में और वांछा के अनुकूल वर प्रदान करने में, हे लोकों की शरण्ये ! तेरे दोनों चरण ही निपुण हैं ।

सं० टि०— इस श्लोक में भगवती की उपासना के लिये 'ऐं क्लीं सौः' इस बाला मंत्र का संकेत है, जो भुक्ति मुक्ति दोनों देता है ।

वर अभिनय

देवता दो प्रकार से अनुग्रह करते हैं, १. अभयदान देकर और २. वरप्रदान करके । वरदान से मनोवाञ्छित् कामना की सिद्धि होती है । दोनों प्रकार के अनुग्रहों को हाथों के अभिनय से प्रकट किया जाता है । दक्षिण हाथ उठा कर अभयद अभिनय किया जाता है और बायें हाथ को जैसे सिर पर रखते हैं, नीचे झुकार कामना सिद्ध्यर्थ वरद अभिनय किया जाता है । सब देवता और सब गुरुजन इस प्रकार ही

अनुग्रह करने की इच्छा से दोनों हाथों के अभिनयों द्वारा अपनी इच्छा प्रकट किया करते हैं। परन्तु भगवती की शरण में सब लोक हैं, भक्त में शरणागति का भाव उदय होते ही, उसकी कामना पूर्ण होती है। और भगवती चारों हाथों में इक्षुधनुः, ५ बाण, और अंकुश एवं पाश धारण किये हुए है इसलिये वह हाथों का अभिनय नहीं करती, परन्तु दोनों चरण ही भय से रक्षा करने में और सब कामनाओं के लिये सिद्ध वरदान देने में निपुण हैं। कराभिनय द्वारा वर देने की इच्छा को किसी प्रकार प्रकट करने की क्या आवश्यकता है? जो मनुष्य अनन्य भाव से शरण में आता है उसकी सब कामनाएं स्वयं पूर्ण हो जाती हैं और सब प्रकार के भयों से उसकी रक्षा हो जाती है।

दारिद्र्य दुःख भय हारिणी का त्वदन्या,
सर्वोपकार करणाय सदार्द्रचित्ता।

शास्त्रों में भगवती को अग्नि के रूप से हवन द्वारा प्रसन्न करने का विधान देखने में आता है। जंगलों में हिंसक पशुओं के भय से रक्षा के लिये प्रज्वलित अग्नि रखी जाती है। अग्नि की समक्षता से मनुष्य में अभय की भावना स्वतः जाग उठती है, यह सबका अनुभव है। अंधकार में भय लगता है, दीपक रहने पर भय नहीं लगता। रक्षार्थ दिग्बंधन के मन्त्र द्वारा भी प्रज्वलित अग्नि के परिकोट की भावना की जाती है। यथा:—

नमो भगवति ज्वाला मालिनी देवदेवि सर्व भूत संहार-कारिके जातवेदसि ज्वलंति ज्वल २ प्रज्वल २ ह्रां ह्रीं ह्रूं र र र र र र र हं फट स्वाहा, इति परितो बहिः परकारं ध्यायेत।

सब भयों का एक मात्र कारण यह दुःखालय संसार ही है।

भय का मूल कारण

यद्यपि विश्व में प्रकृति की रचना सौन्दर्य का घर है। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति देवी ने अपने स्वाभाविक सौंदर्य का प्रदर्शन करने के लिये ही इस विश्व की रचना की है। तारागण रूपी हीरे माणिक्यों से जटित आकाश जिसका मुकुट है, तेजःपुंज सूर्य चन्द्र और अग्नि जिसके तीन नेत्र हैं, अन्तरिक्ष जिसका वक्षःस्थल और विश्व की चित्रविचित्र विविध रचनायें जिसके श्रृंगार हैं, और जिसके रूप-लावण्य की छाया सर्वत्र बसी हुई है, जिसकी अंगप्रभा सर्वत्र चमक रही है, ऐसा यह विश्व उस भगवती के समस्त सौंदर्य राशि का विकास ही तो है। विश्व की एक-एक गौणकृति की चमकदमक पर पतंगवत मनुष्य मोहित हो जाता है। क्यों न हो? सौंदर्य का भूखा, आनन्द का प्यासा यह जीव एक-एक अणु की प्रभा में इतना आसक्त हो जाता है कि उसकी दृष्टि प्रकृति देवी के समष्टि सौंदर्य तक पहुंच पाती ही नहीं, उसकी एक देशीय मोहासक्ति ही उसके दुःख का कारण बन जाती है। दीपक ही पतंग की मृत्यु का कारण हो जाता है।

अग्नि भगवती का साक्षात् स्थूल स्वरूप है। भगवती के एक

बाला मंत्र

प्रणव का रूप ऐं भी है। 'ऐं' अग्नि तत्व का अक्षर है, और सुशुम्ना नाडी से संबंधित है, सुशुम्ना को भी अग्नेय माना जाता है। ऐं बीज को वाक् बीज भी कहते हैं, वाक् शक्ति को भी अग्निमयी कहते हैं। 'तेजोमयी वाक्' ऐसी श्रुति है। ऐं का त्रिकोणाकृति भाग शक्ति का द्योतक

है। भगवती का तीसरा नेत्र जो भ्रुकुटि के ऊपर स्थित है, वह भी अज्ञेय है, जिसके एक कटाक्ष से संसार रूपी भवसागर के भय से मुक्ति मिलती है। इसलिये ब्रम्हाजी ने मधु कैटभ से भयभीत होकर इस ही बीज द्वारा भगवती की आराधना की थी। कामनाओं की सिद्धि के लिए काम बीज का प्रयोग किया जाता है। जिसके गर्भ में आद्योपान्त सारा विश्व है। (देखें श्लोक १९.)

भगवती के दोनों चरण सर्वशक्तिसामर्थ्य युक्त हैं, उनका प्रतीक सौः बीज समझा जाना चाहिये। 'स' अक्षर शक्ति वाचक माना जाता है, दो सकारों के लिये द्विवचनान्त 'सौ' पद दोनों चरणों का संकेत करता है, विसर्ग भी शक्ति का ही द्योतक है। इस प्रकार सौः बीज से भगवती के दोनों चरणों की सर्व शक्ति-मत्ता प्रकट होती है। और तीनों बीजों से बाला का सब भयों से मुक्ति और मन वांछित कामनाओं की सिद्धि देने वाला मंत्र सिद्ध होता है। ऐसे ही नवार्ण मंत्र को भी जानना चाहिये।

काम देव सब प्रकार के मोहों का राजा है, जो तपस्वी ज्ञानियों के चित्त पर भी प्रहार किये बिना नहीं रहता। मुमुक्षुओं को उससे अपनी रक्षा करने के लिये, सब भयों से त्राण करने वाले भगवती के चरणों की ही शरण में जाना चाहिये, दूसरा कोई मार्ग बचने का नहीं है। यह बात आगे के तीन श्लोकों द्वारा कही गई है।

[५]

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं

पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।

स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम् ॥

अर्थः— हरि (विष्णु भगवान) ने पूर्व काल में, प्रणत जनों को सौभाग्य प्रदान करने वाली तेरी आराधना कर के नारी का मोहिनी रूप धारण कर, त्रिपुरारि महादेव के भी चित्त में काम का क्षोभ उत्पन्न कर दिया था। और काम देव स्मर भी तुझ को नमन करने के कारण ही अपनी पत्नी रति के नयनों द्वारा चुंबन किये जाने वाले शरीर से बडे बडे मुनियों के भी अन्तःकरण में मोह उत्पन्न कर देता है।

सं० टि० श्री अच्युतानन्दजी प्रणतजनसौभाग्यजननीं को प्रणत-जनसौभाग्यजननि ईं पढकर श्लोक का अर्थ इस प्रकार करते हैं:— हे प्रणत जन सौभाग्य जननि हरि तेरी ईं रूप से आराधना कर के मोहनी का रूप ग्रहण करते हैं। ईं काम कला है और कादि विद्या का तीसरा अक्षर है और अनुस्वार (शिव) सहित माया, लक्ष्मी और काम बीजों में रहता है। इस श्लोक से साध्य सिद्धासन विद्या (ह्रीं क्लीं ब्लें) का उद्धरण किया जाता है।

पुराणों की गाथा के अनुसार देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र का मथन किया था, मथन करने पर समुद्र से अनेक पदार्थ निकले, जिनके साथ अमृत और हलाहल विष भी निकले थे, अमृत के बटवारे के लिये दोनों में विवाद उपस्थित हुआ इस पर विष्णु भगवान ने मोहिनी रूप धारण किया और अमृत का कलश

लेकर उसके बांटने का काम करने लगे। देव और असुरों को अलग-अलग दो पंक्तियों में बिठा दिया गया। मोहिनी के नेत्रों के कटाक्षों और अंगों के हावभावों से सब असुर मोहित हो गये और सारा अमृत देवताओं को बांट दिया गया। वे अमृत पीकर अमर हो गये और असुर मर्त्य रह गये। अमृत के पूर्व जो हलाहल निकला था, उसके प्रभाव से जब सारा विश्व जलने लगा, तब देव और असुर दोनों ही घबरा गये, उस समय करुणा सागर शंकर भगवान ने उसे पान कर के सब की रक्षा की थी, इसके पश्चात् शंकर एकांत में जाकर समाधिस्थ होकर बैठ गये। उठने पर उन्होंने जब मोहिनी रूप द्वारा असुरों के ठगे जाने की बात सुनी, तब विष्णु भगवान से उस मोहिनी रूप को देखने की इच्छा प्रगट की। भगवान ने वह रूप फिर शंकर को भी दिखाया। उसे देखकर शंकर इतने मोहातुर हुए कि काम के क्षोभ से अपने को भूलकर मोहिनी के पीछे दौड़ने लगे।

पुरा काल में कश्यप नाम के एक प्रजापति थे, वे कश्यप सागर के तट पर रहा करते थे। शायद वह कश्यप सागर योरोप और एशिया के मध्यवर्ती मधुर जलयुक्त महान सरोवर आधुनिक कैस्पियन सी ही हो। इसलिये इस पौराणिक गाथा को उस युग का स्मारक कहा जा सकता है, जब आर्य जाति मध्य एशिया में निवास करती थी। कश्यप देव की दो स्त्रियां थीं—दिति और अदिति। दिति की सन्तान दैत्य अर्था असुर हुए और अदिति की देव। पश्चिम में रहने वाली अनार्य जातियां दैत्य कहलाती थीं, और आर्य जाति के लोग देव कहलाते थे। दैत्यों को संस्कृत में दानव भी कहते हैं।

फारसी का दाना (बुद्धिमान) शब्द दानव का ही अपभ्रंश दिख पड़ता है और फारसी में देव शब्द बुरे अर्थों में ग्रहण किया जाता है। फारसी में देव शब्द विशाल भयंकर व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है, जिसे अंग्रेजी में जायंट giant कहते हैं। परन्तु योरोप की भाषाओं में देव शब्द ने अपना स्वरूप तद्रुप ही रखा है, जैसे डिवाइन, डियू (divine, dieu)। और संस्कृत में दोनों शब्दों का विपरीत और विरोधी अर्थ दोनों की विपरीत और विरोधी मनोवृत्तियों और संस्कृतियों पर प्रकाश डालता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस गाथा का महत्व समझने योग्य है, इसलिये उसे समझाना हम उचित समझते हैं। यह संसार एक महासागर है, जो अनेक रत्नों की खानि है। प्राकृतिक विज्ञान के बिषय ही बे रत्न है, जिनको प्राप्त करने के लिये ध्यान रूपी मथनी से उसका मथन किया जाता है। मथनी को घुमाने के लिये उसपर एक रस्सी लपेटी जाती है, वहां वासुकी नाग से यह काम लिया गया था। मन ही वह वासुकी नाग है, जिसने सारे जगत को डस रखा है। उसका मुख बहिर्मुखी और पूंछ अन्तर्मुखी हैं। मुख की ओर असुर बाह्य विषयों की ओर खेंचते हैं, और पूंछ की ओर से देवगण अन्तरात्मा की ओर खेंचते हैं। वृत्तियां भी आसुरी और दैवी विख्यात हैं। तब उस मनरूपी रस्सी को तानकर खेंचने से ध्यानरूपी मथन आरम्भ होता है। आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्य बहिर्विषयों पर ध्यान जमाकर भौतिक विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं और देवता अन्तरात्मा की आध्यात्मिक खोज के लिये चिंतन करते हैं। आत्म ज्ञान अमृत है, और भौतिक विज्ञान में

विष रहता है। आधुनिक वैज्ञानिक रहस्योद्घाटन का फल नश्वर है और उनका प्रयोग जगत के विनाश के लिये ही अधिक किया जाता है। जहां तक उनका संबंध संसारिक वैभव से है, वह भी मानव जाति के यद्यपि सुख की मात्रा बढ़ाने की इच्छा से किया जाता है, परन्तु सुख की वृद्धि के साथ दुःखों की भी वृद्धि करता है। सुख दुःख दोनों बराबरी के साथी हैं, दोनो एक ही सिक्के (मुद्रा) के दो पार्श्व हैं, और दोनों का मूल्य उस सिक्के के बराबर हैं। अन्तरात्मा में प्रविष्ठ होकर दोनों से मुक्ति पाना ही आध्यात्म मार्ग का ध्येय है। भगवान की मोहिनी माया बहिर्मुखी वृत्ति वालों को सदा अमृत पान से वंचित करती रहती है; यहां तक कि शंकर भगवान की भी समाधि कभी-कभी भंग हो जाती है। शंकर भगवान ने अमृत पान की इच्छा नहीं की, वे तो पूर्व से ही अमर थे, और विष को पीकर भी नहीं मरे, तो भी मोहिनी शक्ति की भ्रांति में कुछ समय के लिये वे भी आ ही तो गये, यह मोहिनी माया इतनी प्रबल है।

इसलिये मुमुक्षुओं को संसार सागर के रत्नों की प्रेयासक्ति छोड़कर, तितिक्षा सहित दुःखों को सहन करते रहना चाहिये। आत्मा अमर है, उसे कोई हलाहल मार नहीं सकता।

दुःखों से उद्विग्न न होना और सुखों की स्पृहा का त्याग करना ही स्थितप्रज्ञता का लक्षण है।

भगवान का भगवती की आराधना कर के मोहिनी रूप से भगवती के नारी सौन्दर्य का आश्रय लेना ही उसकी आराधना है।

हादि विद्या मोक्ष देती है, उसका प्रथम अक्षर ह कार शिव वाचक है। वैष्णवी विद्या में छः कूट होते हैं, प्रथम तीन कूटों में हादि विद्या ज्यों की त्यों है. और अन्य तीन कूटों के प्रथम दो कूटों में ह स के स्थान पर स ह और अन्तिम कूट में स ह पूर्व में जोड़कर षडाक्षरी कूट मंत्र बनाया गया है। इस प्रकार आधा मंत्र शिव प्रधान है और आधा शक्ति प्रधान कर दिया गया है।

भगवान का एक नाम हरि है। ह्+अ+र्+इ इनमें हकार शिव वाचक है, अकार भी ब्रह्मपद वाचक है— अक्षराणामकारोऽस्मि (गीता)। अकार को हटाकर, र में जो ह्रस्व इकार है उसे दीर्घ कर देने से ह्रीं पद बनता है। र कार अग्नि का अक्षर होने से शक्ति वाचक है और दीर्घ इकार भी, इस प्रकार ह्री (लज्जा) पद बनता है। उस पर अनुस्वार रूपी प्राण प्रतिष्ठा करने से मोहिनी माया का रूप बन जाता है। इस प्रक्रिया में पुरुष वाचक अकार को हटाकर और इकार को दीर्घ कर के स्त्रीलिंग बनाया गया है। ह्री का अर्थ लज्जा होने के कारण ह्रीं को मोहिनी रूप कहना यथार्थ ही है।

या देवी सर्व भूतेषुविष्णुमायेति शब्दिता नमस्तस्यैः ३ नमो नमः ॥

काम देव ने कादि विद्या मूल मंत्र की ही उपासना की थी।

साध्य सिद्ध विद्या

काम देव प्रजनन शक्ति का देवता है, और ईश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से ही उसका उदय होता है। भगवान ने भी कहा है कि धर्म के अविरुद्ध काम मेरा ही रूप है। परन्तु रजोगुण से उत्पन्न होने

के कारण सत्वगुण का वह बाधक भी है । रति उसकी पत्नि है। दोनों का रूप अति सुन्दर है, परन्तु काम देव का शरीर तो इतना सुन्दर है कि रति भी उसके रूप का अपने नेत्रों से सदा चुम्बन किया करती है, अथवा दृष्टि रूपी जिव्हा से उसके रूप का रसास्वाद लिया करती है । कामदेव का सामर्थ्य भी इतना अधिक है कि बडे-बडे मुनियों के चित्त को भी क्षुब्ध कर देता है । यह सब भगवती की उपासना का ही फल है, क्योंकि कादि विद्या की उपासना से रूप लावण्य सहित सब ही सिद्धियों की प्राप्ति होती है । ब्लें रति का मंत्र है व् और ल् उसके नेत्र हैं और ए शक्ति रूप है । उपरोक्त श्लोकोक्त वपुषा पद से व्. 'लेह्येत' पद से ले और 'महतां मुनिनाम्' पद से अनुसार लेकर उक्त बीज का उद्धरण किया जाता है, माया बीज और काम बीज के योग से अच्युतानन्द स्वामी ने इस श्लोक से 'ह्रीं क्लीं ब्लें' इस साध्य-सिद्ध मंत्र का उद्धार किया है । इस मंत्र से हृदय चक्र और महानाद के ऊपर शक्ति का न्यास किया जाता है । इसका फल सर्व सौभाग्य की प्राप्ति है जैसा कि 'प्रणत जन सौभाग्य जननीं पद से स्पष्ट है ।

अगले श्लोक में कामदेव के सामर्थ्य का वर्णन है ।

(६)

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकर मयी पंचविशिखा
वसंतः सामन्तो मलयमरुदायोधनरथः ।

तथाऽप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते ! कामपि कृपा—
मपांगात्ते लब्ध्वा जगदिदमनंगो विजयते ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः— विशिख=बाण, मौर्वी=रस्सी, अपांग=कटाक्ष।

अर्थः— धनुष्य पुष्पों का बना है, उसकी रस्सी (ज्या) भौरों की बनी है, शब्द स्पर्श रूप रस गंध पांच विषय उसके बाण हैं, वसन्त ऋतु उसका योद्धा सामन्त हैं, मलयागिरि का शीतल मंद सुगंधित पवन उसका युद्ध में बैठने का रथ है और वह स्वयं अनंग (शरीर रहित) है, ऐसा कामदेव ऐसे शस्त्रों को लेकर सारे जगत को अकेला जीत लेता है। हे हिमगिरि सुते ! यह सामर्थ्य केवल तेरे कटाक्ष से कुछ थोडी सी ही कृपा प्राप्त करने का फल है।

सं. टिः— इस श्लोक से काम बीज क्लीं का उद्धरण किया जाता है, काम से क कार, मलय से ल कार, मौर्वी से ई और पौष्प से अनुसार लेना चाहिये।

काम देव अनंग है, शंकर ने उसका देह भस्म कर दिया था।

काम दहन आख्यान

दक्ष प्रजापाति के यज्ञ में अपने पति का अपमान न सहन करने के कारण सती ने अपना देह योगाग्नि से भस्म कर दिया था। ठीक ही तो है, शिव द्रोही, मोहासक्त, प्रजा उत्पन्न करने में दक्ष, प्रजापतियों के देह से पैदा होने वाली वह सती शक्ति उनके सकाम यज्ञों में

अपने ईश्वर का निरादर कैसे सहन कर सकती है। प्रजापति से यहां हमारा अभिप्राय राजे महाराजाओं से नहीं है, हमारे विचार से तो प्रत्येक ग्रहस्थ जो बच्चे पैदा करने में ही कुशल है अपनी प्रजा का छोटा-मोटा प्रजापति ही है। अस्तु। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में सती के देह त्याग के पश्चात शंकर दीर्घकालीन समाधि लगाकर बैठ गये, और सती ने पर्वतराज हिमालय के घर जन्म ग्रहण किया। पार्वती ने शिवजी के साथ विवाह करने का हठ किया और उग्रतप करने लगी। तब देवाताओं ने काम देव को शिवजी की समाधि खोलने के लिये भेजा। कामदेव उपरोक्त सेना लेकर सशस्त्र शिवजी के स्थान पर पहुंचा, वहां वसंत ऋतु का प्रादुर्भाव हुआ, मलयागिरि की शीतल मंद सुगंधित वायु चलने लगी, पुष्प खिल गये जिन पर भौंरे गूंजने लगे और काम देव ने अपने पांचों बाणो का शिवजी पर प्रहार किया, बस शिवजी की समाधि खुल गई। उन्होंने सामने कामदेव को एक झाड के पीछे खड़ा देखा। उसको अपनी समाधि में विघ्नरूप देखकर शिवजी ने तीसरा ज्ञान नेत्र खोला और ज्ञानाग्नि से उसे भस्म कर दिया, तब से काम अनंग हो गया है। उसकी पत्नि रति ने पार्वती से अपना शोक सुनाया, भवानी ने कृपा कर के उसे फिर जीवित कर दिया। अब वह अनंग होने पर भी कामियों को अपने प्रभाव से पराजित कर के सारे जगत का विजेता कहलाता है। प्रभव के लिये मैथुनिक सृष्टि की आवश्यकता है, और काम के बिना सृष्टि प्रभव संभव नहीं। भगवान ने भी कहा है।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

परन्तु वह समाधि के लिये बहुत बडा विघ्न है, बडे-बडे योगियों को भी पथ भ्रष्ट कर देता है। जो शंकर की भी समाधि खोल सकता है, उसकी दुर्जयता प्रत्यक्ष ही है। काम वासना का क्षय ज्ञान के उदय होने पर ही होता है, इससे पूर्व नहीं। यह ही इस आख्यायिका का अभिप्राय है। श्लोक में काम को सारे जगत का विजेता कहने से, साधकों का लक्ष्य काम वासना के प्रभाव की ओर आकर्षित करना है, जो भगीरथ प्रयत्नों से भी शमन किया जाना कठिन है। परन्तु कामदेव का सारा सामर्थ्य भगवती के अति स्वल्प कृपा कटाक्ष का ही तो फल है, इसलिये मुमुक्षु साधकों को इस दुर्जय शत्रु से बचने के लिये भगवती की ही शरण में जाना चाहिये। भगवती के ध्यान मात्र से रक्षा हो सकती है।

इसलिये अगले श्लोक में भगवती का ध्यान बताया जाता है:—

[७]

क्वणत्कांचीदामा करिकलभ कुंभस्तन नता
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्र वदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधानाकरतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहो पुरुषिका ॥

कठिन शब्दों का अर्थ:— कांची=मेखला जो स्त्रियां कटि पर पहनती हैं। दाम=बंधनी, तगडी, कलभ=बच्चा, सृणि=अंकुश

अर्थः— कटि पर क्वण क्वण शब्द करने वाले घूंघुरुओं युक्त मेखला बांधे हुए, हाथी के बच्चे के मस्तक पर निकले हुए कुंभ सदृश स्तनों के भार से झुकी हुई, मध्य भाग में पतली, शरद ऋतु की पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे मुख वाली, चारों हाथों में धनुष, ५ बाण, पाश, और अंकुश धारण किये पुरारि की आहो पुरुषिका हमारे सामने (ध्यान में) रहें।

सं० टि० आहो पुरुषिका= पुरमाथितुः शिवस्य अहंकार रूपा। त्रिपुरारि अर्थात् जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीनों से अतीत ब्रह्म स्वरूप में अहम् विमर्ष का व्युत्थान होना यहां अभिप्रेत है। इस श्लोक से ब्लूँ बीज ग्रहण किया जाता है, बाण से बू, करतल से लू, मथितुः से ऊ और आस्तां से अनुस्वार।

देवताओं का ध्यान खडी हुई स्थिति में किया जाता है, इसलिये सनातन धर्मावलंबियों के मंदिरों में खडी मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि खडी स्थिति में उपासक की दृष्टि चरणों पर पडती है और बैठी हुई मूर्ति के मुख पर। ध्यान चरणों का ही अभीष्ट है, पूजन भी चरणों का ही करना चाहिये।

पुरारि या त्रिपुरारि शंकर को कहते हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन पुर हैं, शंकर तीनों अवस्थाओं के बैरी है, क्योंकि वे सदा समधिस्थ रहते हैं। मोक्ष ब्रह्म लीनता का नाम है, ब्राह्मी अवस्था में समस्त तीनों लोकों का एवं जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का लय हो जाता है। कहा है:—

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो नो महदादयोऽमी
न प्राणबुद्धीन्द्रिय देवतावा न सन्निवेशः खलुलोक कल्पः ।
न स्वप्न जागर्न हितत्सुपृप्तं नखंजलंभूऽनिलोऽग्निरर्कः
संसुप्त वच्छून्य वदप्रत्तर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥

श्रीमद्भागवत ।

अर्थः— जहां न वाक शक्ति है, न मन, न सत्व, तमोगु रजोगु न ये महदादि हैं । न कर्मेन्द्रियों अथवा ज्ञानेन्द्रियों के देवता हैं और निश्चय ही न लोकों की कल्पना रूपी प्रतीति । न वह स्वप्न है न जाग्रत और सुषुप्ति, न वहां आकाश, जल, पृथिवी, वायु, अग्नि या सूर्य है । सुषुप्तिवत् शून्यवत् अप्रतर्क्य ही व मूल-भूतपद है ।

माया का बन्धन

आहोपुरुषिका पद भगवती के लिये प्रयुक्त किया गया है । आहो आश्चर्य सूचक पद है, और पुरुषिका पुरुष का स्त्रीलिंग भाव वाचक पद है । अर्थात भगवती का रूप आश्चर्यमय है । आत्मा प्रकृति से असंग है, असंगोऽयमात्मा यह सांख्य वेदान्त का मूल सिद्धान्त है । परन्तु उपाधि से उस ही में संसारी जीवात्मशक्ति का भी भाव है । भगवान् ने उसे परा प्रकृति इसी नाते कहा है ।

अपरेयमितस्त्वन्यां विद्धि मे प्रकृतिं परां ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ गीता (७,५)

जैसे स्फटिक के ऊपर सन्निधि में आये हुए पदार्थों के रंग की छाया पडकर उसे अपने रंग से रजित कर देती है, वैसे ही

आत्मा भी प्रकृति के संसर्ग से संसारी पुरुष दिखने लगता है। पुरुषिका पद में यह ही भाव निहित है। माया कला के स्तर पर काल, कला, नियति, विद्या और राग इन पांच कंचुकों के आवरणों से स्फटिक सदृश आत्मतत्त्व सोपाधिक होने पर प्रकृति के रंग में रंगा हुआ दिखने लगता है, और भगवती महामाया मनरूपी इक्षु धनुष पर, जिस पर संकल्प रूपी भौरों की प्रत्यंचा चढी है, शव्द-स्पर्श रूपरस गंधात्मक पांच विषय रूपी बाणों को चढाकर पुरुष का आखेट करती है, राग रूपी पाश से बांधती है और क्रोध रूपी अंकुश से ताडन करती है। परन्तु उसका अंकुश भी मां का क्रोध होने के कारण खांड का बना हुआ है। इस प्रकार वह पुरुष को अपरा प्रकृति के स्तर पर बांध देती है। इक्षु मधुर रस से भरा रहता है, इसलिये आनन्द रस के भोगी मन को इक्षु धनुष से उपमित किया गया है, मन में सदा संकल्प विकल्प रूपी भौंरे उडते रहते हैं, उनको धनुप की प्रत्यंचा से उपमा दी गई है। जैसे वे पुष्पों के मकरन्द की कामना से आकाश में गुंजारते रहते हैं, वैसे ही मन की संकल्पात्मिका वृत्तियां विषयों की वासना से चित्ताकाश को प्रतिध्वनित करती हुई उडती रहती हैं। पांचों ज्ञानेन्द्रियों से संबंधित ५ प्रकार के विषय शव्द स्पर्श रूप रस गंधात्मक पांच पुष्प बाण हैं। राग अर्थात् आसक्ति रूपी ही वह पाश है जिससे सारा जगत् बंधा पडा है, क्रोध अथवा द्वेष प्रकृति का अंकुश है, जिससे विद्ध कर मनुष्य कौनसा पाप-कर्म करने को बाध्य नहीं हो जाता। इस प्रकार पुरुष को पशु के सदृश वश में रखकर उससे प्रकृति अपने सृष्टि क्रम का कार्य कराती है। भौरों

की प्रत्यंचा पर चढ़े हुए उपरोक्त पांच पुष्प बाण वाला इक्षु धनुष कामदेव का भी अस्त्र है, और कामिनी स्त्री स्वयं शक्ति का ही रूप है। इसलिये कामी मनुष्यों को भोगासक्ति में फंसाने के लिये मानो महामाया ने अपना ही धनुष कामदेव को दे दिया है, क्योंकि बिना ऐसे अस्त्र के भगवान का सनातन अंश बंधन में नहीं आ सकता था।

भगवान की लीला विचित्र है, अपनी ही शक्ति से वह स्वयं ही बंध जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह स्वयं स्त्री है और स्वयं पुमान्, आत्म तत्व में लिंग भेद का भाव नहीं। वह स्वयं माया है और स्वयं मायावी, स्वयं नट है और स्वयं दर्शक, स्वयं ईश्वर है और स्वयं दास। कृष्ण राधा है और राधा कृष्ण, राम सीता है और सीता राम, शिव शक्ति है और शक्ति स्वयं शिव। इसी प्रकार आप ही रति है और आप ही काम।

सब प्राणि मात्र का अन्तरात्मा एक ईश्वर स्वयं ही है, जो एक रूप से अनेक हो रहा है, जैसा कि उसका आदि संकल्प था, एकोऽम् बहुस्यां प्रजायेयेति।

इस लिये साधक जनों को महामाया के आखेट से बचने के लिये कामिनी के काम बाणों से बचना चाहिये और भगवती के चरणों का हृदय में ध्यान करना चाहिये। और

पर तिय ललार तजहु गुसाईं। ज्यों चौथ चन्दा की नाईं॥ तुलसीदास

क्योंकि, विद्या समस्तास्तव देवि भेदाः, स्त्रियाः समस्ताःसकला जगत्सु।

भगवती के नीचे के वाम हस्त में पाश, और ऊपर के वाम हाथ में धनुष, दक्षिण हाथों में नीचे अंकुश और ऊपर ५ बाण हैं।

अगले श्लोक में भगवती के ध्यान के लिये पीठ का वर्णन किया गया है।

[८]

सुधासिंधोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाऽऽकारे मंचे परमशिवपर्यंकनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥

कठिन शब्दोंका अर्थः—शिवाकारे=त्रिकोणाकृति, निलय=आलय

अर्थः— सुधा के समुद्र के मध्य, कल्प वृक्षों की वाटिका से घिरे हुए मणि द्वीप में, नीप वृक्षों के उपवन के बीच चिन्तामणियों के बने घर में, त्रिकोणाकृति मंच पर, परम शिव के पलंग पर विराजमान चिदानन्द लहरी स्वरूप तेरा, कोई बिरले मनुष्य भजन करते हैं, वे धन्य हैं।

सं० टि० शिवाकारे=शिव+आकारे अथवा शिवा+आकारे। यहां हृदय में आनन्दावेश की अनुभूति की ओर लक्ष्य कराया गया है। ॐ कार में अ+उ+म्+नाद+बिन्दु+शान्ति (कला)+शान्त्यातीता सात मात्रा मानी जाती हैं। अ ब्रह्मा, उ विष्णु, म् रुद्र, नाद ईश्वर,

बिन्दु सदाशिव, शान्ति शक्ति और शान्त्यातीत शिव हैं। प्रथम चार मंच के चार पाये, बिन्दु चद्दर, और शिवाकार मंच पर विराजने वाली चिदानन्द लहरी, अथवा परम शिव पर्यंकनिलया चिदानन्द लहरी है।

भगवती के भजन से प्राप्त चिदानन्द के आवेशों का अनुभव करने वाले साधक थोड़े ही होते हैं। वे वास्तव में धन्य है जिन पर भगवती की ऐसी कृपा होती है भगवती का ध्यान परम शिव के साथ करना चाहिये, यह बात पूर्व श्लोकोक्त पुरमथितुराहो-पुरुषिका पद से भी प्रगट होती है। सत्य बात तो यह ही है कि सच्चिदानन्द के आनन्दावेशों की अनुभूति में स्वयं भगवती की ही कृपा की अनुभूति है, अर्थात् परम ब्रह्म के शून्य अव्यक्त सत्स्वरूप आकाश में शून्य रूपी पलंग पर चिदानन्द की लहरी विराजती है। पलंग एक त्रिकोण मंच पर बिछा हुआ है, मंच चिन्तामणियों के बने हुए घर में स्थित है, घर के चारों ओर नीप वृक्षों का उपवन है, वह उपवन एक मणियों के द्वीप पर लगाया गया है। द्वीप के चारों किनारों पर कल्पवृक्षों का घेरा है, और वह द्वीप अमृत के समुद्र में स्थित है। ऐसा भगवती के रहने का स्थान है।

निःस्पन्द परम शिव आनन्द ब्रह्म परं पद सुधासिंधु है, और चिदानन्द लहरी स्वयं चिति शक्ति है। जिसका स्थान सहस्रार पद्म में हैं। सहस्रार ही वह मणि जटित द्वीप है, जिसके चारों ओर कल्प वृक्षों का घेरा है और मध्य में नीप वृक्षों का उपवन है, जिसमें चिन्तामणियों से घर बनाया गया है, उसमें ▽ त्रिकोणाकृति

अकथ अथवा गुरु चक्र रूपी मंच पर बिन्दु रूपी पलंग बिछा हुआ है। वहां सच्चिदानन्द की प्रथम स्पन्द स्वरूपा चिदानन्द लहरी शिव के साथ विहार करती है। जिसका उल्लेख अगले श्लोक में आयगा। अकथ त्रिकोण चक्र की तीनों भुजाओं के बाहर क्रमशः १६ स्वर, क से त तक १६ व्यंजन, और थ से स तक १६ अक्षर विराजते हैं, और तीनों कोणों में ह क्ष ळ तीन अक्षर हैं। अ, क, थ से युक्त अन्य १५ अक्षरों के कारण, तीनों भुजाएं इन अक्षरों से नामांकित की जाती हैं और चक्र का नाम अकथ कहा जाता है। अकथ का अर्थ अकथनीय अथवा अनिर्वचनीय होता है। सब वर्ण चिन्तामणियों के सदृश हैं जिनसे यह घर बना है। इसके चारों ओर सहस्र अरे (radii) नीप वृक्ष हैं और उनसे उदय होने वाले संकल्प कल्प वृक्ष हैं। भगवती के पलंग का वर्णन ९२ वें श्लोक में देखें। वहां हरि, रुद्र, ब्रह्मा और महेश्वर को पलंग के चार पाये बताया गया है और सदाशिव को पलंग पर बिछाने की चद्दर से उपमा दी गई है। अथवा ॐ पलंग है और अ, उ, म् और अनुस्वार उसके चार पाये हैं। अथवा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर और अनाहत् चक्र चार पाये हैं और विशुद्ध चक्र उस पर बिछी चादर है। और देह श्री चक्र है। श्री चक्र भगवती का निवास स्थान माना जाता है, देखें श्लोक ११। श्री चक्र में बिन्दु को पलंग का स्थान, त्रिकोण को अथक चक्र, ४३ त्रिकोणों को नीप वृक्ष और ४ श्री कंठ और ५ शिवयुवतियों को कल्प वृक्ष समझना चाहिये।

इस श्लोकोक्त 'चिदानन्द लहरी' पद के कारण प्रथम ४१ श्लोकों के पूर्व ग्रंथ को आनंद लहरी कहते हैं। आनन्द से 'क'
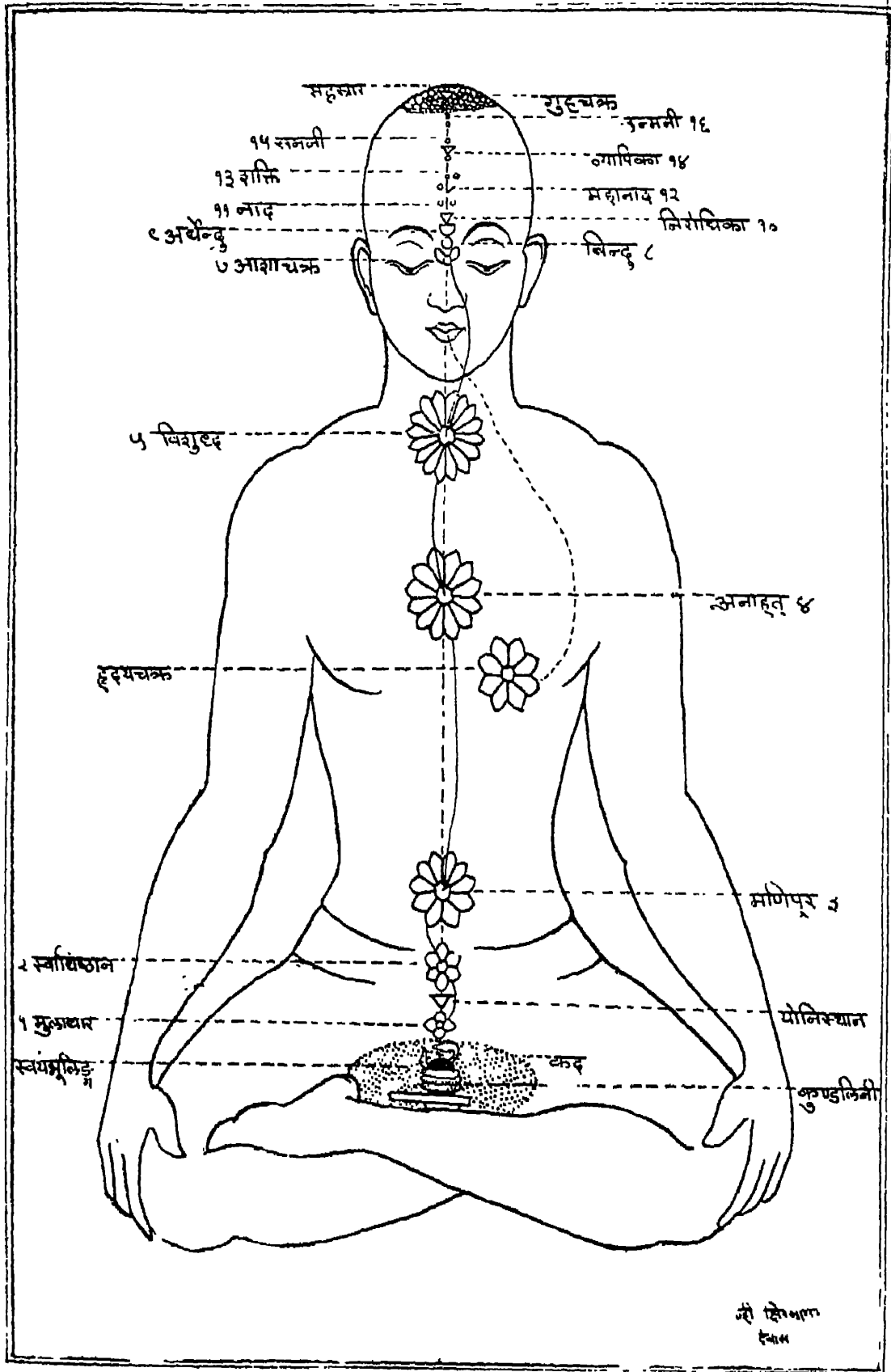
The different yogic plexuses

और लहरीं से ल ह्रीं लेकर हादि विद्या के तीनों कूटों को ग्रहण किया जा सकता है। कं * सुख वाचक शब्द है, कं ब्रह्म और प्राण वाचक भी है देखे छान्दोग्य (४, १०, ५)। इस श्लोक की अगले श्लोक से संगति करने से ह्रादि विद्या को षट् चक्र वेध विद्या समझना चाहिये।

षट् चक्र वेध अर्थात उज्ञेय भूमिका।

[९]

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वाकुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥

अर्थः— पृथिवी तत्व को मूलाधार में और जल को भी (मूलाधार में ही) मणिपूर में अग्नितत्व को जिसकी स्थिति स्वाधिष्ठान में है, हृदय में वायु तत्व को और ऊपर विशुद्ध चक्र) में आकाश तत्व को, और मन को भी भ्रमध्य में, इस प्रकार सकल कुल पथ (शक्ति के मार्ग) का वेध करके तू सहस्रार पद्म में अपने पति के साथ एकान्त में विहार करती है।

सं० टि० यहां अन्तर्याग का वर्णन है, कुण्डलिनी शक्ति का षट चक्र वेध पूर्वक आरोहण बताया गया है।

* नोटः—कं शिरः सुख वारिषु—विश्वः, सुखशीर्ष जलेषु कं इति मेदिनी।

व्याख्या:— षट् चक्र निरूपणं, शिव संहिता और अन्य ग्रन्थों में बिना मतभेद षट् चक्रों का क्रम इस प्रकार देखने में आता है कि गुदा के पास पृथिवी तत्व का मूलाधार चक्र है, उपस्थ के निकट जल तत्व का स्वाधिष्ठान चक्र, नाभि के पास अग्नि तत्व का मणिपूर चक्र, हृदय के पास वायु तत्व का अनाहत चक्र, कंठ में आकाश तत्व का विशुद्ध चक्र और भ्रूमध्य के पास मनस्चक्र है, जिसको आज्ञा चक्र कहते हैं। परन्तु सौन्दर्य लहरी में इस क्रम में अन्तर दिखता है जिसके अनुसार उपस्थ के पास जल तत्व का मणिपूर और नाभि में आग्नेय स्वाधिष्ठान चक्र होना चाहिये। तत्वों का क्रम तो वह ही है परन्तु चक्रों के नामों के क्रम से उपस्थ के चक्र का नाम मणिपूर और नाभि चक्र का नाम स्वाधिष्ठान प्रतीत होता है। शंकर भगवत्पाद ने यद्यपि इन दो चक्रों के स्थानों का संकेत नहीं किया है, परन्तु नाम क्रम से यह ही प्रतीत होता है कि उनको, उपस्थ वाले चक्र का नाम मणिपूर और नाभि के चक्र का नाम स्वाधिष्ठान अभिमत था। परन्तु हमारी राय में ऐसा नहीं है, केवल तत्वों के वेध क्रम में अन्तर है। समयाचार के मतानुसार उपस्थ वाले चक्र का वेध करना उचित नहीं समझा गया, क्योंकि इस चक्र के वेध से काम वासना की वृद्धि होकर बज्रौली इत्यादि क्रियाओं द्वारा ऊर्ध्वरेता होने की सिद्धि प्राप्त की जाती है, जो कौलाचार को अभीष्ट है, समयाचार को नहीं। इसलिये यहां समयाचार के अनुसार वेध क्रम दिया गया है। वह इस प्रकार है कि मूलाधार के वेध द्वारा पृथिवी तत्व का और साथ ही जल तत्व का भी वहां ही वेध किया जाना चाहिये। 'अपि' शब्द का 'कं'

के साथ प्रयोग इस बात की ओर संकेत करता है, नहीं तो अपि शब्द वृथा सा दिखता है। फिर स्वाधिष्ठान को छोडकर नाभि वाले मणिपूर में अग्नि का वेध किया जाता है परन्तु अग्नि तत्व की स्थिति योनि स्थान में होने के कारण स्वाधिष्ठान में दिखाई गई है अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र में नीचे अग्नि ऊपर जल दोनों का संधि स्थान है क्योंकि योनि स्थान मूलाधार और स्वाधिष्ठान के मध्य भाग में स्थित है इसलिये अग्नि के प्रदीप्त होने पर मूलाधारस्थ पृथिवी और स्वाधिष्ठानस्थ जल दोनों का वेध मूलाधर के वेध के साथ हो जायगा।

हमारे इस मत को हंसोपनिषत् से पुष्टि मिलती है। वहां गुदा चक्र से वायु का उत्थान करके मणिपूर चक्र में ले जाने का विधान किया गया है, बीच में स्वाधिष्ठान चक्र का वेध न करके उसकी तीन बार प्रदिक्षिणा करने की आज्ञा है।

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिःप्रदिक्षिणी-कृत्य मणिपूरकं च गत्वाऽनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौप्राणान् निरुध्या-ज्ञामनुध्यायन् ब्रह्मरंध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा ध्यायेत्।

अर्थः—गुदाद्वार को रोक कर आधार चक्र से वायु को उठा कर स्वाधिष्ठान की ३ बार परिक्रमा करके मणिपूर जाकर, अनाहतचक्र का अतिक्रमण करके विशुद्धचक्र में प्राणों का निरोध करे और आज्ञाचक्र में ध्यान करता हुआ, फिर ब्रह्मरंध्र का ध्यान करता हुआ मैं तीन मात्रा से युक्त ॐ हूं ऐसा सदा ध्यान करे। अर्थात् मैं जाग्रतावस्था में वैश्वानर अकार, स्वप्नावस्था में तैजस् उकार और

सुषुप्ति में प्राज्ञ मकार हूं, इस प्रकार सदा ध्यान करता हुआ शुद्ध-स्फटिक सदृश नाद का आधार चक्र से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त ध्यान करना चाहिये।

बिन्दु और बीज के योग से नाद की उत्पत्ति होती है। कहा है

बिन्दुःशिवात्मको बीज शक्तिर्नादस्तयोर्मितः।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥

स्थूल रूप में बिंदु शुक्र है और बीज रज है और उर्द्धरेता होने पर दोनों का समवाय अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण नाद कहलाता है। समयाचार की विधि भावना प्रधान होती है और भावना युक्त साधन द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की जाती है, कौलाचार में जो उर्द्धरेतस् की सिद्धि स्वाधिष्ठान चक्र के वेध द्वारा की जाती है, वह समयाचार वाला आज्ञाचक्र में मन का वेध करके करता है। हंसोपनिषत् के उपरोक्त क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र की ३ बार प्रदिक्षिणा करके ऊपर उठ जाने के साधन में स्वाधिष्ठान चक्र के वेध का निषेध किया गया है। उसकी तीन बार प्रदिक्षिणा करनी चाहिये, क्योंकि यहां शक्ति की पीठ है, जैसा कि नाम से प्रकट है (स्व+अधि+स्थान=स्वाधिष्ठान)। मूल बंध द्वारा आधार चक्र का वेध होकर पृथिवी और जल दोनों का एक साथ वेध होगा, क्योंकि मूलबन्ध के अभ्यास से योनिस्थान जो दोनों चक्रों के मध्य में है और अग्नि का स्थान है, दबता है। योनिस्थान पर दबाव पड़ने से अग्नि प्रदीप्त होकर पृथिवी और जल दोनों का वेध एक साथ कर देती है। अग्नि तत्व का वेध मणिपूर अर्थात् नाभि चक्र में होता है और वह

वहां विद्युत् का रूप धारण कर लेती है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में जल का वेध होकर वर्षा ऋतु में मेघों में विद्युत् प्रकट हुआ करती है। योनिस्थान में प्रदीप्त अग्नि नीचे मूलाधार में पृथिवी तत्व को तपाता है और ऊपर स्वाधिष्ठानस्थ जल को। जल वाष्प बन कर मणिपूर (नाभिचक्र) में मेघवत् आच्छादित हो जाता है और वहां अग्नि का वेध होकर वह विद्युत् का रूप धारण कर लेती है। देखें श्लोक ३९, ४०। ग्रीष्म ऋतु में गरमी से पृथिवी तप्त होकर जल सूखने लगता है, यह जल का वेध है। वर्षा में वह ही जल मेघों के रूप में परिणत हो जाता है, और उनके ताप से विद्युत् प्रकट होती है, यह अग्नि का वेध है।

*चक्रों का स्थान मेरुदंड (spinal bone) के भीतर नीचे से मस्तिष्क तक उठने वाली सुषुम्ना नाडी (spinal cord) में है। इसके द्वारा शरीर की नाडियों का मस्तक से संबंध है। गुदा के पीछे एक मांसपेशी है, जिसे कंद कहते हैं, उसकी नाभि अर्थात् केन्द्र में कुण्डलिनी स्वयंभूलिंग पर साढे तीन कुंडल डाले सोती रहती है। जागकर वह स्वाधिष्ठान चक्र में रहने लगती है। उस अवस्था में जीव को विन्दु रूपी शिव कहते हैं और कुंडलिनी को जीव रूपा शक्ति।

आज्ञा चक्र में चढ़कर वह ही परमात्मा रूपा शक्ति त्रिपुरा कहलाती है जो सहस्रार में शिव के साथ सायुज्यता प्राप्त कर लेती

---

* चक्रों और नाडियों की सविस्तार जानकारी के लिये लेखक का अंग्रेजी ग्रंथ Divine Power पढ़ें।

है। षट् चक्र वेध के पूर्व शक्ति का रूप जीवात्मिका और षट् चक्र वेध के पश्चात् शिवात्मिका समझना चाहिये। जीवात्मिका का स्थान स्वाधिष्ठान और शिवात्मिका का स्थान विशुद्ध चक्र हैं।

मूलाधार और स्वाधिष्ठान को अग्नि खंड, मणिपूर और अनाहत को सूर्य खंड और विशुद्ध एवं आज्ञा चक्र को चन्द्र खंड कहते हैं। योनिस्थान अग्नि की, अनाहत सूर्य की और आज्ञा चंद्र की पीठ कहलाती हैं। अग्नि खंड में रुद्र ग्रंथि, सूर्य खंड में विष्णु ग्रंथि, और सोम खंड में ब्रह्म ग्रंथि कहलाती हैं।

अन्तरिक्षगतो वन्हिर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः।
नभःस्थः सूर्यरूपोऽग्नि नीाभमंडलमाश्रिताः॥

(यो शि ५, ३२)

विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः।
तालु मूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधो मुखः॥

(५, ३३)

अर्थः— अन्तरिक्ष में उठकर अग्नि विद्युत् रूप हो जाती है, जो अपना अन्तरात्मा है। आकाश में स्थित अग्नि सूर्य रूप है, यह नाभि मण्डल (मणिपूर और अनाहत्) में आश्रित है. नीचे की ओर मुख रहने पर वह विष की वर्षा करता है और ऊपर की ओर मुख होने पर अमृत का स्रवण करने लगता है। तालू के मूल स्थान (आज्ञा) पर चन्द्रमा का स्थान हैं, उसका मुख नीचे की ओर है और वह अमृत की वर्षा किया करता है। अनाहत् चक्र के १२ दल १२ आदित्य कहलाते हैं। उर्ध्वमुख सूर्य और अधो-

मुख चन्द्र के बीच में विशुद्ध चक्र के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलाओं के सदृश चमकने लगते हैं। कुण्डलिनी शक्ति जागकर जब सूर्य मण्डल से ऊपर चढती है, तब सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर देती है। फिर कुण्डलिनी शक्ति उससे भी ऊपर जाकर चन्द्र मण्डलका बेध करती हुई सहस्रार में उठती है, तब चन्द्रमा भी अमृत की वर्षा करने लगता है और सारे देह की नाडियां उस अमृत से भर जाती हैं और योगी का शरीर दिव्य बन जाता है।

अवसरण अर्थात अन्वय भूमिका

बेध के समय शक्ति की गति मूलाधार से सहस्रार की ओर होती है जिसका वर्णन ऊपर के श्लोक में दिया गया है। सहस्रार से नीचे उतरते समय वह नाडियों को अमृत से सींचती हुई मूलाधार की ओर लौटती है। आरोह को उन्नेय भूमिका और अवरोह को अन्वय भूमिका कहते हैं। प्रत्यावृत्ति भूमिका से कुण्डलिनी का नीचे उतर कर अपने स्थान पर गुहा में लौट आने का अभिप्राय है। गत श्लोक में उन्नेय भूमिका का वर्णन किया गया है और अगले श्लोक में अन्वय और प्रत्यावृत्ति भूमिकाओं का वर्णन है इनको अप्यय और प्रभव क्रम भी कहते हैं। दोनों के सिद्ध होने पर योग की सिद्धि होती है। कहा है 'योगोहि प्रभवाप्ययौ' कठोपनिषत्। यह उभय क्रम कुण्डलिनी सोपान रहस्य के नाम से प्रसिद्ध है।

[१०]

सुधाधराऽऽसारैश्चरण युगलान्तर्विगलितैः
प्रपंचं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नाय महसा।

अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वामात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी ॥

अर्थः— अमृत धाराओं की वर्षा से, जो तेरे दोनों चरणों के बीच से टपकती हैं, प्रपंच को सींचती हुई फिर छओं आम्नायों से होती हुई अथवा छओं चक्रों द्वारा सींचती हुई, अपनी भूमि पर उतरकर अपने आप को सर्पिणी के सदृश साढ़ेतीन कुंडल डालकर, हे कुहरिणि ! तू कुल कुंड में सोती है।

स० टि० यहां पर कुण्डलिनी का सहस्रार में कुछ समय ठहर कर फिर अपने स्थान में उतर आना दिखाया गया है। रस=छः चक्र, आम्नाय=विधान, महस्=प्रकाश। प्रपंच=देह, पिण्ड। कुल कुण्ड= कुण्डलिनी के रहने का कुंड, कुहरिणी= गुहा में रहने वाली। (कुहर=गुहा।)

पूर्व श्लोक की संगति से इस श्लोक का भाव स्पष्ट है कि मूलाधार से जागकर सुषुम्ना मार्ग द्वारा जब कुंडलिनी हृदयस्थ सूर्य को उन्मुख करती हुई आज्ञा चक्र के ऊपर चन्द्रमंडल में प्रवेश करती है, तब उसके चरणद्वय के बीच से अमृत की धारायें नीचे बरसने लगती हैं। यहां भगवती के चरणों का ध्यान आज्ञा चक्र में किया जाना बताया गया है।

शक्ति के अवतरण के साथ सब नाडियों का भिन्न-भिन्न चक्रों के द्वारा अमृत के प्रवाह से सारे शरीर में आनखशिख सिंचाव होता है। जिस मार्ग से शक्ति का आरोहण होता है उसी मार्ग से

अवतरण होकर वह फिर अपने स्थान पर सर्पाकार साढेतीन कुण्डल डालकर सो जाती है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। या तो सारी शक्ति ऊपर उठ जाती है और मूलाधार में शक्ति का कुंडलिनी रूप में उसके उठने से अभाव हो जाता है, और फिर लौटने पर वह फिर सो जाती है। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि मूलाधार में अनन्त शक्ति है, इसलिये वहां पर रहने वाले भंडार में कभी कमी नहीं होती, जागकर शक्ति ऊपर भी जाती आती रहती है और नीचे भी बनी रहती है। हमारी समझ में दूसरा विकल्प सत्य जान पडता है क्योंकि यदि सारी शक्ति सहस्रार में उठ जाय तो उत्थान के साथ शरीर का आधार न रहने के कारण वह तुरन्त प्रति प्रसव क्रम से लीन हो जाना चाहिये। प्रपंच का अर्थ शरीर अथवा नाडी जाल किया जाता है, दोनों पक्ष में एक ही परिणाम समझना चाहिये। क्योंकि नाडियों द्वारा सारा शरीर पुष्ट होता है, केवल नाडियां ही नहीं। नाडियों की संख्या प्रश्नोपनिषत् में इस प्रकार दी गई है।

अत्रैतदेकशतं नाडिनां तासां शतशतमेकैकस्यां द्वासततिः २ प्रतिशाखा नाडी सहस्राणि भवन्ति। प्रश्न० (३,६)

रसाम्नाय महसा के स्थान पर रसाम्नाय महसः पाठान्तर भी मिलता है। उसका अर्थ नीचे दिया जाता है। तांत्रिक परिभाषा के अनुसार इस पाठान्तर पद का अर्थ 'अमृत के प्रकाश से चमकने वाला चन्द्रमा' होने के कारण श्लोक का भावार्थ इस प्रकार होगा कि शक्ति चन्द्र मण्डल से नीचे उतर आती है, और अपनी भूमि

पर आकर ३॥ कुण्डलाकृति सर्पिणीवत् सो जाती है। कुल का अर्थ शक्ति समझना चाहिये और कुण्ड से उसके रहने का कुंड सदृश स्थान समझना चाहिये। कुहरिणी का अर्थ कुहर अर्थात् बिल में रहने वाली है। कुहर बिल, छिद्र अथवा रंध्र को कहते हैं। नाडियों द्वारा प्रपंच का सींचे जाने का संबन्ध छःओं चक्रों के द्वारा होने के कारण रसाम्नायमहसा का अर्थ जैसा हमने किया है उचित प्रतीत होता है। रस पद से छः और आम्नाय पद से 'मार्ग' अर्थ लेने से यह अर्थ किया गया है। आम्नाय का अर्थ मार्ग दिखाने वाले बेद, और गुरु परम्परा गत संप्रदायोपदेश हैं। और महस् का अर्थ उत्सव और तेज दोनों है (महस्तूत्सवतेजसोः, इति अमरः) इसलिये पूरे पद का तृतीयांत अर्थ छः तेजोमय आम्नायों के द्वारा, अथवा रस (अमृत) से पूर्ण तेजोमय आम्नाय द्वारा होगा, पंचमी बिभक्ति में 'द्वारा' की जगह 'से' लगाना पडेगा। आम्नाय से चाहे चन्द्र अथवा चक्र समझा जा सकता है। महस् का अर्थ उत्सव भी किया जा सकता, उस पर्याय में शक्ति का शिव के योग से अमृत सिंचन रूपी उत्सव समझना चाहिये। तांत्रिक पद्धति के अनुसार उपासना के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्द्ध और वाम छः आम्नाय हैं, उन सबका फल शक्ति का जागरण होकर समाधि प्राप्त करना ही है। उक्त आम्नाय गुरु परम्परागत उपदेश से जानने चाहिये।

श्रीचक्र

अगले श्लोक में श्रीचक्र का निरूपण करके बहिर्याग का संकेत है।

(११)

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पंचभिरपि
प्रभिन्नाभिः शंभोर्नवभिरपि मूल प्रकृतिभिः ।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदल कलाश्च त्रिवलय–
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरण (भवन) कोणाःपरिणताः

नोटः—कोष्टकों में पाठान्तर दिया गया है।

अर्थः—चार श्रीकंठ और पांच शिवयुवतियां, इन ९ मूल प्रकृतियों से तेरे रहने के ४३ त्रिकोण बनते हैं, जो शंभु के विन्दुस्थान से भिन्न हैं। वे तीन वृतों (circles) और तीन रेखाओं सहित ८ और १६ दलों से युक्त हैं।

सं० टि०—यहां बहिर्याग का वर्णन है। श्रीचक्र के बनाने के तीन भेद होते हैं, मेरु, कैलाश और भूः। तीन भेदों मे शक्तियों के स्थानों और पूजन विधि में अन्तर है। मेरु श्रीचक्र में उसका १६ नित्या कलाओं से, कैलाश के प्रतीक स्वरुप श्रीचक्र में उसको ८ मातृका शक्तियों से और भूः के प्रतीक स्वरुप श्रीचक्र में उसे ८ वशिनी-देवियों से संबंधित चक्र समझा जाता है। तैत्तिरीयारण्यक में कहा है कि पृश्नि ऋषियों ने श्रीचक्र की पूजा की थी और उसकी सहायता

से कुण्डलिनी का जागरण करके सहस्रार में शक्ति को उठाया था। इससे विदित होता है कि यह वैदिक मार्ग है।

श्रीचक्र ब्रह्मांड और पिण्ड दोनों का प्रतीक होता है, इसकी रचना ४ श्रीकंठ अर्थात् शिव त्रिकोण और ५ शिवयुवति अर्थात् शक्ति त्रिकोणों के योग से होती है। शिव और शक्ति त्रिकोणों का मुख एक दूसरे के विपरीत रहता है, जसे △▽। सृष्टि क्रम में ५ शक्ति त्रिकोण उर्ध्वमुख होते हैं और ४ शिव त्रिकोण अधोमुख और अप्यय क्रम में शक्ति त्रिकोण अधोमुख और शिव त्रिकोण ऊर्ध्वमुख रखे जाते हैं। प्रथम केन्द्रीय त्रिकोण को जिसके केन्द्र में शंभु का स्थान है, छोड कर शेष त्रिकोणों की संख्या ४२ हैं। इसलिये त्रयश्चत्वारिंशत् पाठ ठीक हैं। प्रथम मध्य त्रिकोण के बाहर चारों ओर दूसरे नंबर पर ८ कोण बनते हैं, उसको अष्टकोण कहते हैं, फिर तीसरे और चौथे स्तर पर दस २ कोण बनते हैं उन्हें अन्तर्दशार और बहिर्दशार कहते हैं, उनके ऊपर १४ कोण बनते हैं, उनको चतुर्दशार कहते हैं। सबका योग १+८+१० +१०+१४=४३ होता है। मध्य केन्द्रीय विन्दु शंभु का स्थान है जो प्रकृति स्वरुप ९ त्रिकोणों के योग से रचित पूरे चक्र से पृथक अर्थात् असंग है। उक्त ४३ कोणों के चक्र के बाहर प्रथम वृत्त (circle) पर अष्ट दल पद्म और उसके बाहर दूसरे वृत्त पर षोडश-दलपद्म हैं, षोडशदलपद्म तीन वृत्तों से घिरा है। सबके बाहर तीन रेखाओं का चतुष्कोण है, जिसे भूगृह कहते हैं। भूगृह की चारों भुजाएं बराबर हैं और चारों दिशाओं में ४ द्वार होते हैं। इस श्लोक में द्वारों का उल्लेख नहीं किया गया है।

३६ तत्व जिनका वर्णन हम ऊपर प्रथम श्लोक ;ं नीचे कर आये हैं, सप्त धातुओं सहित ४३ हो जाते हैं। सात धातुओं के नाम ये हैं—रक्त, मांस, मेदा, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र।

५ शिवयुवतियां शान्त्यातीतादि ५ कलायें अथवा शक्ति, शुद्धविद्या, माया, कला और अशुद्धविद्या हैं और ४ श्रीकंठ, सदाख्य, महेश्वर, महत्तत्व और पुरुष (जीव) हैं अथवा पुरुष, अव्यक्त, महत् और अहंकार ४ श्रीकंठ हैं, जिनके साथ शब्दस्पर्शादि ५ तन्मात्रायें शिवयुवतियां माननी पड़ेंगी।

गीता में भगवान ने नवधा प्रकृति का वर्णन किया है, एक जीव-भूता परा प्रकृति और अष्टधा अपरा प्रकृति। वहां आकाशादि से ५ तन्मात्रा और मन, बुद्धि, अहंकार से समष्टि अहंकार, महत् और अव्यक्त क्रमशः समझना चाहिये। देखें गीता अध्याय ७ के श्लोक ४, ५ पर शंकर भाष्य।

श्रीचक्र के उपरोक्त क्रम से ९ विभाग किये जाते हैं, जिनमें विन्दु प्रथम है और मध्यस्थ त्रिकोण दूसरा इत्यादि और प्रत्येक विभाग को आवरण कहते हैं। श्रीचक्र का विशेष विवर्ण साथ दिये हुए विवर्ण पत्र (chart) पर देखें।

श्री चक्र निर्माण की विधि

यह विधि सौन्दर्य लहरी के भाष्यकार कैवल्य शर्मा के मतानुसार है। श्री चक्र मनुष्य देह का प्रतीक है और मनुष्य देह का माप अपनी अंगुलियों के नाप से ९६ अंगुल प्रमाण होता है। इसलिये श्री चक्र का माप भी ९६ इकाइयों पर रखा जाता है। एक ८ इंच

लंबी भुजाओं वाला समचतुष्कोण लो, उसके बीचोंबीच में एक खडी रेखा खेंचो, जो चतुष्कोण को दो सम भागों में विभक्त करती हो। उस रेखा के प्रति इंच के १२ विभाग के अनुपात से ९६ सम विभाग करलो। इस चतुष्कोण के भीतर एक एक विभाग छोडकर दो वैसे ही सम चतुष्कोण और बनाओ, इन तीन चतुष्कोणों का भूगृह नामक त्रैलोक्य मोहन चक्र कहलाता है। चारों दिशाओं में मध्य में एक एक द्वार खोल देना चाहिये। अब उस मध्यवर्ती खडी रेखा के मध्य विन्दु को केन्द्र मानकर ४५, ४४$\frac{3}{4}$, ४४, ३५ और २४ विभागों के बराबर अर्धव्यास मानकर पांच वलयाकार वृत्त (circles) खेंचो। सब से अन्दर के वृत्त पर अष्ट दल पद्म और उसके ऊपर वाले वृत्त पर षोडषदल पद्म बनाओ। बीच के शेष वर्तुलाकार क्षेत्र में ५ उर्ध्द्व त्रिकोण और ४ अधस्त्रिकोण बनाने से पूरा श्री चक्र बन जाता है। इन ९ त्रिकोणों का निर्माण इस प्रकार किया जाता है। मध्य रेखा पर ऊपर से नीचे की ओर ६, ६, ६, ३, ४, ३, ३, ५, और ६ विभागों के अन्तर पर ९ चिन्ह बनालो। जिनको हम यहां पर क^{१}, ग^{२}, च^{३}, ज^{४}, ट^{५}, ड^{६}, त^{७}, द^{८}, और प^{९}, से नामांकित करते हैं। इन चिन्हों पर ऊर्ध्द्व रेखा पर सम कोण बनाने वाली और अन्तर्वृत्त (innermost circle) के १० खंड करने वाली कोटि रेखायें (chordlines) खैंचो। उन के नाम भी क्रमशः क^{१}, ग^{२}, च^{३}, ज^{४}, ट^{५}, ड^{६}, त^{७}, द^{८}, और प^{९} वाली रेखाएं समझना चाहिये। फिर उन रेखाओं के दोनों सिरों पर से नीचेबताए हिसाब से दोनों ओर सम भाग मिटा दो। क^{१} और प^{९} रेखाओं का $\frac{१}{१६}$ भाग दोनों सिरों पर अर्थात पूरी रेखा

श्रीचक्रम्
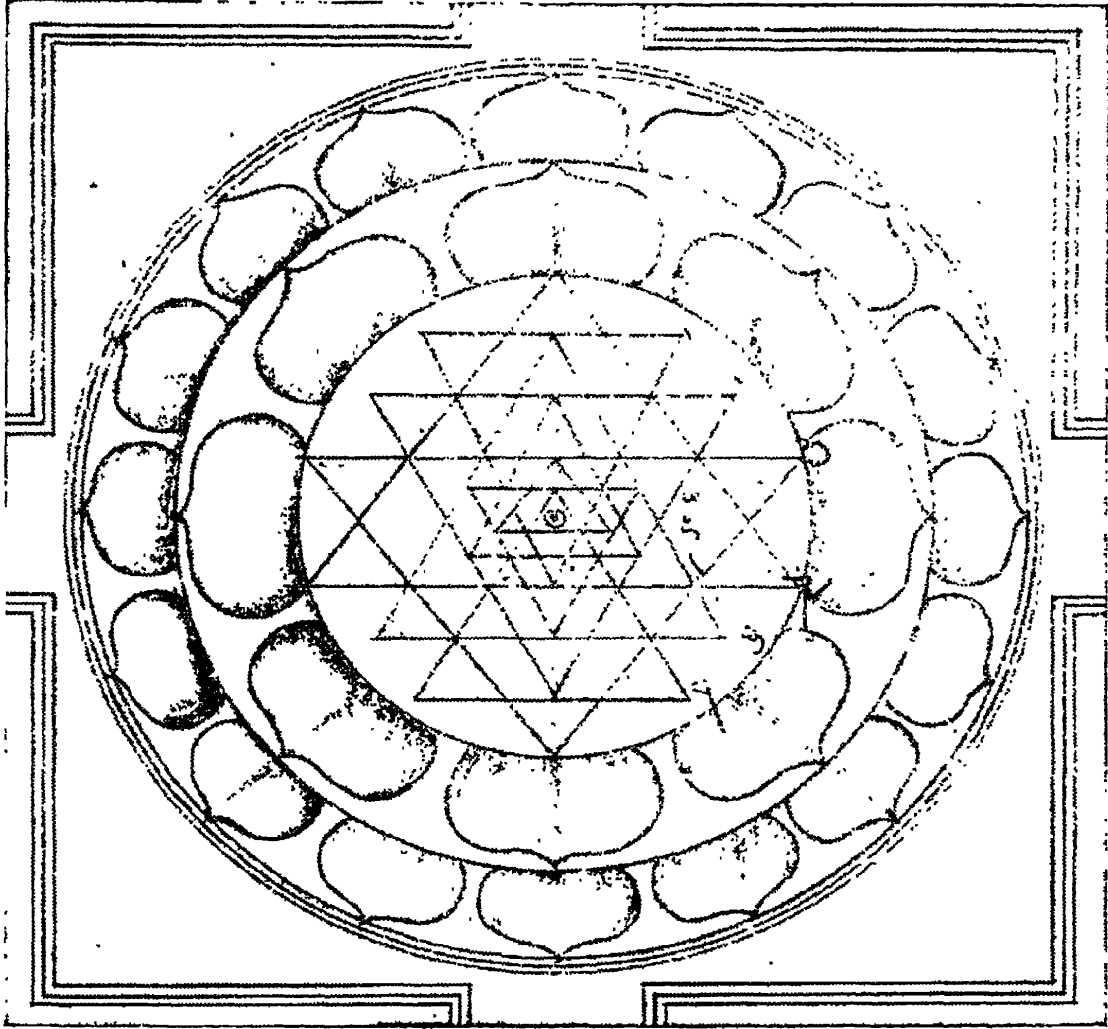
सृष्टियोगेन चक्रमिदम्

का $\frac{१}{८}$ भाग मिटाना है। गै रेखा के सिरों पर से $\frac{५}{८८}$ वां और दॅ रेखा के सिरों से $\frac{१}{१२}$ भाग, जैं और डैं रेखाओं के सिरों पर से $\frac{१}{३}$ भाग और टैं रेखा के सिरों पर से $\frac{३}{८}$ भाग मिटा दो, चै औ तैं रेखाएं पूरी रहेंगी। खडी रेखा पर कॅ बिन्दु के ६ विभाग ऊपर वाले अन्तर्वृत्तस्थ बिन्दु को स मानों और पैं बिन्दु से ६ विभाग नीचे वाले अन्तर्वृत्तस्थ बिन्दु को ह मानो। ह को चै वाली रेखा के सिरों को मिलाने से चौथा श्रीकंठ (शिव-त्रिकोण) बनता है, पैं बिन्दु को गै रेखा के मिटाने के पश्चात् नये सिरों को मिलाने से तीसरा, दॅ बिन्दु को जैं रेखा के मिटाने के पश्चात् नये सिरों को मिलाने से दूसरा, और तैं बिन्दु को कैं रेखा के नये सिरों को मिलाने से प्रथम श्रीकंठ बनता है। इसी प्रकार जैं बिन्दु को पैं. रेखा के नये सिरों को मिलाने से प्रथम शक्ति त्रिकोण, चै बिन्दु को टैं रेखा के सिरों को मिलाने से दूसरा, गै बिन्दु को डैं रेखा से मिलाने से तीसरा, कैं बिन्दु को दॅ रेखा से मिलाने से चौथा और स बिन्दु को तैं रेखा से मिलाने से पांचवां शक्ति त्रिकोण बनता है।

उक्त ९ त्रिकोणों को बनाने का क्रम इस प्रकार होना चाहिये, जिससे मध्य त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, और चतुर्दशार चक्रों का निर्माण क्रमशः सामने आता जाय।

पहिले प्रथम शक्ति त्रिकोण बनाओ, फिर दूसरा शक्ति त्रिकोण बनाने से मध्य त्रिकोण स्पष्ट दिखने लगता है। वैसे तो वह प्रथम शक्ति त्रिकोण के बनने से ही टैं रेखा के ऊपर दिखने लगता है दूसरे शक्ति त्रिकोण की उसे अपेक्षा नहीं है। फिर प्रथम शिव

त्रिकोण बनाओ, तीनों के योग से अष्टार स्पष्ट बन जाता है। फिर तीसरा शक्ति और दूसरा शिव त्रिकोण बनाने से अन्तर्दशार बन जाता है, फिर चौथा शक्ति और तीसरा शिव त्रिकोण बनाने से बहिर्दशार और फिर पांचवां शक्ति और चौथा शिव त्रिकोण बनाने से चतुर्दशार बन जाता है। यह सृष्टि क्रम है जिसमें शिव के त्रिकोण नीचे को उतरते हैं और शक्ति त्रिकोण ऊपर को चढते हैं अर्थात् शिव त्रिकोणों का मुख नीचे की ओर और शक्ति त्रिकोणों का मुख ऊपर की ओर होता है। इसके विपरीत जब शिव के त्रिकोण ऊपर चढते हैं और शक्ति त्रिकोण नीचे को उतरते हैं, उसे लय क्रम समझना चाहिये। क्योंकि शिव त्रिकोण उर्ध्वमुख और शक्ति त्रिकोण अधोमुख हो जाते हैं। यह क्रम बाह्य उपासना में ग्रहण किया जाता है, परन्तु अन्तरुपासना में जब शक्ति मूलाधार से सहस्रार में चढती है तो लय क्रम होता है क्योंकि तब शिव भाव की वृद्धि होती है और जब शक्ति नीचे उतरती है तब जीव भाव की वृद्धि होती है, इसलिये यह प्रभव क्रम है।

भगवती का सौंदर्य कल्पनातीत है

ऊपर के दो श्लोकों में भगवती का अन्तः और बाह्य ध्यान पूजन बताया गया है। आज्ञा चक्र के ऊपर अमृत की वर्षा करती हुई ज्योतिर्मयी भगवती का ध्यान करते समय देवी के सौंदर्य की कल्पना का वर्णन इस श्लोक में है। परन्तु वह वैखरी बाणी का विषय नहीं,

कवियों की कल्पना के बाहर का विषय है; इस भाव को प्रकट करने के लिये भगवत्पाद कहते हैं कि:—

[१२]

त्वदीयं सौन्दर्यं तुहिनगिरिकन्ये तुलयितुं
कवीन्द्राः कल्पन्ते कथमपि विरिञ्चि प्रभृतयः।
यदालोकौत्सुक्यादमरललना यान्ति मनसा
तपोभिर्दुष्प्रापामपि गिरिशसायुज्यपदवीम् ॥

अर्थः— हे हिमगिरि सुते ! तेरे सौन्दर्य की तुलना करने को ब्रह्मा प्रभृति कवीन्द्र भी कुछ कुछ कल्पना किया करते हैं। तेरे सौन्दर्य को देखकर स्वर्ग की अप्सराएं ध्यानस्थ हो जाती हैं और अनेक तपश्चर्या से भी कठिनता से प्राप्त होने वाली शिवसायुज्य पदवी को सहज प्राप्त कर लेती हैं।

सं० टि०:—यहां आनन्द लहरी के सौन्दर्य के चिन्तन से शिव-सायुज्य पदवी की प्राप्ति कही गई है ! साधक को अपने अधिकारा-नुसार बहिर्याग और अन्तयाग द्वारा भगवती को प्रसन्न करना चाहिये। बहिर्याग का फल अन्तर्याग है और अन्तर्याग द्वारा शिव-सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है। क्योंकि सहस्रार में शिव शक्ति का ऐक्य होने पर परंपद की उपलब्धि कही गई है।

हिमाचल की कन्या का वर्ण भी हिमवत् स्वच्छ होना चाहिये। हिम में शीतलता रहती है और प्रकाश भी। चन्द्रमा में भी शीतल प्रकाश होने के कारण उसे अमृत बरसाने वाला कहा जाता है। इसी प्रकार भगवती का स्वरूप सुधामयी ज्योति के सदृश है। अमृत को प्रकाशमान् समझना चाहिये।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातं।
तद्वात्मतत्वं प्रसमीक्ष्यदेही एकः कृतार्थो भवते वीत शोकः ॥

(श्वे. २, १४)

अर्थः— मिट्टी से लिपे हुए, तेजोमय अमृत सदृश चमकते हुए शीतल बिंबवत् आत्म तत्व को देखकर देहाभिमानी जीव ब्रह्म से एकता प्राप्त करके कृतार्थ और वीत शोक हो जाता है।

ब्रह्मा सृष्टि के कर्ता हैं, इसलिये सर्व प्रथम कवि हैं, चारों मुखों से वेदों का गान करते हैं, इसलिये सब कवियों में श्रेष्ठ हैं। वे भी भगवती के सौन्दर्य की उपमा नहीं ढूंढ सके, अन्य कवि इसलिये कुछ-२ कल्पना किया करते हैं। यदि अप्सराओं की उपमा दी जाय तो वे भी तो भगवती के रूप को उत्सुकता से देखकर ध्यान मग्न होकर समाधिस्थ हो जाती हैं। भाव यह भी है कि भगवती के सौन्दर्य की कल्पना करने से समाधि लग सकती है।

अगले श्लोक में यह दिखाया गया है कि कुंडलिनी के जागरणोपरान्त अमृत सिंचन स्वरूप भगवती की कृपा से शारीरिक कल्प हो जाता है। अर्थात् वृद्ध मनुष्य भी युवा हो जाता है।

काय सम्पत् सिद्धि

[१३]

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जडं
तवापाङ्गालोके पतितमनुधावन्ति शतशः ।
गळद्वेणीबंधाः कुचकलशविस्रस्तसिचया
हठात्त्रुट्यत्काञ्च्यो विगलितदुकूला युवतयः ॥

कठीन शब्दों का अर्थः—नर्म=क्रीडा, विस्रस्त=गलित, कांची=मेखला।

अर्थः—वयोवृद्ध, देखने में कुरूप, क्रीडा में जड मनुष्य भी तेरी दृष्टि के पडने मात्र से ऐसा रमणीय हो जाता है कि सैंकडों युवतियां उसके पीछे भागने लगती हैं, जिनके बेणी के बन्ध खुल गये हैं, कुच कलशों पर से चोली फट गई है, जिनकी मेखला हटात् टूट गई हैं और जिनकी साडी शरीर से उतरी जा रही हैं।

सं० टि०:—यहां काम कला ई की ओर संकेत है।

शक्ति जागरण से काय संपत् विभूति भी प्राप्त हो सकती है, जो षट चक्र वेध द्वारा पंच महा भूत जय होने पर होती है। रूप, लावण्य, बल, और शरीर का वज्रवत संगठित होना काय संपत् कहलाता है। देखे योग दर्शन (३, ४५-५६)। भूत जय से अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति भी होती है। अणिमादि सिद्धियों का श्री चक्र के सब से बाह्य चतुष्कोण पर स्थान दिखाया जाता है और इन सिद्धियों का फल भी युवावस्था की एक गौण सिद्धि है। प्रत्येक नाडी में अमृत का संचार होने का फलस्वरूप ही यह काय संपत् है। श्लोक १० में प्रपंचं सिञ्चन्तीं पद में अमृत से प्रत्येक नाडी का भर जाना दिखाया गया है, जिससे देह दिव्य हो जाता है। वह मनुष्य उर्ध्व रेता हो जाता है, उसके शरीर की glands में रसोत्पादन की शक्ति इतनी बढ जाती है कि शरीरस्थ निर्माण शक्ति का ह्रास बन्द हो जाता है। उसके स्नायुओं में जीवन शक्ति संचार करने लगती है, और सातों धातुओं का पुनः निर्माण होने लगता है। ज्ञानेश्वरी के छःटे अध्याय में कुण्डलिनी जागरण से शारीरिक कल्प होने की बात इन शब्दों में कही गई है—

"तब अवयवों की कान्ति की शोभा ऐसी दिखाई देती है कि मानों वह स्फटिक का ही हो, अथवा संध्या काल के आकाश के रंग निकालकर उनका ही वह शरीर बनाया गया हो, अथवा आत्म ज्योति का लिंग ही स्वच्छ किया रखा हो इत्यादि। कुण्डलिनी जब चन्द्रामृत पीती है, तब ऐसा शरीर हो जाता है, कृतान्त भी उस देहाकृति से भय खाता है, वार्धक्य पीछे हटता है, यौवन की गांठ खुल जाती है, और लुप्त हुई बालदशा फिर प्रकट होती है। इत्यादि।"

तत्वों की किरणें

[१४]

क्षितौ षट्पंचाशद्द्विसमधिकपंचाशदुदके
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपंचाशदनिले
दिवि द्विःषट्त्रिंशन्मनसि च चतुःषष्टिरिति ये
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम् ॥

अर्थः— पृथिवी में ५६, जल में ५२, अग्नि में ६२, वायु में ५४, आकाश में ७२, और मन में ६४ मयूखा अर्थात् रश्मियों के ऊपर, हे देवि ! तेरे दोनों चरण कमल हैं।

सं० टि० मातृका न्यास में छःओं चक्रों का न्यास हंसः सहित् उक्त किरणों से संबंधित अक्षरों से किया जाता है।

उक्त किरणें छः चक्रों से संबंध रखने वाले तत्वों की किरणें हैं, और भगवती के चरण युगल सब के ऊपर होने का अभिप्राय यह है कि वे आज्ञा चक्र के ऊपर बिराजते हैं। उक्त किरणों में आधी शिवात्मिका और आधी शक्त्यात्मिका हैं, अर्थात् दो दो के जोडे से पृथिवी में २८, जल में २६, अग्नि में ३१, वायु में २७, आकाश में ३६ और मन में ३२ किरणों के जोडे हैं। सब का योग ३६० है, जो चान्द्र वर्ष के अनुसार एक वर्ष की ३६० तिथियों से उपमित की जाती हैं। प्रत्येक पक्ष की १५ तिथियों को १५ नित्या कहते हैं। श्री चक्रस्थ षोडश दल की गुप्ततर योगिनियां नित्या कहलाती हैं।

नवम श्लोक में कहे अनुसार चक्रों के वेध के साथ तत्वों का भी वेध होना कहा गया है। और तत्वों के वेध से उन पर जय प्राप्त की जाती है, जिसको योग दर्शन में भूतजय, मनोजय और प्रकृतिजय कहा गया है।

भूतजय, इन्द्रियजय और मनो जय के साधन विभूति पाद के ४४, ४७, और ४८ सूत्रों में बताए गये हैं। स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व पर संयम करने से भूत जय होता है। विशेष धर्मी को प्रथम स्थूल और सामान्य धर्मी को दूसरा स्वरूप तन्मात्राओं को सूक्ष्म, अर्थात तीसरा रूप और तीनों गुणों का अन्वय उनका कारण रूप और उनके भोग और अपवर्ग के लिये उपयोगिता का ज्ञान, इन ५ स्तरों पर संयम अर्थात् धारणा ध्यान समाधि करने से प्रत्येक भूत का जय प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति, स्वरूप, अस्मिता (अहं की सूक्ष्म कारण वृत्ति,) अन्वय (तीनों गुणों से संबंध) और अर्थ वत्त्व पर संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है। इन्द्रियों के जय से मनोजय और क्रमशः प्रकृतिजय किया जाता है। यह राजयोग का साधन क्रम है। इस श्लोक में ५ भूतों और मन के स्थूल, सूक्ष्म आदि क्रम से व्यतिरेक स्वरूप पृथक्करण (analysis) को रश्मियों की संख्या द्वारा दिखाया गया है। सब तत्वों के द्विविध भेद ईडा और पिंगला गत भेद हैं। ईडा से संबंध रखने वाली किरणें चन्द्रमा अथवा शक्ति की किरणें और पिंगला से संबंध रखने वाली प्राण की किरणें, सूर्य अथवा शिव की किरणें हैं। इन को स्त्रीलिंग और पुंलिंग वाचक भी कह सकते हैं। सुषुम्ना में दोनों

का योग हो जाता है। सब किरणों को सुषुम्ना पथ में, कार्य को कारण में लीन करते हुए, भगवती के चरणों तक पहुंचा जाता है, अर्थात् आज्ञा चक्र के ऊपर जाया जाता है। जैसा कि श्लोक में कहा है कि भगवती के दोनों चरण सब किरणों का अतिक्रमण कर के सब के ऊपर स्थित हैं।

किरणों का संबंध तत्वों से, वर्ण माला से और उनके अधिष्ठातृ शक्तियों से त्रिविध जानना चाहिये।

किरणों का तत्वों से सम्बन्ध

पृथिवी की ५६ किरणें:— ५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, ५ कर्मेन्द्रियां ५ ज्ञानेन्द्रियां, ४ अन्तःकरण चतुष्टय, कला, प्रकृति, महत्, और पुरुष। इनका योग २८ है और शिव शक्ति भेद से ५६।

जल किरणें:— ५ महाभूत, १० इन्द्रियां, १० उनके कार्य और मन। इनका योग २६ है और शिव शक्ति भेद से ५२।

अग्नि की किरणें:— ५ महाभूत, ५ तन्मात्रायें, १० इन्द्रियां, १० उनके कार्य और मन, सब का योग ३१ है, शिव शक्ति भेद से ६२।

वायु की किरणें: — ५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ४ अन्तःकरण चतुष्टय, कला, प्रकृति और पुरुष। इनका योग २७ है, शिव शक्ति भेद से ५४।

आकाश की किरणें:—सब३६ तत्व, शिव शक्ति भेद से७२

मन की किरणें:— प्रथम ४ शुद्ध तत्व अर्थात् शिव, शक्ति, सदाख्य और महेश्वर को छोडकर शेष ३२। शिव शक्ति भेदसे ६४।

किरणों का वर्ण-माला से सम्बन्ध

विश्व के प्रस्तार में नाम और रूप अथवा वाचक और वाच्य अथवा शब्द और अर्थ भेद से, दो स्तर हैं। अर्थ भेद से ५ कलाएं, ३६ तत्व, और १४ भुवन हैं। कलाओं और तत्वों के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं, १४ भुवन के उपभेद २२४ किये जाते हैं, इन २२४ भुवनों के नाम स्थानाभाव से यहां नहीं दिये जाते! शब्द भेद से ५१ वर्ण, ८१ पद और ११ मंत्र से सारे विश्व का प्रस्तार है। ३ लिंग (पुं, स्त्री, नपुंसक,) ३ पुरुष (उत्तम, मध्यम और अन्य,) ३ वचन (एक, द्वि और बहु) और ३ काल (भूत, वर्तमान, और भविष्य) के परस्पर योग से ३×३×३×३=८१ प्रकार के पद होते हैं, और ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां और अन्तःकरण के एकादशविध व्यापारों की सिद्धियों के लिये ११ प्रकार के मंत्र हैं, उनके ११ देवता ११ रुद्र हैं। इसलिये उक्त ३६० किरणों का मातृका (वर्ण माला) से संबंध है और प्रत्येक किरण का पृथक पृथक देवता है। उनका संबंध नीचे दिया जाता है।

मातृकाओं का तत्वों से संबंध:—

पृथिवी की ५६ किरणें = ५० मातृका + ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः।
जल की ५२ किरणें = ५० मातृका + सौं श्रीं।
अग्नि की ६२ किरणें = ५० मातृका + औ औ औ औ, हं सः हं सः हं सः हं सः।

वायु की ५४ किरणें = ५० मातृका + यं रं लं वं ।

आकाशकी७२ किरणें = अ ५ बार,........औ ५ बार = १४×५
=७०+ ऐं ह्रीं ।

मन की ६४ किरणें = अ वर्ग चार वार = १६×४ =६४ ।

एशु स्वराः स्मृताः सौम्याः स्पर्शाः सौराः शुभोदयाः ।
आग्नेया व्यापकाः सर्वे सोम सूर्याग्नि देवताः ॥
(ज्ञा. नि. २.२)

तत्वात्मानः स्मृताः स्पर्शाः मकारः पुरुषो मतः ।
व्यापका दशते कामधनधर्मप्रदायिनः ॥ (२. ४)

विन्दु पुमान्रविः प्रोक्तः सर्गः शक्तिर्निशाकरः ।
स्वराणां मध्यमं यच्च चतुस्रं तच्च नपुंस्कम् ॥ २. ६

पिंगलायां स्थिता ह्रस्वा ईडायां संगताः परे ।
सुषुम्नायां मध्यगाज्ञेया श्चत्वारो ये नपुंसकाः ॥ २. ७

वाय्वाग्निभूजलाकाशाः पंचाशल्लिपयः क्रमात् ।
पंचह्रस्वाः पंचदीर्घाविन्द्वन्ताः संधिसंभवाः ।
कमादयः पंचशः ष क्ष ळ स हान्ताः प्रकीर्तिताः ॥ २. ९

नीचे शार्दातिलक के अनुसार वर्ण माला का पांचों तत्वों, छःओं चक्रों, और ईडा, पिंगला, और सुषुम्ना तीनों नाडियों से संबंध एक नकशे (chart) द्वारा दिखाया जाता है।

पंच महाभूत	षट् चक्र														
	विशुद्ध			अनाहत			मणिपूर			स्वाधिष्ठान		मूलाधार		आज्ञा	गुरु चक्र
वायु	ह्रस्व अ	दीर्घ आ	ए	क्	च्	ट्	X	त्	प्	X	य्	X	ष्	X	X
अग्नि	इ	ई	ऐ	ख्	छ्	ठ्	X	थ्	फ्	X	र्	X	X	क्ष्	X
पृथिवी	उ	ऊ	ओ	ग्	ज्	X	ड्	द्	X	ब्	ल्	X	X	X	ळ्
जल	ऋ	ॠ	औ	घ्	झ्	X	ढ्	ध्	X	भ्	X	व्	स्	X	X
आकाश	ऌ	ॡ	अं	ङ्	ञ्	X	ण्	न्	X	म्	X	श्	X	ह्	X
लिंग	पुमान्	स्त्री	नपुंसक												
नाडी	पिंगला	ईडा	सुषुम्ना												
	ईडा (चन्द्र)			पिंगला (सूर्य)								सुषुम्ना (अग्नि)			
वर्णभेद	स्वराः			स्पर्शाः								व्यापिकाः			

अनुस्वार = पुमान्, विसर्ग = शक्ति.

किरणों की अधिष्ठातृ शक्तियां

अधिष्ठातृ शक्तियों के नाम शिव शक्ति के जोड़े से नीचे दिये जाते हैं।

पृथिवी:— १.उड्डीश्वर, उड्डीश्वरी, २. जलेश्वर, जलेश्वरी, ३. पूर्णेश्वर, पूर्णेश्वरी, ४. कामेश्वर, कामेश्वरी, ५. श्रीकंठ, गगना, ६. अनन्त स्वरसा, ७. शंकर, मति, ८. पिंगल, पाताल देवी, ९. नारदाख्य, नादा, १०.आनन्द,डाकिनी, ११. आलस्य, शाकिनी, १२. महानन्द, लाकिनी, १३. योग्य, काकिनी, १४. अतीत, साकिनी १५. पाद, हाकिनी, १६. आधारेश, रक्ता, १७. चक्रीश, चंडा, १८. करंगीश, कराला, १९. मदध्रीश, महोच्छुष्मा, २०. अनादि विमल, मातंगी, २१. सर्वज्ञ विमल, पुलिन्दा, २२. योग विमल, शंवरी, २३. सिद्ध विमल, वाचापरा, २४. समय विमल, कुलालिका, २५. मित्रेश, कुब्जा, २६. उड्डीश, लध्वा, २७. षष्ठीश, कुलेश्वरी, २८. चर्याधीश, अजा।

जल देवता—१. सद्योजात, माया, २. वाम देव, श्री ३. अघोर, पद्मा, ४. तत्पुरुष, अंबिका, ५. अनन्त, निवृत्ति, ६. अनाथ, प्रतिष्ठा, ७. अनाश्रित, विद्या, ८. अचिन्त्य, शान्ता, ९. शशिशेखर, उमा, १० तीव्र, गंगा, ११. मणिवाह, सरस्वती, १२. अंबुवाह, कमला, १३ तेजोधीश, पार्वती, १४ विद्यावागीश्वर, चित्रा, १५. चतुर्विधेश्वर सुकमला, १६. उमागंगेश्वर, मानमथा, १७. कृष्णेश्वर, श्रिया, १८. श्रीकंठ, लया, १९. अनन्त, सती, २०. शंकर, रत्नमेखला, २१. पिंगल, यशोवती, २२. सादाख्य, हंसानन्दा, २३. परि-

दिव्यौध, वामा. २४. मारदिव्यौध, ज्येष्टा, २५. पीठौघ, रौद्री, २६. सर्वेश्वर, सर्वमयी ।

आग्नेय— १. परापर, चंडेश्वरी, २. परम, चतुष्मती, ३. तत्पर, गुह्य काली, ४. अपर, संवर्ता, ५ चिदानन्द, नीलकुब्जा, ६ अघोर, गंधा, ७. डामराघोर, समरसा, ८ ललित, रूपा, ९. स्वच्छ, स्पर्शा, १० भूतेश्वर, शब्दा, ११. आनन्द, डाकिनी, १२. आलस्य, रत्नडाकिनी, १३. प्रभानन्द, चक्रडाकिनी, १४. योगानन्द, पद्म डाकिनी, १५. अतीत, कुब्ज डाकिनी, १६. स्वाद, प्रचंड डाकिनी, १७. योगेश्वर, चंडा, १८ पीठेश्वर, कोशला, १९. कुल-कौलेश्वर, पावनी, २०. कुक्षेश्वर, समया, २१. श्रीकंठ, कामा, २२. अनन्त, रेवती, २३ शंकर, ज्वाला, २४. पिंगलाख्य, कराला, २५. सदाख्य, कुब्जिका, २६. कालरात्रिगुरू, परा, २७. सिद्ध गुरू, शान्त्यातीता, २८. रत्न गुरू, शान्ता, २९. शिव गुरू, विद्या, ३०. मेल गुरू, प्रतिष्ठा, ३१. समय गृरू, निवृत्ति ।

वायव्य— १. खगेश, भद्रा, २. कूर्म, आधारा, ३. मेष, कोषा, ४. मीन, मल्लिका, ५. ज्ञान, विमला, ६. महानन्द, शर्वरी, ७. तीव्र, लीला, ८. प्रिय, कुमुदा, ९. कालिक, मैनकी, १०. डामर डाकिनी, ११. रामर, राकिनी, १२. लामर, लाकिनी, १३. कामर, काकिनी, १४. सामर, साकिनी, १५. हामर, हाकिनी, १६. आधारेश, राका, १७. चक्रीश, बिन्दु, १८. कुकुर, कुला, १९. मद-ग्रीश, कुब्जिका, २०. हृदीश, काम कला, २१ शीरस, कुल दीपिका, २२. शिखेश, बर्वरी, २३. वर्मन, बहुरुपा, २४. शाखेश,

महत्तरी, २५. परम गुरू, मंगला, २६. पराधिकार गुरू, सौकर्या, २७. पूज्य गुरू, रामा ।

आकाश— १. हृदय, कौलिनी, २. धर, कान्ता, ३. भोग, विशेषी, ४. भय, योगिनी, ५. मह, ब्रम्ह तारा, ६. शव, शवरी, ७. द्रव, कालिका, ८. सरस, जुष्ट चांडाली, ९. मोह, अघोरेशी १०. मनो भव, हेला, ११. केक, महारक्ता, १२. ज्ञान गुह्य, कुब्जिका, १३. खर, डाकिनी, १४. ज्वल शाकिनी, १५. महाकुल, लाकिनी, १६. भियोज्वल, काकिनी, १७. तेज, साकिनी, १८. भूति, हाकिनी, १९ वामु, पापघ्नी, २०. कुल, सिंही, २१. संहार, कुलांबिका, २२. विश्वंभर, कामा, २३. कौटिल, कूण माता, २४. गालव, काली, २५. व्योम, व्योमा, २६. श्वसन, नादा, २७. खेल्वर, महादेवी, २८. बहुल, महत्तरी, २९. तात, कुण्डलिनी, ३०. कुलातीत, कुलेश्वरी, ३१. अज, ईंधिका, ३२. अनन्त, दीपिका, ३३. ईश, रेचिका, ३४. शिख, मोचिका, ३५. परम, परा, ३६. पर, चिति ।

मन— १. पर, परा, २. भव, भवपरा, ३. चित्, चित्परा, ४. महामाया, महामाया परा, ५. इच्छा, इच्छापरा, ६. सृष्टि, सृष्टि परा, ७. स्थिति, स्थिति परा, ८. निरोध, निरोध परा, ९. मुक्ति, मुक्ति परा, १०. ज्ञान, ज्ञान परा, ११. सत्, सति परा, १२. असत्, असति परा, १३. सदसत्, सदसति परा, १४. क्रिया, क्रिया परा, १५. आत्मा, आत्मपरा, १६. इंद्रियाश्रय, इंद्रियाश्रय परा, १७. गोचर, गोचर परा, १८. लोक मुख्य, लोक मुख्य परा, १९. वेदवत्, वेदव्रतिपरा, २०. संवित्, संविति परा, २१ कुण्डलिनी, कुण्डलिनी परा,

२२. सोषुम्णी, सोपुम्णी परा, २३. प्राण सूत्र, प्राण सूत्र परा, २४. स्पन्द, स्पन्द परा, २५. मातृका, मातृका परा, २६. स्वरोद्भव, स्वरोद्भव परा, २७. वर्णज, वर्णज परा, २८. वर्गज, वर्गजा परा, २९. शब्दज, शब्दज परा, ३०. वर्णज्ञात, वर्णज्ञता परा, ३१. संयोगज, संयोगज परा, ३२. मंत्र विग्रह, मंत्र विग्रह परा।

पाचों तत्वों का संबंध मूलाधार से विशुद्ध चक्र तक क्रमशः ५ चक्रों से है औन मन का सम्बन्ध भ्रूमध्य में आज्ञा चक्र से, इसलिये इन किरणों का भी सम्बन्ध छःओं चक्रों से है। छः चक्रों से वर्ष की छः ऋतुओं की समानता की जाती है। अर्थात वसन्त की मूलाधार से समानता है। क्योंकि इस ऋतु में पृथ्वी का वेध होकर पुष्प खिलते हैं और सुगन्ध का विकास होता है, ग्रीष्म ऋतु की स्वाधीष्ठान चक्र से समानता की जाती है, इस ऋतु में जल का वेध होकर सब जल सूखने लगता है। वर्षा की मणिपूर से समानता है, क्योंकि इस ऋतु में अग्नि का वेध होकर विद्युत और पर्जन्य का विकास होता है। शरद ऋतु की अनाहत चक्र से समानता की जाती है क्योंकि इसमें वायु का वेध होकर वातावरण शान्त निर्मल हो जाता है। हेमन्त ऋतु की विशुद्ध चक्र से समानता है, क्योंकि इस ऋतु में आकाश के वेध सूचक शीत की प्रधानता होती है, और शिशिर ऋतु की आज्ञा चक्र से समानता की जाती है क्योंकि इसमें चित्त की प्रसन्नता वढती है। इस प्रकार उक्त ३६० किरणों को वर्ष की ३६० तिथियों से समानता यह बात सिद्ध करती है कि पिंड का संवत्सर पुरुष आधार है। कृष्ण और शुक्ल पक्षों को भी शक्ति शिवात्म समझना चाहिये। कृष्णपक्ष में चन्द्रमा

की अन्वय और शुक्ल पक्ष में उन्नेय भूमिका समझनी चाहिये। इसी प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन को सूर्य (प्राण) की उन्नेय और अन्वय भूमिकायें समझनी चाहिये।

अगले तीन श्लोकों में वाक् सिद्धि का वर्णन है। १५ वें श्लोक में सात्विक, १६ वें राजसिक और १७ वें मिश्रित भावों युक्त कविता शक्ति के विकास का वर्णन है।

वाक् सिद्धि

[१५]

शरज्ज्योत्स्नाशुभ्रां शशियुतजटाजूटमकुटां
वरत्रासत्राणस्फटिकघुटि (णि) कापुस्तककराम्।
सकृन्न त्वां नत्वा कथमपि सतां सन्निदधते
मधुक्षीरद्राक्षा मधुरि मधुरीणा भणितयः॥

अर्थः— शरत् पूर्णिमा की चांदनी के सदृश शुभ्रवर्णा, द्वितीया के चन्द्रमा युक्त जटाजूट रूपी मकुट धारण किये हुए, दो हाथों से भक्तों को त्रास से त्राणार्थ अभयद और वरद अभिनय किये हुए और दो हाथों में स्फटिक मणियों की माला और पुस्तक धारण किये हुए, तुझको एक बार भी नमन न करनेवाला मनुष्य किस प्रकार सत्कवियों की सी मधु, दूध और द्राक्षा की मधुरता से युक्त मधुर कविता कर सकता है, अर्थात् नहीं कर सकता।

सं० टि० यह और अगले दो श्लोक मिल कर सारस्वत प्रयोग कहलाते हैं। अच्युतानन्द के अनुसार यहां वाग्भव रूप क्रिया शक्ति का ध्यान है, अर्थात वाग्भव कूट की देवी क्रिया शक्ति का ध्यान बताया गया है।

यहां कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर सास्वत सिद्धि हो की ओर संकेत है। कहा है।

सर्वे वाक्यात्मका मंत्रा वेद शास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि॥ ३,७
सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नाद समुद्भवाः :
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया॥ ३, ८
य इमां वैखरीं शक्तिं योगी स्वात्मनि पश्यति।
स वाक सिद्धिमाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः॥
३,१०(यो. शिखा.)

अर्थः— सब वाक्यात्मक मंत्र वेद शास्त्र, पुराण और काव्य, विविध भाषायें, सातों स्वर और गाथायें सब नाद से उत्पन्न होती हैं। यह नाद रूपा सरस्वती देवी सब प्राणियों की बुद्धिरुपी गुहा में रहती है। जो योगी इस वैखरी शक्ति को अपने भीतर देखता है उसे सरस्वती के प्रसाद से वाक् सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।

कुण्डलिनी शक्ति जागकर चार रूपों में प्रकट होती है, उन रूपों के नाम ये हैं, क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी · शारीरिक कंपदि, हठ योग के आसन प्रणायाम मुद्रादि, नृत्यादि

क्रियाओं में क्रियावती का रूप हैं। ३६ तत्वों के व्यतिरेक और शुद्धि की क्रियाओं में कलावती का रूप है। वर्णात्मिका मंत्रमयी है और षट् चक्र वेध वेधमयी करती है। वर्णमयी सरस्वती का रूप है जो समस्त शब्दमय जगत् को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चारों स्तरों पर धारण किये हुए है।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानेतानि विदुर्ब्राह्मणांये मनीषिणः।
गुहात्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ऋक

अर्थात् वाचा चार पाद वाली होती है, उनको जो बुद्धिमान ब्राह्मण हैं वे ही जानते हैं, उनमें से तीन तो गुहा में निहित (छुपी हुई) हैं, वे अपने स्थानों से नीचे नहीं हिलती, चौथी वैखरी को मनुष्य बोलते हैं। इस मंत्र के साथ ऐं बीज की उपासना की जाती है। देखें सरस्वती रहस्योपनिषद। यह वाक् बीज वाग्भव कूट का रूप है। इस श्लोक में सारस्वत प्रयोग का ध्यान बताया गया है। अगले दो श्लोक भी सारस्वत प्रयोग से ही संबंध रखते हैं।

[१६]

कवीन्द्राणां चेतः कमलवनबालातपरुचि
भजन्ते ये सन्तः कतिचिदरुणामेव भवतीम्।
विरिञ्चिप्रेयस्यास्तरुणतर शृङ्गार लहरी—
गभीराभिवाग्भिर्विदधति सतां (भां) रञ्जनमयी ॥

अर्थः —.कवीन्द्रों के चित्त रूपी कमल वन को खिलाने के लिये उदय होते हुए सूर्य के सदृश अरुणा रूपी आपका जो कोई थोड़े महान पुरुष भजन करते हैं, वे ब्रह्मा की प्रिया (सरस्वती) के तरुणतर श्रृंगार लहरी से निकली गंभीर कविताओं द्वारा सत्पुरुषों का मनोरंजन किया करते हैं।

सं० टि० यहां कामकूट की देवी इच्छा शक्ति का ध्यान बताया गया है।

व्याख्या— १५ वें श्लोक में 'शरदज्योत्सना,' 'शशि युत जटाजूट मकुटां,' पद, वरद और अभयद अभिनय, माला और पुस्तक सहित ध्यान भगवती के सात्विक रूप का ध्यान है और 'मधुक्षीर मधुरि मधुरीणा युक्त भणितयः' से भी सात्विक कविता की ओर संकेत है। परन्तु इस श्लोक में 'अरुणा' 'प्रेयस्यास्तरुणतर श्रृंगार लहरी' इत्यादि पदों में भगवती के रजोगुण स्वरूप का ध्यान है और श्रृंगार रस परिपूर्ण कविता की ओर संकेत है। ऐसी कविता का उपयोग भी मनोरंजन मात्र ही होता है; उनसे किसी प्रकार आध्यात्मिकता की उपलब्धि नहीं हो सकती।

'बाला तप रुचि' में 'बाला' पद स्पष्ट रूप से बाला मंत्र की ओर ध्यान दिलाता है, जिसकी उपासना रूपी तप से चित्त रूपी कमल बन का विकसित होना भी प्रध्वनित होता है। क्योंकि बाला तप का अर्थ 'बाला एव आतपः' अर्थात् सूर्य सदृश बाला भगवती इत्यादि अर्थ किया जा सकता है। इस प्रकार अर्थ करने से श्लोक

का भाव यह होगा कि कवीन्द्रों के चित्त रूपी कमल वन को विकसित करने के लिये अरुणा देवी बाला भगवती सूर्य सदृश है।

[१७]

सावित्रिभिर्वाचां शशिमणिशिलाभङ्गरुचिभि—
वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि संचिन्तयति यः।
सकर्ता काव्यानां भवति महतां भङ्गि सुभगै (रुचिभि)
र्वचोभिर्वाग्देवी वदन कमला मोद मधुरैः॥

वशिन्याद्याभिः = सर्व रोगहर अष्टार चक्र की आठ वाग्देवता वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयनी, सर्वेश्वरी और कौलिनी। भंगि = व्यंग।

अर्थः— वशिनी आदि सावित्रियों सहित, जो चन्द्रकान्त मणि की शिला की घडी हुई मूर्तियों की शोभा वाली हैं, हे जननी! जो मनुष्य तेरा ध्यान करता है, वह उच्च कोटि के काव्यों की रचना करने लगता है। उसकी सुन्दर कविता वाग्देवी के मुख कमल के आमोद पूर्ण माधुर्य से युक्त होती है।

सं० टि० यहां आठ वशिनी आदि वाग्देवियों सहित भगवती के ध्यान का उपदेश है और वाग्देवियों की शोभा चन्द्रकान्त मणियों की शोभा जैसी बताई गई है।

यह शक्ति कूट की देवी ज्ञान शक्ति का ध्यान है।

जैसे चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से चन्द्रकान्त मणि द्रवीभूत होती है, वैसे ही पन्द्रहवें श्लोकोक्त शरद्-ज्योत्स्ना-शुभ्रा भगवती के ध्यान से आठों वाग्देवियां द्रवीभूत होने लगती हैं। और उनके मन्त्र स्वरूप अ क च ट त प य श वर्गवाली सम्पूर्ण मातृका शक्तियां चन्द्रकान्त मणियों के नांईं, जो समस्त वैखरी वाणी की वर्णात्म आधार हैं द्रवीभूत होकर उस कवि में वर्णपदमंत्रविग्रहा नवरसयुक्त वैखरी शक्ति का विकास करने लगती हैं।

यह श्लोक सात्विक और राजसिक दोनों भावों को एक स्थानीय कर देता है। 'महतां काव्यानाम्' पद से ऋषि प्रणीत शास्त्रों का अभिप्राय है।

मधुमती भूमिका की सिद्धि।

(१८)

तनुच्छायाभिस्ते तरुण तरणि श्रीध(स)रणिभि
र्दिवं सर्वामुर्वीमरुणिमनिमग्नां स्मरति यः।
भवन्त्यस्य त्रस्यद्वनहरिणशालीन नयनाः
सहोर्वश्या वश्याः कतिकतिन गीर्वाणगणिकाः॥

कठिन शब्दः—तरणि=सूर्य; सरणि=किरणें; गीर्वाण गणिका= अप्सराएं, दिवं=आकाश; उर्वी=पृथिवी, छाया=कान्ति।

अर्थः—तरुण सूर्य की श्री अर्थात् कान्ति को धारण करने वाली तेरे शरीर की छाया (कान्ति) से आकाश और

सारी पृथिवी को अपनी अरुणिमा (लाल रंग) में निमग्न करती हुई तेरा जो स्मरण करता है, उसके वश में, घबराई हुई बन की हरिणियों जैसे चंचल नयनों वाली ऊर्वशी सहित कितनी स्वर्ग की अप्सरायें वश में हो जाती हैं ।

सं० टि०:—यहां ज्ञानी की दिव्य दृष्टि का जो सब जगत् को ब्रह्ममय देखने लगती है, वर्णन है । यह मधुमती भूमिका कहलाती है, जिसमें देवाङ्गनाएं साधक को पथभ्रष्ट करने का यत्न करती हैं ।

अप्सराओं से दिव्यशक्तियों का भी अभिप्राय है । उपरोक्त ध्यान करने वाले योगियों को दिव्यशक्तियों का साक्षात् होता है, जिनका वर्णन योगदर्शन के विभूतिपाद के ५१ वें सूत्र में मिलता है, उनको वहां स्थानीय देवता कहा गया है । यह अनुभव योगियों को ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होने पर मधुमती भूमिका में होता है । यह शुद्धसत्वगुण प्रधान भूमिका है । इसमें शक्ति का प्रकाश सर्वत्र दृष्टि-गोचर होने लगता है । अर्थात् ऐसे योगियों को भूमि और आकाश सर्वत्र भगवती की अरुण कान्ति की छाया से बसा हुआ दिखने लगता है । उक्त सूत्र पर व्यासजी अपने भाष्य में लिखते हैं कि उन स्थानीय देवताओं के प्रलोभनों से योगी को सतर्क रहना चाहिये, और संग दोप से वचने के लिये उसको इस प्रकार सोचना चाहिये कि घोर संसार के अंगारों में जलते हुए और जन्म मरण के अन्धकार में पडे हुवे मैंने इस क्लेश तिमिर को दूर करने वाले योग प्रदीप का प्रकाश बडी कठिनता से प्राप्त किया है । तृष्णा की कारणभूत विषयभोगों की आंधी इस योगरूपी दीपक को न कभी बुझा दे ।

काम बीज का ध्यान।

(१९)

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम् ॥

कठिन शब्द:—मन्मथ कला=क्लीं अथवा ईं ।

अर्थः—मुख को बिन्दु बना कर दोनों स्तनों को उसके नीचे दो और बिन्दु बनाना चाहिये उसके नीचे हर के अर्ध-भाग का ध्यान करना चाहिये। हे हर महिषी! इस प्रकार जो तेरी काम कला का ध्यान करता है, वह तुरन्त स्त्रियों के चित्त में क्षोभ ले आता है यह अति छोटी बात है, (उसका सामर्थ्य तो इतना अधिक होता है कि) अपितु वह सूर्य और चन्द्र रूपी दो स्तन वाली त्रिलोकी को भ्रमा सकता है।

सं० टि०:—हरमहिशी पद से आदि शक्ति ग्रहण करना चाहिये। 'हरतीति हर'। मन्मथकला, कामकला। कामकला से हमने त्रिपुरोपनिषद् की श्रुति ११ के प्रकाश में काम बीज लिया है। परन्तु ईं को काम कला कहते हैं। ईं में भी तीन बिन्दु माने जा सकते हैं। ईकार का नीचे का भाग हकार का आधा भाग समझा जा सकता है। इस लिये

नीचे व्याख्या में क्लीं के स्थान पर ईं भी पढा जा सकता है। विन्दु तीन हैं ब्रह्मा विष्णु और रुद्र। उनमें एक मुख है और दो स्तन।

इस श्लोक में काम कला का ध्यान बताया गया है। जो क्लींमें ककार के बिन्दु रूपी मुख के नीचे लकार के दो बिन्दुओं को दोनों स्तनों से उपमित कर के ईकार रूपी हरार्धींगिनी के योग से बनती है। इस मंत्र के प्रयोग का फल, इह लोक की स्त्रियों का वश करना तो क्या तीनों लोक वश में किये जा सकते हैं। त्रिलोकी भी एक विराट स्त्रीवत् ही है, जिसके सूर्य और चन्द्रमा दो स्तन सदृश हैं। परिशिष्ट नं. २ में त्रिपुरोपनिषद की श्रुति ११ भी देखें। इस उपमा से स्त्री मात्र में साधक का पूज्य मातृभाव जागृत किया गया है। क्योंकि सूर्य प्राण रूपी और चन्द्रमा अमृत रूपी दुग्धपान कराकर विश्व का पालन करते हैं। कहा भी है।

विद्याः समस्तास्तवदेविभेदाः स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु।

यद्यपि योगी के रूप लावण्य और तेजस्वी रूप को देखकर कामिनियों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है, अपितु योगी की इतनी महानता है कि त्रिलोकी भी उस पर अपना सर्वस्व निछावर करने को तय्यार रहती है। क्या उसके हृदय में सामान्य रमणियां काम का उद्वेग ला सकती हैं? वह प्रकृति देवी के विराट देह के सूर्य चन्द्ररूपी स्तनों के दूध को पीकर दोनों का योग करता है। स्तन पान करने वाला शिशु कितना सुन्दर होता है, जिसके रूप लावण्य पर सब ही मोहित होकर उसका कितने स्नेह से लालन-पालन किया करते हैं, परन्तु क्या उस शिशु में भी कभी युवतियों

को देखने से काम की भावना का उदय होना संभव है। प्रकृति देवी के सूर्य चन्द्र रूपी स्तनों के दूध से पुष्ट होने वाला योगी फिर इन सामान्य स्त्रियों की मायामयी मोहिनी से कैसे प्रभावित हो सकता है? वह प्रकृति जननी का बालक तो दिव्यामृत पीकर जडोन्मत्त बालवत् क्रीडा करता है। कामी पुरुष के चित्त में स्त्री के मुख और कुच युग पर दृष्टि पडने से विकार उत्पन्न होता है, परन्तु जो पुरुष इनको देखकर स्त्री के रूप में कामकला की भावना कर के, उसमें उपास्य बुद्धि उत्पन्न कर लेते हैं, उनके वश में त्रिलोकी हो जाती है। अर्थात् वे काम को जीतकर मन्मथारि हो जाते हैं।

सूर्य जगत् का प्राण है और चन्द्रमा जगत् का मन। श्रुतियां कहती हैं।

'प्राणः प्रजाना मुदत्येषः सूर्याः'। और 'चन्द्रमा मनसो जातः'। दोनों का संबंध सूर्य और चन्द्र मण्डलों से है। अनाहत चक्र के १२ पत्र १२ आदित्यों से और विशुद्ध चक्र के १६ पत्र चन्द्रमां की १६ कलाओं से उपमित किये जाते हैं। इसी प्रकार मणिपूर के १० पत्र अग्नि की १० कलाओं से उपमित किये जाते हैं। ईडा को चन्द्र नाडी, पिंगला को सूर्य नाडी कहते हैं और सुषुम्ना में तीनों का समावेश है। हृदय प्राण का स्थान है और आज्ञा चक्र मन रूपी चन्द्रमा का। जो योगी सूर्य को उन्मुख कर के सोमामृत का पान करते हैं और दिव्यानन्द का आस्वाद लेते हैं, उनको कामाग्नि का संताप नहीं संतप्त करता। ज्ञानी, भक्त, योगी अथवा समयाचार के उपासक किसी को भी काम प्रयोग इष्ट नहीं

होता। इसलिये इन श्लोकों को एक ज्ञानी अथवा योगी के हृदय में वैराग्य उत्पन्न करने के निमित्त ही लिखा जाना समझना चाहिये। परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री शंकर भगवत्पाद की लेखिनी से निकले हुए श्लोकों का अभिप्राय किसी सांसारिक काम वासना से संतप्त मनुष्य की स्त्री लोलुपता की सहायतार्थ काम प्रयोगों के लिये लिखा जाना सर्वथा असंभव है। और उनमें काम सिद्धि के तुच्छ प्रयोगों का विनियोग देखना अथवा करना भगवत्पाद की महानता पर कलंक लगागा मात्र है।

शक्तिपात करने की सिद्धि

[२०]

किरन्तीमङ्गेभ्यः किरणनिकुरम्बामृतरसं
हृदित्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः।
स सर्पाणांदर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव
ज्वरप्लुष्टान् दृष्ट्या सुखयति सुधाधारसिरया॥

कठिन शब्द:— किरन्ती=किरणें फैलाती हुई (radiating) निकुरम्ब=समूह, हिमकर=चन्द्र, शकुन्ताधिप=गरुड, सिरा=नाडी। सुधाधार सिरा=अमृत नाडी, जिससे अमृत का स्राव होता है।

अर्थ:— जो मनुष्य अंगों से अमृत रस रूपी किरणों के संमूह का निकास करती हुई तुझ को हृदय में धारण करता है, और तेरा चन्द्रकान्त शिला की मूर्तीवत हृदय में ध्यान करता है,

वह गरुड के सदृश सर्पों के दर्प का शमन कर देता है और अपनी सुधा की वर्षा करने वाली (आज्ञा चक्रस्थ) नाडी के द्वारा दृष्टि मात्र से ज्वर संतप्त मनुष्यों को सुख पहुंचाता है।

हिमकर शिला, हिम बनाने वाले चन्द्रमा की चांदनी से द्रवीभूत होने वाली चन्द्रकान्त मणि जैसे चन्द्रमा की किरणों से पिघलने लगती है, वैसे ही चन्द्रमण्डल के आज्ञा चक्रस्थ अधोमुख चन्द्र बिंब से भगवती की मूर्ति भी हृदय में धारण किये जाने पर अंग प्रत्यंग से अमृत रस की किरणें निकालने लगती हैं। वह योगी सर्पों के दर्प को भी शान्त कर सकता है, जैसे गरुड को देखकर सर्प भयभीत होकर चुप हो जाता है। जिस मनुष्य को कुण्डलिनी रूपी नागन ने डस रखा है और अपनी कुंकुम सदृश दिव्य अरुण मूर्ति के लिये उसके हृदय को निवास स्थान बना रखा है, उस योगी पर सामान्य सर्पों के विष का प्रभाव नहीं हो सकता। मानो कुण्डलिनी देवी की चन्द्रकान्त मणि तुल्य मूर्ति चन्द्रमा की सोम प्रभा पडने पर अमृत का स्राव करने लगती है और हलाहल को भी शान्त करने का सामर्थ्य रखती है। इतना ही नहीं, उस योगी की शांभवी मुद्रा में स्थिरीभूता दृष्टि, अवलोकन मात्र से आज्ञा चक्र की नाडी द्वारा कुण्डलिनी के उगले हुए गरलामृत को सींचकर मनुष्यों का ज्वर शांत कर देती है। यहां ज्वर से साधारण ज्वरों का भाव मात्र ही नहीं लेना चाहिये, यह संसार संताप भी एक व्यापी ज्वर है, जिसके त्रिताप से भी वह योगी शक्तिपात् दीक्षा द्वारा मुक्त कर देता है, यह प्रसिद्ध ही है। क्योंकि

[२१]

तडिल्लेखातन्वीं तपनशशिवैश्वानरमयीं
निषण्णां षण्णामप्युपरि कमलानां तव कलाम् ।
महापद्माटव्यां मृदितमलमायेन मनसा
महान्तः पश्यन्तो दधति परमाल्हादलहरीम्[१]

१ पाठान्तर= परमानन्दलहरीम्

कठिन शब्दः— अटवी=वन, महापद्माटव्यां=सहस्रार में ।

अर्थः— महापुरुष तेरी, विद्युत् रेखा जैसी पतली, सूर्य चन्द्र और अग्नि की त्रिमयी कला को, छः कमलों के भी ऊपर कमलों के महावन में, मलमाया से विशुद्ध मन द्वारा देख २ कर परम आनन्द की लहर को धारण किया करते हैं ।

सं० टि० इस श्लोक में अभ्यन्तर आज्ञा चक्र के ऊपर मूर्धागत ज्योति दर्शन का स्वरूप दिखाया गया है । इससे पूर्व जो ध्यान बताये गये हैं, वे सब नीचे के स्तरों के ध्यान हैं। कला से चित्स्वरूपा शक्ति का अभिप्राय है । महा पद्माटवी से सहस्रार का अभिप्राय है ।

षट् चक्र का वेध कर के कुण्डलिनी शक्ति जब सहस्रार में उठती है, तब उसकी कला बिजली के सदृश चमकती हुई रेखा के सदृश दृष्टिगोचर हुआ करती है । वह सोम सूर्य और अग्नि तीनों के तेज से युक्त होती है । उसके दर्शन वे ही महापुरुष योगी कर सकते हैं जिनके मन मल माया से विशुद्ध हो चुके हैं, जिसका

दर्शन परम आल्हादकारी होता है। ब्रह्मविद्योपनिषद् में उक्त कला का वर्णन नीचे उद्धृत् श्लोकों में किया गया है।

सूर्यमण्डल मध्येऽथ ह्यकारः शंख मध्यगः।
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥ ७ ॥
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्रो मात्रास्तथाज्ञेया सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥ ८ ॥
शिखातु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते।
अर्ध मात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥ ९ ॥
पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा ॥

अर्थः— 'शंख के मध्य भाग में, (ध्वनि के सदृश) प्रणव की प्रथम मात्रा अकार सूर्य मण्डल के मध्य है, उकार दूसरी मात्रा चन्द्रमा के सदृश उसके मध्य में स्थित है, तीसरी मात्रा मकार अग्नि सदृश जिसमें धूआं न हो, विद्युत् वत् चमकती हुई उसके मध्य में है। इस प्रकार तीनों मात्राओं को सोमसूर्याग्निमयी जानना चाहिये। उसके ऊपर दीप शिखा के सदृश लौ है, उसको प्रणव के ऊपर आधी मात्रा समझना चाहिये। वह कमल सूत्र जैसी सूक्ष्म शिखा योगियों को दृष्टिगोचर होती है? उक्त प्रणव कला जो शक्ति की ही कला है, सहस्रार में दिखती है। शुद्ध अन्तःकरण वाले योगी ही उसे देख सकते हैं, और उसका दर्शन परम आल्हाद का देने वाला होता है। इसके दर्शन के पश्चात् ज्ञान की भूमिका का उदय होता है। सिद्धियों की भूमिका भी नीचे ही रह जाती है, क्योंकि प्रत्येक चक्र की सिद्धियां भिन्न २ हैं।
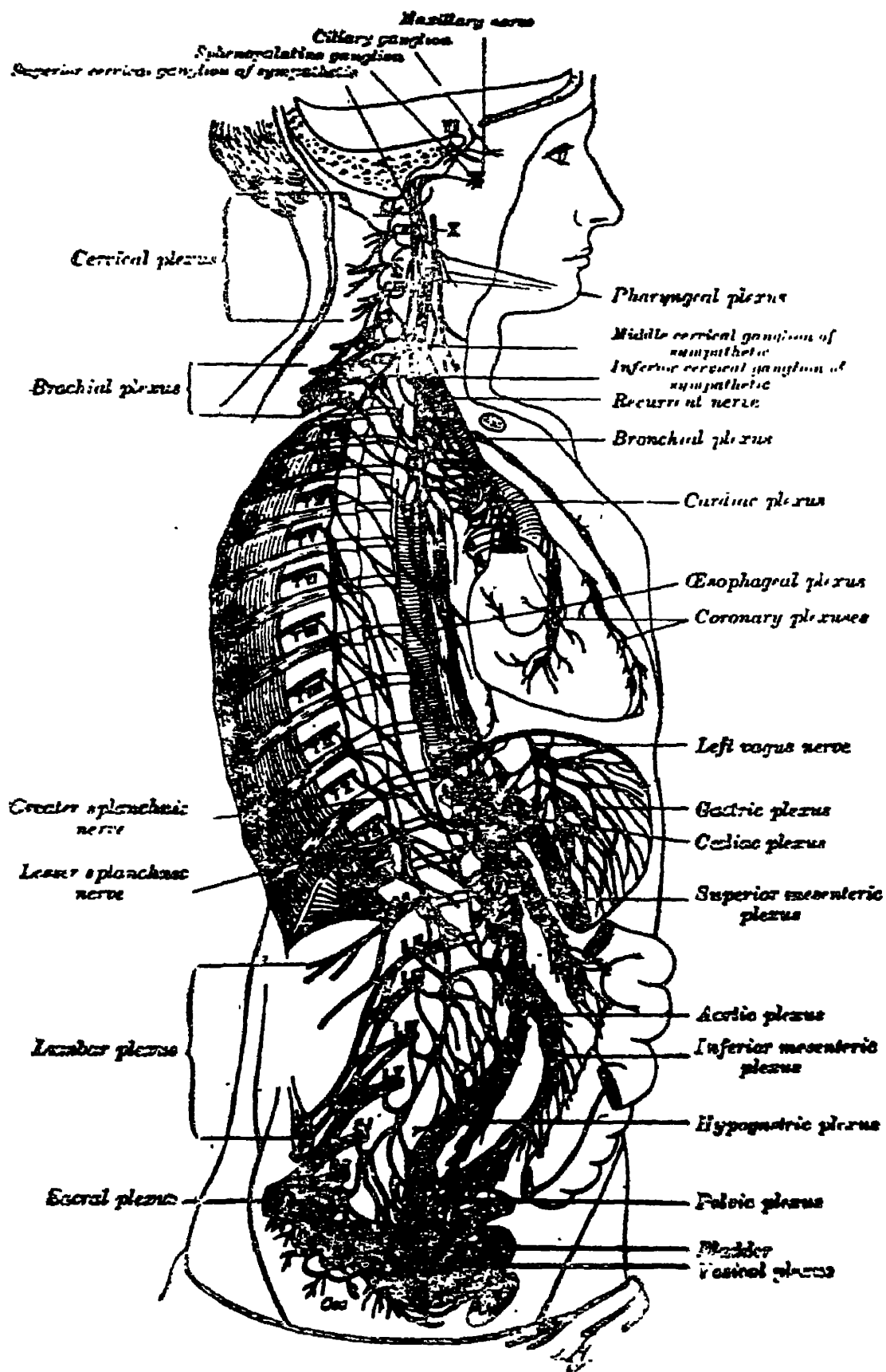
Borrowed from Gray's Anatomy

चक्रों और सहस्रार का सविस्तार वर्णन

स्थूल देह सप्त धातुओं का बना है। जो अन्न जल खाया पिया जाता है, वह जठराग्नि से पचकर रस बनाता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा, मेदा से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थि से मज्जा, और मज्जा से शुक्र। रुधिर, मांस, मेदा (चर्बी,) स्नायु, अस्थि, मज्जा, और शुक्र (वीर्य) सप्त धातु कहलाती हैं। रक्त को अंग प्रत्यंग में पहुंचाने के लिये रक्त वाहिनी (arteries) नलिकाओं सदृश नाडियां हैं, जब वह रक्त दूषित होकर नीला हो जाता है तब उसको स्वच्छ करने के लिये हृदय में खेंचकर फुफुसों में पहुंचाया जाता है, वहां श्वास द्वारा वह फिर स्वच्छ हो जाने पर हृदय में खेंच लिया जाता है और रक्त वाहिनी नाडियों में भेज दिया जाता है। हृदय पंप का कार्य करता रहता है, जिसका एक ओर फुफुसों से संबंध है दूसरी ओर रक्त को लाने और ले जाने वाली नलिकाओं से। नीले रंग के दूषित रक्त को हृदय में खेंचने वाली नलिकायें पित्त नाडियां (veins) कहलाती हैं। इसी प्रकार मेदस् (चर्बी) बनाने वाले द्रव्य की भी नलिकायें होती हैं जिनको कफ वाहिनी (Lymphs) नाडियां कहते हैं। मेदा से स्नायु की उत्पत्ति बताई जाती है। ये स्नायु वात, अर्थात् प्राण वाहिनी नाडियां (nerves) कहलाती हैं। मज्जा अस्थियों की नलिकाओं में होती है और शुक्र, शुक्राशय में अण्डकोषों द्वारा बनता है। यहां हम स्नायुओं को ही नाडी नाम से संबोधित करते हैं। ये नाडियां सुषुम्ना नाडी के द्वारा आनख शिख देह का मस्तिष्क से संबंध जोडती हैं। इनकी संख्या ७२ हजार कही

जाती हैं। सुषुम्ना नाडी मेरु दण्ड के भीतर सुरक्षित है। जिसकी आकृति ∞ के सदृश मिलती हुई सी समझनी चाहिये। किसी पदार्थ के ऐसे पुर्जों को एक दूसरे पर रखकर और दोनों ओर के बड़े छिद्रों में दोनों ओर बारीक तारों के गुच्छों को पिरोकर सब पुर्जों को ग्रथित कर लिया जाय तो वह सर्पाकार सुषुम्ना का ढांचासा दिखने लगेगा। सुषुम्ना में तारों के स्थान पर वे स्नायु हैं जो मस्तिष्क को देह में फैले हुए समस्त नाडी जाल से संबंधित करते हैं। और बीच के छिद्र से बनी नलिका में एक द्रव्य पदार्थ भरा रहता है जिसको चन्द्र मण्डल से निकलने वाला अमृत कहते हैं, इसे सुषुम्ना मानों पान कर के पुष्ट होती है। अंग्रेजी में इसे (cerebro spinal fluid) अर्थात् मास्तिष्क सौष्मन द्रव्य कहते हैं। सुषुम्ना के अन्दर गुदा, उपस्थ, नाभि, बक्षस्, ग्रीवा के ५ प्रदेशों से संबंधित् ५ चक्र हैं, जिनको विभिन्न अंगों की नाडियों से सुषुम्ना का संबंध होता है। सुषुम्ना के दोनों तरफ के स्नायु भ्रूमध्य प्रदेश में एक बिन्दु पर मिलकर दक्षिण भाग से वाम ओर और वाम भाग से दक्षिण ओर होकर सहस्रार में चढ़ जाते हैं, इस भ्रूमध्य स्थान को आज्ञा चक्र कहते हैं। ग्रीवा प्रदेश के चक्र को विशुद्ध, वक्षस् के चक्र को अनाहत्, नाभि प्रदेश के चक्र को मणिपूर, उपस्थ देश के चक्र को स्वाधिष्ठान और गुदा प्रदेश के चक्र को मूलाधार कहते हैं। भ्रूमध्य से ऊपर कपाल सपुट में सुषुम्ना का ऊर्द्ध्व भाग चार रूपों में परिणत हो जाता है। सब से नीचे का भ्रूमध्यस्थ अधोभाग (modula oblangata) कहलाता है, उसके ऊपर छोटा मस्तिष्क (cerebellum or hind brain) कहलाता है, इसको कपाल कंद कहते हैं, यहां पर पांचों ज्ञानेन्द्रियों

और स्वप्न की नाडियों का स्थान है, इसी को मनश्चक्र भी कहते हैं। इसके ऊपर एक अति सूक्ष्म नलिका है जो सुषुम्ना के मध्यवर्ती विल का वह भाग है जो छोटे दिमाग अर्थात् कपाल कंद को सहस्रार (cerebrum) के मध्यवर्ती ब्रह्मरंध्र (Third Ventrical) से जोडता है। इस भाग के नीचे कपाल कंद के सामने भी एक त्रिकोणाकृति कपाल रंध्र (Fourth ventrical) है। (Third Ventrical) ब्रह्म रंध्र भी त्रिकोणा कृति ही है जो पीछे से सामने की ओर फैला हुआ है। ब्रह्मरंध्र पर एक पुलसा बना हुआ है, जिस पर सुषुम्ना पथ से आने वाले स्नायु समूह स्पर्श कर के फिर सारे मस्तिष्क (cerebrum) के विभिन्न केन्द्रों को फैल जाते हैं। इसलिये इस स्नायु समूह के प्रसार को सहस्रार कहते हैं।

गुदा के पीछे एक मांस पेशी है, जिसे कंद कहते हैं। वह ९ अंगुल लंबी और ४ अंगुल मोटी कही जाती है। इसके मध्यवर्ती नाभिवत् केन्द्र पर कुण्डलिनी के सोने का स्थान है। उस स्थान को विषु चक्र भी कहते हैं, क्योंकि यहां शक्ति निष्क्रिय सुप्तवत् रहती है, अथवा वह ईडा और पिंगला का एक स्थानीय उद्गम स्थान होने के कारण, वहां चन्द्रमा और सूर्य दोनों का अभाव सा रहता है अर्थात् दिन रात्रि एक समान गति रहित रहते हैं। विषु दिन रात्रि के एक समान होने के समय को कहते हैं। कुण्डलिनी को नाभि में धारण करने वाली मांस पेशी का कंद अधः सहस्रार कहलाता है। क्योंकि योगियों के समष्टि प्राण देह की सब नाडियों से खिंचकर पहिले यहां एकत्रित होते हैं और फिर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं।

ग्रीवा के ऊपर तालु का अन्तिम भाग नीचे की ओर लटका करता है, उसे लंबिका (काग) कहते हैं। वह भी एक चक्र माना जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के छटे अनुवाक् में इसको इन्द्रयोनि नाम दिया गया है, जिसका शीर्षकपाल से संबंध है। और नीचे उसका हृदयाकाश से भी संबंध है। इस प्रकार अहंवृत्ति को हृदयाकाश से ब्रह्म रंध्र में ले जाने का लंबिका द्वारा सुषुम्ना से बाहर भी एक मार्ग है, जिसका कपाल कंद से सीधा संबंध है, अर्थात् वह हृदय के अष्टदल पद्म का सीधा मनश्चक्र से संबंध जोडता है। इसीलिये हृदय के इस चक्र को सुषुम्नागत षट् चक्रों से पृथक चक्र माना जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कपाल कंद से पांचों ज्ञानेन्द्रियों और उनके गोलकों से संबंध रखने वाली नाडियों का निकास है। उनमें से एक नाडी ग्रीवा से नीचे उतरकर वक्षस्, उदर, कटि भाग में गुदा तक नीचे उतरती है, उसे अंग्रेजी में Vagus nerve कहते हैं, योग के आचार्यों ने उस के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न नाम दिये हैं, जैसे कूर्म, विश्वोदरी, कुहू इत्यादि। इस नाडी की वाम शाखा निरर्थक सी है, परन्तु दक्षिण शाखा के तीन विभाग हैं, अर्थात् वक्ष, उदर और कटि देश के भाग। वक्ष के भाग में प्राण, उदर के भाग में समान और नीचे के भाग में अपान के स्थान हैं। इस नाडी का संबंध ईडा और पिंगला की मुख्य नाडियों (sympathetic columns) से भी है, और उनका संबंध सुषुम्ना के चक्रों से है। इसलिये यह प्राण समान अपान की नाडी

स्वतंत्र है और मन के आधीन कार्य नहीं करती। इसको स्वतत्र नाडीविभाग (autonomous system) कहते हैं।

सुषुम्ना के तीन परत होते हैं ऊपर के परत वाले भाग को वज्रा कहते हैं, उसके नीचे का परत चित्रा कहलाता है जिसके बीच में एक नलिका है। सुषुम्नागत छः चक्र अथवा कमल चित्रा में होते हैं और बीच वाली नलिका को पुष्प के बीच वाली नलिका सदृश समझना चाहिये, उसे ही ब्रह्म नाडी या विरजा कहते हैं।

इस श्लोक में जिन छः पद्मों के ऊपर महापद्मावटी में भगवती की कला की स्थिति कही गई, वे चित्रास्थित छः चक्र अथवा पद्म हैं। छओं चक्रों के छः अधिदेवता हैं। मूलाधार के ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान के विष्णु, मणिपूर के रुद्र, अनाहत के ईश्वर, विशुद्ध के सदाशिव और आज्ञा के पर शिव। इनके अरों अथवा दलों की संख्या तत्वों की कला के अनुसार है। अग्नि की १०, सूर्य की १२, चन्द्रमा की १६, कलाएं क्रमशः मणिपूर अनाहत और विशुद्ध के दलों के बराबर हैं। ब्रह्मा विष्णु और रुद्र प्रत्येक की दस २ कलायें हैं, ईश्वर की चार और सदाशिव की १६ कलायें हैं। मूलाधार की ४, स्वाधिष्ठान की ६, और आज्ञा की दो शिराओं को भी कला कहें तो सब का योग पूरा १०० होता है। आज्ञा में परशिव निष्कल है, जिसकी शक्ति की ही ये सब कलाए कही जा सकी हैं, अर्थात् सहस्रार स्थित भगवती की कला के ये सब अवान्तर भेद हैं, अथवा वे निम्न स्तरों पर चमकने वाली प्रतिबिंब सदृश कही जा सकती हैं। कलाओं के नाम नीचे दिये जायेंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि अनाहत चक्रस्थ सूर्य उन्मुख होकर आज्ञा के ऊपर स्थित अधोमुख चन्द्रमा पर अपना प्रकाश डालता है तब दोनों के योग से चन्द्रमा में से अमृत स्रवने लगता है, जिसका प्रमाण कलाओं के अनुसार समझना चाहिये। अनाहत चक्र के १२ पत्रों पर १२ आदित्य हैं और विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर चन्द्र की १६ कलायें।

चन्द्र सूर्य

चन्द्रमा का संबंध मन से है और सूर्य का संबंध प्राण से। कहा है 'चन्द्रमा मनसो जातः' 'आदित्यो वै प्राणः' 'आत्मन एषः प्राणो जायते'। चन्द्रमा ईश्वर के मन से उत्पन्न हुआ है, और आदित्य स्वयं समष्टि ब्रह्माण्ड को जीवन प्रदान करने वाला प्राण है। प्राण का उदय सीधा आत्मा से होता है। शरीर में मुख्यतः दो प्रकार की नाडियों के विभाग हैं। एक प्रकार की नाडियां वे हैं जो मेरु दण्ड के मध्य में स्थित सहस्रार से नीचे उतरने वाली सुषुम्ना से निकल कर सारे शरीर में फैलती हैं और सुषुम्नागत छवों चक्र, जिनके स्थान ग्रीवा, वक्षः स्थल, कटि, मूत्र और अधो भाग हैं, उनके निकास के केन्द्र हैं। इन नाडियों का मन और प्राण दोनों से संबंध है। और दूसरे प्रकार की वे नाडियां हैं जो आज्ञा चक्र के पास के मनश्चक्र (hind brain) से निकल कर श्रोत्र, नेत्र, मुख, जिह्वा में फैल जाती हैं, और उनमें से एक कूर्म (विश्वोदरी) (Vagus nerve) नीचे उतर कर गुदा तक फैली हुई है। इसका वाम भाग छोटा है और कुछ विशेष कार्य नहीं करता, परन्तु दक्षिण भाग फेफडों, और हृदय में श्वास प्रश्वास का कार्य, उदर में पाचन और रस वितरण का कार्य और अधो भाग

AUTONOMIC NERVOUS SYSTEM
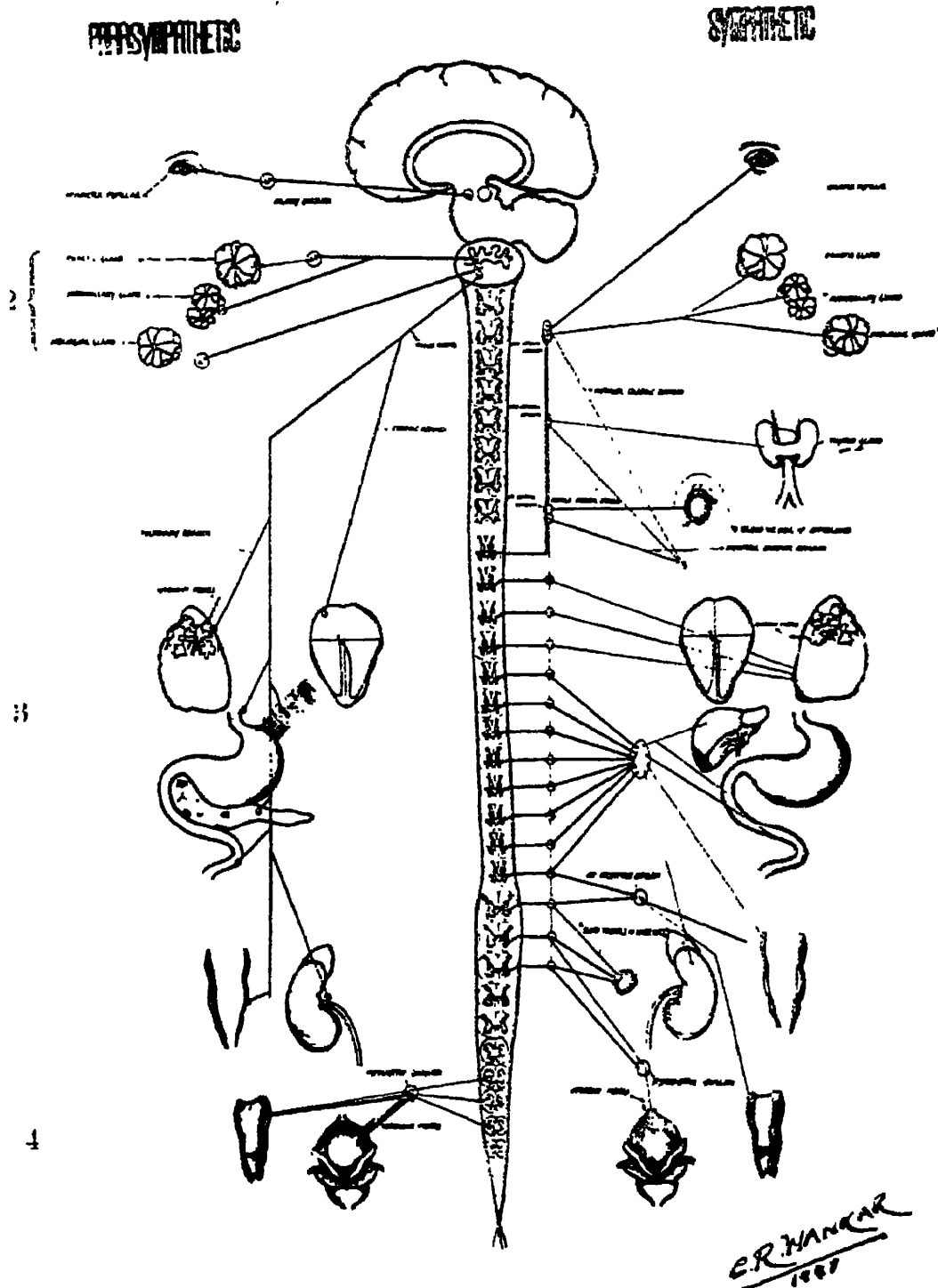
PARASYMPATHETIC SYSTEM

1- Optical, 2- Other sensory nerves. 3. Right Vagus nerve, 4. Coccygeal connections.

SYMPATHETIC SYSTEM

Different connections of the symp thetic columns (Ida & Pingala) with spin cord on one side and different limbs the other.

में मलविसर्जन का कार्य करती है। पंच प्राणों की क्रियायें इसही नाडी से संबंध रखने वाली क्रियायें है। जो मन के आधीन नहीं हैं और सोते जागते सदा अपना कार्य किया करती हैं। क्योंकि प्राण कभी सोता नहीं, मन सोता जागता है। इस दक्षिण वैगस नाडी का संबंध सुषुम्ना के दक्षिण पार्श्व की पिंगला से है, ईडा से नहीं है। इसलिये चन्द्रमा का संबंध ईडा से, सूर्य का संबंध पिंगला से रहता है और ईडा को चन्द्र नाडी और पिंगला को सूर्य नाडी कहते हैं।

सूर्य की किरणों में प्रकाश, उष्णता और प्राण शक्ति अर्थात् जीवन प्रद शक्ति की त्रिधा शक्ति होती है। उनमें उष्णता विष का कार्य करती है, परन्तु विष भी अल्प मात्रा में अमृत का कार्य करता है, इसलिये सूर्य की उष्णता एक परिमित ताप मान की अवधि में जीवन की रक्षा के लिये सहायक होती है और उस अवधि के बाहर मारक सिद्ध हो जाती है। चन्द्रमा सूर्य की उष्णता को स्वयं पान कर लेता है और प्रकाश और प्राण शक्ति को अमृत के रूप में भूमि पर अपनी कलाओं द्वारा बरसाया करता है। यह बाह्य क्रिया प्राणि मात्र के शरीर पर ईडा और पिंगला नाडियों द्वारा प्रभाव डालती है।

शुक्ल पक्ष में अमृत की वृद्धि होती है और कृष्ण पक्ष में कमी। साधारण प्राणियों में अमृत का संचय नहीं होने पाता, अधोमुख अनाहत चक्र अपनी उष्णता से सब अमृत को सुखाता रहता है। इसलिये उसको विष की वर्षा करने वाला माना गया है। कुण्डलिनी के जागने पर उसके उद्ध्र्व मुख होने पर उसकी क्रिया

चन्द्र मण्डल पर होने लगती है और चन्द्र मण्डल से प्रसवित अमृत सब नाडियों को सींचने लगता है।

इस विषय पर विशेष जानकारी के लिये लेखक की Divine Power नाम की अंग्रेजी पुस्तक देखें।

श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्द के १५ वें अध्याय में ४१, ४२ श्लोक संपूर्ण योग मार्ग के अनुष्ठान का वडा सुन्दर वर्णन करते हैं। जब धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान के परम धाम चले जाने का समाचार जाना तो उन्होंने जिस क्रम से ब्रह्मात्मैक्य कर के उत्तरा खण्ड की ओर प्रस्थान किया था। उक्त श्लोक इस प्रकार हैं।

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राणे इतरे च तं।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वेह्यजोहवीत्॥ ४१
त्रित्वे हुत्वाथ पंचत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।
सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये॥ ४२

अर्थः— उस मुनि (युधिष्ठिर) ने बाणि की मन में आहुति दी, और मन की प्राण में, प्राण की अपान में और उत्सर्ग सहित अपान की मृत्यु में और मृत्यु की आहुति पञ्चत्व में दी, फिर पञ्चत्व की त्रित्व में आहुति देकर, उस (त्रित्व) की एकत्व में आहुति दी, इस प्रकार सब की आत्मा में आहुति देकर आत्मा की आहुति अव्यय ब्रह्म में दी। अर्थात मौन धारण कर के और मन को संकल्प विकल्प रहित एकाग्र कर के बाणि को मन में लीन कर लिया, फिर मन का प्राण से और प्राण का अपान से योग किया,

और तीनों को सुषुम्ना द्वार में प्रवेश कर के मृत्यु को जीत लिया, मानों मृत्यु को षट् चक्र वेध द्वारा पांचों तत्वों के वेध में लीन कर दिया, फिर पांचों तत्वों को तीनों ब्रह्म, विष्णु और रुद्र ग्रंथियों के वेध द्वारा तीनों गुणों में लीन कर दिया और तीनों गुणों को उनके एक कारणभूत महत् तत्व में लीन कर दिया, इस प्रकार सब को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा अक्षर ब्रह्म में लीन कर दिया। तत्पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि' के ज्ञान में निदिध्यासन द्वारा स्थिति रखते हुए सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति की।

तत्वों और चक्रों के अधि देवों की कलाओं के नाम

मणिपूर में अग्नि की दस कलाएं सारे शरीर के व्यापार को धारण किये हुए हैं। अग्नि का स्थान योनि स्थान में बताया जा चुका है उसकी दस कलाएं मणिपूर में उठा करती हैं। मणिपूर के दस दलों का प्रत्येक दल इन कलाओं का एक २ दल है। अग्नि की कलाओं के नाम ये हैं:—

धूम्राचि, ऊष्मा, ज्वलिनी, ज्वालिनी, विस्फुलिंगी, सुश्रिया, सुरूपा, कपिला, हव्यवाहिनी और कव्यवाहिनी।

अनाहत् चक्र के १२ दल सूर्य की १२ कलायें हैं, उनके नाम ये हैं—तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीची, ज्वालिनी, रुची, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा।

विशुद्ध चक्र के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलायें हैं, उनके नाम ये हैं—अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टी, पुष्टी, रती, धृति,

शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अङ्गदा, पूर्णा और पूर्णामृता।

आज्ञाचक्र के नीचे वायु और आकाश में रुद्रग्रन्थि है, रुद्रकी १० कलायें हैं, जिनके नाम ये हैं—तीक्ष्णा, रौद्री, भया, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, क्रोधिनी, क्रिया, उद्गारी, और मृत्यु।

मणिपूर के ऊपर अग्नि और सूर्य मण्डलों में विष्णुग्रन्थि है, विष्णु की भी १० कलायें हैं, जिनके नाम ये हैं। जरा, पालिनी, शान्ति, ईश्वरी, रति, कामिका, वरदा, ह्लादिनी, प्रीति, और दीर्घा।

मूलाधार और स्वाधिष्ठान में पृथिवी और जलकी ब्रह्मग्रन्थि है, ब्रह्माकी १० कलायें ये हैं।—सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति, स्थिरा, स्थिति, और सिद्धि। तीनों के मध्य चार रंग की दीप शिखा तुल्य ईश्वर कला है, जिसके रंग पीत, श्वेत, अरुण और कृष्ण (असित) हैं। इसका स्थान हृदय में है। शिखा के ऊपर उसीका अग्रभागवत् सदाशिव कला है। जो विद्युत् सदृश कही जाती है।

तस्य मध्ये वन्हिशिखा अणीयोर्द्ध्वा व्यवस्थिता।
नीलतोयद मध्यस्थाद्विद्युल्लेखेव भास्वरा॥
नीवारशूकवत्तन्वी पीताभास्वत्यणूपमा।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः॥
सब्रह्मा सशिवः सहरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥

नारायणोपनिषद् खण्ड (१३-२)

अर्थः—उसके मध्य अग्नि की शिखा, पतली ऊपर को उठी हुई खडी है। जो नीले मेघों में विद्युत् रेखा के सदृश चमकती है, वह नीवारशूक के सदृश पतली, पीत वर्णा, अणु के सदृश चमकती है। उसकी शिखा के मध्य में परमात्मा विराजता है, वह ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र और परम स्वराट् अक्षर ब्रह्म है।

इसी को सदाख्य कला समझना चाहिये। सदाख्य तत्व की १६ कलायें नीचे दी जाती हैं। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इन्धिका, दीपिका, रेचिका, मोचिका, परा, सूक्ष्मा, सूक्ष्मामृता, ज्ञाना, ज्ञानामृता, आप्यायिनी, व्यापिनी और व्योमरूपा।

सब कलाओं का योग ८८ होता है, इनमें मूलाधारस्थ पृथिवी की ४, जल की छः और आज्ञाचक्र की ईडा, पिंगला अथवा सहस्रार की ओर बहनेवाली वरणा और असी दो कलायें मिलाने से सब की संख्या पूरी १०० होती है। ये सब भगवती कुण्डलिनी देवी की ही कलायें हैं। मूलाधार से उठकर सारे कुलपथ में उक्त कलाओं के विविध रूपों में प्रकाशित होती हुई, कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में अपने पति शिवजी से मिलने जब जाती है तब मानों अनेक श्रृंगारों को धारण करती है।

आज्ञा के ऊपर ९ स्तर

मूलाधार से नीचे विषु संज्ञक और अधः सहस्रार दो चक्र और भी माने जाते हैं और आज्ञा के ऊपर बिन्दु अर्धेन्दु अथवा अर्धचन्द्रिका, निरोधिका, नाद, महानाद अथवा नादान्त, शक्ति, व्यापिका,

समनी और उन्मनी ९ स्तर हैं। इनमें प्रथम चार स्तरों की पांच २ कलायें ५ महाभूतों के अनुसार हैं। नादान्त में वाच्य वाचक का भेद लीन हो जाता है। नाद को वाचक अर्थात् शब्दात्मक समझना चाहिये, उसके ५ स्तर ५ तत्वों के योग से उत्पन्न होने वाले शब्द कहे जा सकते हैं। नीचे के ३ स्तर रूपात्मक हैं, निरोधिका में रूप का निरोध हो जाता है। शक्ति स्तर पर तीव्र आनन्द लहरी का अनुभव होता है, व्यापिका पर शून्य स्थान है, इसका वेध दिव्यकरण की विशेष क्रिया द्वारा होता है। समनी में सास्मिता समाधि होती है, और उन्मनी में उन्मनी अवस्था। इन स्तरों को पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार निरोधिका पर निर्वितर्क, नादान्त पर निर्विचार, व्यापिका पर सानन्द, और समनी पर सास्मिता संप्रज्ञात समाधियों का स्तर समझा जा सकता है।

सुषुम्नाये कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्र मण्डलात्
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्तै चिदात्मने। यो. शि. (६, ३)

सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषात्वन्ये निरर्थकाः।
*हृल्लेखे परमानन्दे **तालुमूले** व्यवस्थिते॥ (६, १९)

अत उर्द्ध्वे ***निरोधेतु** मध्यमं मध्यमध्यमं।
उच्चारयेत्पराशक्तिं ब्रह्मरंध्र निवासिनीम्॥ (६, १९)

गमागमस्थं गगनादि **शून्यं**
चिद्रूपदीपं तिमिरन्धनाशम्।

*नोटः—हृल्लेखा और निरोधिका स्त्रीवाचक पद हैं, परन्तु यहां पुरुष वाचक प्रयुक्त किये गये हैं ये छान्दस प्रयोग हैं।

पश्यामि तं सर्वं जनान्तरस्थं

नमामि हंसं परमात्मरूपम् ॥ (६, २०)

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।

ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः ॥ (६, २१)

तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।

तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत् ॥ (६, २२)

आधार शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया ।

तस्यां शक्ति प्रबोधेतु त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते ॥ (६, २३)

ब्रह्मरंध्रे महास्थाने वर्तते सततं शिवा ।

चिच्छक्तिः परमा देवी मध्यमे सुप्रतिष्ठिता ॥ (६,४७)

माया शक्ति ललाटाग्रभागे व्योमाम्बुजे तथा ।

नादरूपा पराशक्तिर्ललाटस्यतु मध्यमे ॥ (६, ४८)

भागे बिन्दुमयी शक्तिर्ललाटस्या परांशके ।

बिन्दु मध्ये च जीवात्मा सूक्ष्मरूपेण वर्तते ॥ (६, ४९)

हृदये स्थूल रूपेण मध्यमेन त मध्यमे ।

अर्थः— सुषुम्ना, कुण्डलिनी, चन्द्र मण्डल से टपकने वाली सुधा और मनोन्मनी के रूपों में प्रकट होने वाली चिदात्मिका महाशक्ति को नमस्कार है । सुषुम्ना शांभवी शक्ति है, और शेष अन्य सब नाडियां निरर्थका हैं । तालु मूल अर्थात् ६टे लंबिका स्थान पर परमानन्द स्वरूपिणी हृल्लेखा (ह्रीं) शक्ति व्यवस्थित है । वहां पर

ब्रह्मरंध्र में निवास करने वाली पराशक्ति का उच्चारण करना चाहिये। फिर उसके ऊपर निरोधिका के (१० वें स्थान) के मध्य होते हुए मध्य २, जहां गमनागमन की स्थिरता है, गमनादि से शून्य है और तिमिरांध का नाश करने वाला चिद्रूप दीपक का स्थान है, जाना चाहिये। सब मनुष्यों के अन्तर में विराजने वाले उस परमात्म-रूप हंस कला को नमस्कार है। अनाहत् (४ थे) चक्र से उदय होने वाले शब्द, और उस शब्द में जो ध्वनि (११ वें और १२ वें स्तर पर), उस ध्वनि के अन्तर्गत जो ज्योति (१३ वां स्तर) है, उस ज्योति में मन लगाकर जहां मन का लय हो जाता है वहां (१४ वें) से सहस्रार तक का स्तर विष्णु का परम पद है। उसके लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ श्री गुरु की शरण में जाना चाहिये। (क्योंकि १४ वें स्तर का वेध बिना दिव्य करण के नहीं होता।) कहा है कि मूलाधार शक्ति के सोते रहने पर सारा विश्व मोह निद्रा में सोता रहता है, और उस शक्ति के प्रबुद्ध होने पर त्रिलोकी की शक्तियां जाग उठती हैं। ब्रह्मरंध्र रूपी महास्थान (सहस्रार) में शिवा शक्ति सदा रहती है, वहां ही परमा चिति शक्ति देवी मध्य में सुप्रतिष्ठित है, विशुद्ध (५ वें) व्योम चक्र में और ललाट के अग्र भाग में माया शक्ति है। नाद रूपा परा शक्ति ललाट के मध्य भाग (११) में है और विन्दुमयी शक्ति (८ वें स्तर पर) ललाट के अपरांश भाग में है। बिन्दु में जीवात्मा सूक्ष्म रूप से रहता है, हृदय में स्थूल रूप से रहता है और दोनों के मध्य में मध्य रूप से रहता है।

पूर्वोक्त अनुभव प्राप्त योगी को महा वाक्यों के ज्ञान का उदय होता है, इसलिये अगले श्लोक में 'भवानि त्वं' पद से ज्ञान की भूमिका का उल्लेख किया गया है।

'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान का उदय

[२२]

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमकुटनीराजितपदाम् ॥

कठिन शब्द:—भवानि=हे भवानि; और मैं हो जाऊं। नीरा-जित पदां=जिस पद की आरती उतारी जाती है।

अर्थः—'हे भवानि! तू मुझ इस दास पर भी अपनी करुणामयी दृष्टि डाल, इस प्रकार कोई मुमुक्षु स्तुति करते समय भवानि त्वं' (मैं तू हो जाउं) इस पद का ही उच्चारण कर पाता हैं, उस ही समय तू उसे निज सायुज्य पद प्रदान कर देती है, जिस पद की ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र भी अपने मुकुटों के प्रकाश से आरती उतारा करते हैं। अर्थात् (प्रणाम करते रहते हैं)।

सं० टि०:—भाष्यकार डिंडिम का मत है कि वाह्याभ्यन्तर यागों का वर्णन करके शंकर भगवत्पाद इस श्लोक में प्रेमरूपा भक्ति

की उत्कृष्टता दिखाते हैं, जिससे सायुज्यमोक्ष की प्राप्ति आविलंब भगवती के अनुग्रह मात्र से प्राप्त हो जाती है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत ।
ततो मां तत्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

गीता० (१८, १५)

व्याख्या:—भाव यह है कि जो ईश्वरी सकाम अनुष्ठान करने वालों को उनके सुकृतों का फल देती है, वह मुमुक्षुओं को ज्ञान का फलस्वरूपे सायुज्य पदवी भी देती है।

'प्रज्ञानंब्रह्म', 'अहम्ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' और 'अयमात्माब्रह्म' ऋक् यजुर् साम और अथर्वेदों के क्रमशः चार महावाक्य जीव-ब्रह्मैक्य का लक्ष्य कराते हैं। गुरु शिष्य को पहिले प्रज्ञानात्मा का स्वरूप दिखाता है और फिर उपदेश करता है कि यह आत्मा ब्रह्म है और वह तू है। फिर शिष्य 'मैं ब्रह्म हूं' का अपरोक्ष अनुभव करके उस पद में अपनी स्थिति रखता है। जिसको निदिध्यासन कहते हैं। उपदेश के श्रवण के पश्चात् युक्तियों द्वारा समझने को मनन कहते हैं, और तत्पश्चात् नित्य आत्मस्थिति में रहने को निदिध्यासन कहते हैं।

इंद्रियों द्वारा विषयों के जानने को आज्ञान कहते हैं, भिन्न-भिन्न पदार्थों के ज्ञान को नामरूपात्मक भेद से पहचानने को संज्ञान कहते हैं और ध्यान पूर्वक समझ कर प्राप्त किये जाने वाले विशेष-ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। परन्तु ये सब ज्ञान जिस एक निरपेक्ष

ज्ञान के सापेक्षिक भेद है उसको प्रज्ञान कहते हैं। वह सबका आधार स्वरूप प्रज्ञानात्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्मात्मैक्य की उपलब्धि श्रवण मनन निदिध्यासन के द्वारा कालान्तर में होती है। परन्तु शंकर भगवत्पाद इस श्लोक में कहते हैं कि जाने विना जाने भगवती की स्तुति करते समय जो कोई इस श्लोक की प्रथम पंक्ति के 'भवानि त्वं' इतने मात्र पद का उच्चारण कर पाता है, तो भगवती उसे सायुज्य मोक्ष दे देती है। क्योंकि 'भवानि त्वं' पद का यह भी अर्थ होता है कि मैं तू बन जाऊं। क्योंकि भगवती यह मान कर कि यह मेरा भक्त मुझ में लीन होकर मेरे सायुज्य पद की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करता है, ऐसा समझा जाने से 'दासे मयि इत्यादि' उच्चारण होने के पूर्व ही वह सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

समाधि में समनीस्तर पर पहुंच कर योगी जो इच्छा करता है उसकी वह कामना पूर्ण हो जाती है, इसलिये अहंब्रह्मास्मि का ध्यान करने वाला ज्ञानी भी उस स्तर पर ब्रह्मात्मैक्य की अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर सकता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

सायुज्य मोक्ष अन्य सालोक, सामीप्य और सारूप्य मोक्षों से ऊंची है अर्थात् सगुण ब्रह्म के लोकों से ब्रह्मभाव ऊंचा है और इंद्रलोक, ब्रह्मलोक, एवं विष्णुलोक उस पद के नीचे ही रह जाते हैं। जैसा कि भगवान कहते हैं

तमेवचाद्यं पुरुष प्रपद्ये यतः प्रवृत्ति प्रसृता पुराणी।
और (गीता १५, ४)

ततोमांतत्त्वोज्ञात्वा विशते तदनंतरम्॥
(१८, ५५)

अर्थात् मानो ब्रह्मा विष्णु और स्वर्ग पति इन्द्र के मुकुटों की ज्योतियां उस परम पद के नीचे आरती उतारने के सदृश निम्न-स्तरों पर ही चमका करती हैं।

अर्धनारीश्वर सदाख्य तत्त्व का ध्यान।

अगले श्लोक में सदाशिव का ध्यान दिया गया है।

(२३)

त्वया हृत्वा वामं वपुरपरितृप्तेन मनसा
शरीरार्द्धं शंभोरपरमपि शङ्के हृतमभूत्।
यदेतत्त्वद्रूपं सकलमरुणाभ त्रिनयनं
कुचाभ्यामानम्रं कुटिलशशिचूडालमकुटम्॥

अर्थः—हे भगवति! शंभु का बांयां शरीर हरण करके भी तेरा मन तृप्त नहीं हुआ, मुझे शंका होती है कि दूसरे आधे शरीर का भी अपहरण कर लिया गया है। क्योंकि वह सारा शरीर अरुणवर्ण की आभा से तेरा ही दिख पडता है, उसमें तीन नेत्र हैं, वह कुचों के भार से कुछ झुका हुआ है और द्वितीया का चन्द्र केशों के ऊपर मुकुट पर शोभा दे रहा है।

सं० टि०:—यहां अर्धनारीश्वर का ध्यान दिखाया गया है, जिसमें शक्ति तत्त्व की इतनी प्रधानता है कि शिवतत्त्व को जानना कठिन होगया है। वास्तव में शक्ति तत्त्व शिव तत्त्व से भिन्न नहीं हैं।

अर्धनारीश्वर रूपमें आधा शरीर शंकर का है और आधा भगवती का, यह बात हम सदाख्यतत्व को समझाते समय बता आये हैं। शंकर का शरीर स्फटिक सदृश स्वच्छ है, जो भगवती का शरीर अरुण होने के कारण, उसकी अरुण आभा से अरुण दिखने लगा है। और भगवती के स्तन के भार से वाम भाग के किंचित् झुक जाने से शंकर का दक्षिण भाग भी झुक गया है; तीन नेत्र और चन्द्र युक्त दोनों के रूप होने से यह पहचानना कठिन है, कि दक्षिण भाग शंकर का है अथवा सारा शरीर भगवती का ही है। सदाख्य तत्व प्रभवोन्मुख होने के कारण पूर्ण शक्ति युक्त होता है, इसलिये अहम् विमर्ष के अध्यात्म भाव को शक्ति ने मानों दबा रखा है।

<u>ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव</u>।

[२४]

जगत्सूते धाता हरिरवति रुद्रःक्षपयते
तिरस्कुर्वन्नेतत्स्वमपि वपुरीशः(स्थगयति) (स्तिरयति)
सदा पूर्वः सर्वं तदिदमनुगृह्णाति च शिव-
स्तवाज्ञामालम्ब्य क्षणचलितयोर्भ्रूलतिकयोः ॥

अर्थः—ब्रम्हा जगत् की रचना करते हैं, हरि पालन और रुद्र संहार करते हैं। ईश्वर सबका तिरस्कार करके अपने स्थिर रखते हैं। और शिव जिसके नाम के पूर्व सदा लगा हुआ है

अर्थात् सदाशिव इस सबको लील जाते है अथवा तेरे क्षणचपल भ्रूलताओं की आज्ञा का आलंब लेकर सब पर अनुग्रह करते रहते हैं।

सं० टि०:—अनुग्रह्णाति का अर्थ 'अपने में लीन कर लेता है' भी किया जा सकता है। तब श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा। तेरी आज्ञा को पाकर भ्रूलताओं के इशारे मात्र से ब्रह्मा सृष्टि करता है, हरि पालन करता है, रुद्र संहार करता है, ईश्वर तीनों का तिरस्कार पूर्वक तटस्थ रहता है और सदाशिव सबको अपने में (प्रलय के समय) लीन कर लेता है।

ब्रह्मा जिस सृष्टि की रचना करते हैं और विष्णु पालन करते हैं, उसका प्रलय के समय रुद्र संहार कर देते हैं। अर्थात् ब्रह्मा और विष्णु के साथ रुद्र भी लयाभिमुख होकर महेश्वर तत्व में लीन हो जाते हैं, और महेश्वर भी मानो तिरस्कार पूर्वक अपने नेत्र बंद कर लेते हैं अर्थात वे भी बीज रूप सदाशिव में लीन हो जाते हैं। परंतु विश्व का प्रलय हो जाने पर भी प्रभव की बीज शक्ति सदाशिव में बनी रहती है, जिसके कारण प्रलय काल के समाप्त होने पर सदाशिव फिर नई सृष्टि का प्रभव करते हैं, मानों वे भगवती की आज्ञा के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और महेश्वर सब पर अनुग्रह करके फिर पूर्व कल्प के अनुसार सबको नया जीवन प्रदान करते हैं। अर्थात् भगवती सबकी अधिष्ठात्री है क्योंकि प्रभव और प्रलय दोनों शक्ति के ही कार्य हैं। और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और महेश्वर तो भगवती के कर्मचारी मात्र हैं, इसलिये अगले श्लोक में कहा गया है कि

इनकी पृथक पूजा करने की आवश्यकता नहीं है, भगवती के पूजन से सबकी पूजा हो जाती है। ब्रह्मा रजोगुण, विष्णु सत्वगुण और रुद्र तमोगुण के अधिदेव हैं और तीनों गुण प्रकृति के अंग हैं, अर्थात् माया की अपेक्षा से तीनों देवताओं का अस्तित्व है, निर्गुण ब्रह्म मायातीत है। ईश्वर तत्व भी माया शक्ति के आधीन है। परन्तु सदाशिव, जो यद्यपि माया का स्वामी है, परन्तु शक्ति का प्रभुत्व इतना है कि विवश होकर सृष्टि करने को बाध्य होता है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
(गीता० ९–८)

इसलिये

[२५]

त्रयाणां देवानां त्रिगुण जनितानां तव शिवे
भवेत्पूजा पूजा तव चरणयोर्या विरचिता,।
तथा हि त्वत्पादोद्वहनमणिपीठस्य निकटे
स्थिताह्येते शश्वन्मुकुलित करोत्तंस मकुटाः॥

अर्थः— हे शिवे! तेरे चरणों की जो पूजा की जाती है, उससे तेरे तीनों गुणों से उत्पन्न इन तीनों देवों का भी पूजन हो जाता है। इसलिये यह उचित ही है कि ये तीनों देव तेरे चरणों को धारण करने वाले मणियों के बने आसन

के निकट अपने मुकुटों की शोभा बढाने के लिये हाथ जोडे खडे रहते हैं।

सं० टि० भगवती के पूजन से सब देवों का पूजन हो जाता है।

[२६]

विरिञ्चिः पञ्चत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं
विनाशं कीनाशो भजति धनदोयाति निधनम् ।
वितन्द्री माहेन्द्री विततिरपि संमीलति दृशा
महासंहारेऽस्मिन्विहरति सतित्वत्पतिरसौ ॥

कठिन शब्दः— कीनाश=यमराज, दृषां=दृष्टि, पंचत्व=मरण (जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरिया से ५ वी अवस्था।

अर्थः— हे सति ! इस महा प्रलय के समय ब्रह्मा पांचवी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् मर जाता है। हरि विरति को प्राप्त होते हैं। कीनाश (यमराज) का नाश हो जाता है। धनद (कुवेर) का निधन (मरण) हो जाता है, जिसको कभी तन्द्रा नहीं आती वह हजार नेत्र वाला महेन्द्र भी अपनी फैली हुई दृष्टि वाला नेत्र बन्द कर लेता है। परन्तु सदाशिव तेरा पति तो तब भी विहार ही करता रहता है।

सं० टि० महा प्रलय में सब देवों का लय हो जाता है, केवल परंब्रह्म रहता है, और शक्ति भी उसमें अव्यक्त दशा में बनी रहती है।

सतियों के सतीत्व की इतनी महानता है कि उनका सौभाग्य सदा अखंड रहता है। इसलिये हे सति! तेरा पति महा प्रलय में भी रहता है, जब कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश, इन्द्र, कुबेर और मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है। यह भगवति के सतीत्व का ही प्रभाव है कि सदाशिव तब भी बने रहते हैं। क्योंकि सदाख्य तत्व में विश्व का बीज रहता है और बीज कभी नष्ट नहीं होता। यदि विश्व का बीज नष्ट हो जाय तो प्रलय के पश्चात् फिर सृष्टि कैसे हो सकती है? वेद कहते हैं।

यथा धाता पूर्वमकल्पयत्।

प्रकृति सब को गर्भ में लेकर, महासुप्ति का रूप धारण कर के ब्रह्म में लीन हो जाती है। प्रत्येक बीज में दो दल होते हैं, उनको भी यदि घुण खा जाय, परन्तु दोनों के संयोग का अंकुर स्थान नष्ट न हो तो देखा जाता है कि वह बीज अंकुरित हो उठता है।

भूत ग्रामः स एवायं भूत्वा २ प्रलीयते।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ (गीता ८, १९)

तीन प्रकार का पूजन

अधिकारी भेद से पूजन भी तीन प्रकार का होता है। अधम अधिकारी के लिये मूर्ति, यंत्र इत्यादि द्वारा बाह्य भावना युक्त पूजन किया जाता है, मध्यम अधिकारी के लिये अन्तर्भावना युक्त ध्यानादि अन्तर्यागों का साधन है और उत्तम अधिकार का पूजन उसकी अद्वैत ब्रह्म भावना ही है। इनको क्रमशः अपरा पूजा, पराऽपरा

पूजा और परा पूजा कहते हैं। द्वैत भाव का सर्वथा अभाव हो जाने पर ही परा पूजा संभव है द्वैतभाव बना रहते परा पूजा नहीं बन सकती, वह साधक अपरा अर्थात् बाह्य पूजा का ही अधिकारी है परन्तु अद्वैत भाव के उदय होने के पूर्व और द्वैत भाव के लय होने को अभ्यास दशा में परा और अपरा दोनों का अभ्यास युग पद् रहता है। योगी ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होने के पश्चात् परा पूजा का अधिकारी बनता है, क्योंकि ऋतंभरा प्रज्ञा से अविद्या जनित नाम रूपों के भेदोत्पादक संस्कार ऋत् के संस्कारों से इस प्रकार नष्ट होने लगते हैं, जैसे सूर्य के उदय से पूर्व उषः कालीन प्रकाश से धीरे २ अन्धकार में उत्पन्न होने वाली भ्रांति में दिखने वाले रूपों और नामों के संस्कार मिटने लगते हैं और सूर्य उदय होने पर रात्रि के अन्धकार से उत्पन्न भ्रांति का सर्वथा नाश हो जाता है। पूर्वगत श्लोकों में भगवती की अपरा और परापरा पूजा का वर्णन था, अगले श्लोक में परा पूजा का रूप दिखाया जाता है। ऋतंभरा प्रज्ञा का अर्थ है ऋत् अर्थात् निरपेक्ष सत्य से भरी हुई बुद्धि।

(२७)

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनं
गतिः प्रादक्षिण्यंभ्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥

कठिन शब्द:—सपर्या=पूजा, जल्प=बकवास।

अर्थ:—बोलना मन्त्रों के जप सदृश, कर्म काण्ड सब मुद्राओं की विरचना के सदृश, चलना फिरना प्रदक्षिणा के सदृश, खाना पीना आहुति के समान, सोना प्रणाम सदृश, सब सुखों के उपभोग में आत्मसमर्पण की दृष्टि, अर्थात जो भी मेरा विलास है सब तेरी पूजा पद्धति का क्रम हो।

सं० टि०:—यहां ज्ञान योग का लक्षण दिखाया गया है।

स्फोटात्मक शब्दों के सार्थक एवं निरर्थक क्रम को जल्प कहते हैं, यहां तक कि वर्णमाला के अक्षरों के उच्चारण को एकाक्षरी मंत्र कहा जाता है, इसी प्रकार उनके योग से जो पद बनते हैं सब मंत्रों के तुल्य हैं, और इस न्याय से सब जल्प जप के समान है। पूजन में हाथों के अभिनयों से अनेक प्रकार की मुद्राएं दिखाई जाती हैं अर्थात् मुद्राएं एक प्रकार से हाथों की क्रियाएं मात्र हैं इसलिये विविध कर्मों के करने के लिये जो भी क्रियायें हाथ करते हैं, वे सब मुद्राओं के समान हैं। भगवती की व्यापकता सर्वत्र है, इसलिये चलते फिरते समय सर्वत्र उस विभु की प्रदक्षिणा होती रहती है। जठराग्नि भी शक्ति का ही रूप है, वह अन्तराग्नि अन्न पचा कर आत्मा को बलि पहुंचाती है। हवन की अग्नि का कार्य भी हव्य को देवता तक पहुंचाना है, इसी अभिप्राय से उसकी एक कला का नाम हव्यवाहिनी है। खाना पीना इस दृष्टि से सब आहुति देना है।

कहा है:—

या देवी सर्व भूतेषु क्षुधा रुपण संस्थिता,
नमस्तस्यै ३ नमोनमः

अहंवैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नंचतुर्विधम् ॥
(गीता० १५,-१४)

साष्टांग प्रणाम में दोनों हाथ, दोनों पैर, छाती, ग्रीवा और मस्तक आठों अंगों से भूमि को स्पर्श करके पडा जाता है, भगवती सर्वत्र भीतर बाहर सब जगह है, इसलिये सोते लेटते शरीर का भूशायी होना साष्टांग प्रणाम के समान है। जितने सुख हैं वे सब आत्मा-नंद की लहरें हैं, उनमें चित्त लगाना उसे आनंद ब्रह्म को ही समर्पण करना मात्र है। श्रीचक्र पर पूजन करना तो एकदेशीय पूजन है, हमारी अनेक प्रकार की विविध चेष्टायें और कृत्य निरंतर विश्वतोमुखी भगवती का ही तो पूजन किया करती हैं, क्योंकि वास्तविक पूजन तो भाव से संबंध रखता है और ब्राह्मी स्थिति में रहने वाले का लक्ष्य सर्वदा ईश्वर पद में लगा ही रहता है और उसके शरीर की क्रियायें भी तद्रूप पूजनवत ही होती रहती हैं।

(२८)

सुधामप्यास्वाद्य प्रतिभयजरामृत्युहरणा
विपद्यन्ते विश्वे विधिशतमखाद्या दिविषदः ।
करालं यत्क्ष्वेलं (डं) कबलितबतः कालकलना
न शंभोस्तन्मूलं जननि तव ताटङ्कमहिमा ॥

कठिन शब्दः—दिविषद=देवता; क्ष्वेल, क्ष्वेड=विष; कवल=ग्रास, ताटंक=कर्ण फूल ।

अर्थः—ब्रह्मा और शतमख अर्थात् इन्द्रादि देवगण जरामृत्यु का हरण करने वाली सुधा को भी पीकर, इस विश्व में काल के शिकार होते हैं और कराल हलाहल विष का ग्रास करने वाले शंभु पर काल की कलना नहीं चलती, इसका कारण हे जननि ! तेरे कर्णफूलों की महिमा है ।

सं० टि०—ताटंकों के कहने से भगवती के कानों में पहिने जाने वाले आभूषणों से इंगित भगवती के अखण्ड सौभाग्य का अभिप्राय है । विधवा स्त्रियां उनको उतार देती हैं । शंकर पर हला-हल विष का असर नहीं हुआ, इसका कारण भगवती का अनादि अनन्त अखंड सुहाग है । यह है भगवती के सतित्व का महात्म्य। वह नित्य है, उसका सुहाग भी नित्य है, इसलिये शंकर हलाहल को पीकर भी अमर हैं । देवता अमृत पीकर भी मर जाते हैं । ताटंक अर्थात् कर्णफूल सुहाग के चिन्ह माने जाते हैं ।

[२९]

किरीटं वैरिञ्च्यं परिहर पुरः कैटभभिदः
कठोरे कोटीरे स्खलसि जहि जम्भारिमकुटम् ।
प्रणम्रेष्वेतेषु प्रसभमुपयातस्य भवनं
भवस्याभ्युत्थाने तव परिजनोक्तिर्विजयते ॥

कठिन शब्दः— जहि= (ओहाक् त्यागे) त्यागें, बचें।

अर्थः— शंकर को अकस्मात् अपने भवन में आते देख खड़ी होकर स्वागतार्थ आगे बढने पर तेरी परिचारिकाओं की इन उक्तियों की जय है कि 'सामने ब्रह्मा के मुकुट से बचें,' 'कैटभ के मारने वाले विष्णु के कठोर मुकुट से ठोकर लगेगी,' 'जम्भारि इन्द्र के मुकुट से बचकर चलें।'

सं० टि० भाव यह है कि सब देव भगवती को सदा साष्टांग प्रणाम किया करते हैं।

व्याख्या—अभिप्राय यह है कि एक दिन जब भगवती को इन्द्र ब्रह्मा और विष्णु प्रणाम कर रहे थे, तब अकस्मात् शंकर आगये, पति का स्वागत करने जब भगवती उठीं, तो उनकी परिचारकायें कहने लगीं कि ब्रह्मा इन्द्र और विष्णु के मुकुटों से ठोकर न लगे, इसलिये उन से बचकर चलिये।

कैटभ भिद्

विष्णु भगवान को मधुसूदन और कैटभारि भी कहते हैं क्योंकि मधु और कैटभ दो राक्षस उनके कान के मैल से उत्पन्न हो गये थे। वे जब ब्रह्माजी को खाने लपके ब्रह्माजी ने भगवान को शेष शय्या पर सोते देखकर भगवती की प्रार्थना की। प्रार्थना से प्रसन्न होकर नारायण के नेत्रों में निवास करने वाली महामाया ने भगवानको जगा दिया, तब भगवान ने दोनों राक्षसों का बध किया, और नाभि से उत्पन्न हुए कमल पर बैठे ब्रह्माजी को भय से मुक्त किया। उपरोक्त आख्यायिका में नारायण आध्यात्म भाव है

और शेष भगवान विराट की कुण्डलिनी वत् आधार शक्ति। नारायण को सुलाने वाली निद्रा देवी महासुप्ति स्वरूपा बीजशक्ति है। पद्म जो नाभि से निकलता है वह स्पन्दस्वरूपा रजोगुण की विमर्ष शक्ति है, और ब्रह्मदेव स्वयं शब्दब्रह्म स्वरूप प्रणव है। ब्रह्मदेव को विराट के प्राण और बुद्धि समझना चाहिये। प्रणव का प्रथम स्वरूप ध्वन्यात्मक होता है फिर शब्दों का रूप धारण कर के वेदों के रूप में व्यक्त होने लगता है। वेदों के शब्दों से फिर उनके वाच्य अर्थ स्वरूप रूपात्मिका सृष्टि का प्रसार होने लगता है। शब्द से विराट ब्रह्माण्ड का श्रोत्र, श्रोत्र से आकाश, और आकाश से स्थूल शब्दों का संबंध है। विराट् भगवान के कानों से आकाश की उत्पत्ति कही गई है, कानों का मैल शब्दब्रह्म रूपी ब्रह्मदेव को खाने के लिये उद्यत नाद का आवरण है, जो निद्रा के कारण जम गया है, और जिससे मधु और कैटभ दो राक्षसों की उत्पत्ति बताई जाती है। आलस्य प्रमादादि की मादकता को मधु कह सकते हैं, और ज्ञान के ऊपर आवरण डालने वाले भ्रांति विक्षेपादि को कैटभ कह सकते हैं। कैटभ का अर्थ कीटवत् आभा वाला किया जा सकता है। कान के मैल को भी कीट कह सकते हैं, कीट का अर्थ कीडा भी होता है। अर्थात् कैटभ वह प्रकाश है जो मलावृत्त होने के कारण भ्रांति उत्पन्न करता है, अथवा उसका प्रकाश कीटाणु सदृश है। ये दोनों ज्ञान के महानशत्रु हैं। भगवान जागकर अर्थात् अध्यात्म जागृति होने पर दोनों का नाश होता है। दुर्गा सप्तशति में इस समय ब्रह्मदेव से की गई भगवती की प्रार्थना पढने योग्य है, जो विषयान्तर भय से यहां नहीं दी जाती।

शक्ति के जागते ही शंकर से मिलने की आतुरता में सहस्रार पर चढते समय नीचे के चक्रों पर प्रणाम करते हुए ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र के मुकुटों से उसको ठोकर लगने की आशंका सूचक परिचारिकाओं की उपरोक्त उक्तियां स्वाभाविक ही हैं। मूलाधार में ब्रह्मा का स्थान है और तत् सम्बन्धी पृथ्वी तत्व का स्वामी इन्द्र है, स्वाधिष्ठान में विष्णु का स्थान है। ये दोनों चक्र अन्धकारमय माने जाते हैं देखें श्लोक ३२, ३३ की व्याख्या में 'षोडशी विज्ञान' का विषय पृष्ठ १८३। अन्धेरे में ठोकर लगने की सम्भावना रहती है। अर्थात् साधक की शक्ति उन्नेय पथ पर इस मण्डल में रुक कर ठिठकनी नहीं चाहिये। श्लोक ९ में बताये गये चक्रों के बेधक्रम और ४१ वें श्लोकोक्त समयाचार की व्याख्या भी इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य है। कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर शिवभाव का प्रादुर्भाव होना साधकों के अनुभव की बात है। परिचारिकाओं का विभिन्न चक्रों की योगिनीओं से अभिप्राय हो सकता है।

ब्रह्म भाव

(३०)

स्वदेहोद्भूताभिर्घृणिभिरणिमाऽऽद्याभिरभितो
निषेव्ये नित्ये त्वामहमिति सदा भावयति यः।
किमाश्चर्यं तस्य त्रिनयनसमृद्धिं तृणयतो
महासंवर्ताग्निर्विरचयति नीराजनविधिम्॥

कठिन शब्दः—घृणि=किरण, संवर्ताग्नि=प्रलयाग्नि, नीराजन=आरती

अर्थः— हे सेवा करने के योग्य वरेण्ये, नित्ये! अपने देह से निकलने वाली अणिमादि सिद्धियों रूपी किरणों से घिरा हुआ तेरा भक्त जो 'त्वां अहम्' अर्थात् तुझको अपना ही रूप मानकर सदा भावना करता है, त्रिनयन की समृद्धि को भी तृणवत् तुच्छ समझने वाले उस साधक की संवर्ताग्नि आरती उतारता है, इसमें क्या आश्चर्य है?

सं० टि० ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, वह प्रलय में भी क्षोभ नहीं पाता, मानो संवर्ताग्नि का जलना उसकी आरती उतारने के सदृश है।

जिस योगी ने सारूप्य मुक्ति प्राप्त करली है, और भगवती में स्वभाव से रहने वाली अणिमादि सिद्धियों युक्त ब्रह्म तेज की किरणें जिसके शरीरसे फूट २ कर निकलने लगी हैं, उस योगी को अहम् ब्रह्मास्मि भाव के उदय होने की चरम दशा में तीसरा दिव्य ज्ञाननेत्र खुल जाने से जो समृद्धि प्राप्त होती है, उसको भी वह सायुज्य मुक्ति के सामने तुच्छ समझने लगता है। देखें योग दर्शन सूत्र (३,५०) 'तद्वैराग्यादपि दोष बीज क्षये कैवल्यम्'। अर्थात् सर्वज्ञता और सर्व शक्तिमत्ता से भी वैराग्य होने से सब दोषों के बीज रूपी वासना के क्षय होने पर कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।

'नित्ये' पद से संबोधन करने का अभिप्राय यह है कि योगी सर्वाशा परिपूरक षोडशार चक्रस्थ कामाकर्षिणी आदि १६ नित्या कलाओं को जीत कर नित्य मोक्ष पद की प्राप्ति की इच्छा रखता

है क्यों कि भगवती की आराधना का फल महावाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्षानुभूति का उदय होनाही है।

सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते। (गीता)

६४ तंत्रों से भगवती का तंत्र स्वतंत्र है

[३१]

चतुः षष्ट्यातन्त्रैः सकलमति(भि)संधाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना—
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥

अर्थः— पशुपति शंकर ने ६४ तंत्रों से सारे भुवन को भरकर, जो अपनी २ उन सिद्धियों के देने वाले हैं जो प्रत्येक का अपना विषय हैं, फिर तत्पश्चात् तेरे आग्रह से सब पुरुषार्थों की सिद्धि देने वाले स्वतंत्र तेरे तंत्र को भूतल पर उतारा।

सं० टि० भगवती का तंत्र अर्थात् श्री विद्या का तंत्र स्वतंत्र है और सब तंत्र गौण हैं। भगवती के तंत्र से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सहस्रार में ले जाया जाता है, परन्तु अन्य सब तंत्र धर्म, अर्थ, और काम की ही सिद्धि दे सकते हैं। भगवती का तंत्र चारों पदार्थ देता है।

सनातन धर्म में उपासना की पद्धति वैदिक, तांत्रिक और पौराणिक तीन प्रकार की है। तथापि द्विजों के लिये मिश्रित पद्धति काम में लाई जाती है,

तंत्र

जो द्विज नहीं हैं उनको वेदों का अधिकार नहीं दिया गया है, वे तांत्रिक और पौराणिक उपासनाओं में ही दीक्षित किये जाते हैं। तांत्रिक उपासना के दो भेद हो गए हैं-- समयाचार और कौलाचार, जिनको दक्षिण और वाम मार्ग भी कहते हैं। ब्राह्मणों के लिये कौलाचार निषिद्ध है, क्योंकि उसमें पंचमकार अर्थात् मांस, मदिरा, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। वामाचार के कारण ही साधारण जनता की दृष्टि में सारी तांत्रिक उपासना बदनाम हो रही है। यद्यपि पंचमकारों का आध्यात्मिक अर्थ भी किया जाता है, जैसे मदिरा से सोमपान, मैथुन से शिवशक्ति का सहस्रार में योग, इत्यादि; और कुलार्णव तंत्र में स्पष्टतया उनका निषेध कराने के लिये साधकों को चेतावनी दी गयी है कि इनका प्रयोग करने वाला मनुष्य नर्कगामी होता है। परन्तु तो भी यह निर्विवाद मानना पडता है कि सब साधक आध्यात्मिक दृष्टि वाले नहीं होते। प्रायः अधिक मनुष्यों का लक्ष्य सांसारिक भोगों की उपलब्धि तक ही सीमित रहता है। उक्त ६४ तंत्रों में ऐसी ही सिद्धियां प्राप्त करने के साधन हैं, जो सच्चे जिज्ञासु को पथभ्रष्ट कर सकते हैं। श्री अर्विन्दुजी इस विषय पर **कल्याण** के 'शक्ति अंक' में पृष्ट ३२ पर प्रकाशित एक लेख में लिखते हैं कि "विशेषकर तत्र के वाम मार्ग में ऐसी २ बातें आ गई हैं, जिनसे न केवल अच्छे बुरे का, पापपुण्य का कोई विचार न रहा प्रत्युत पाप पुण्यादि द्वद्वों के स्थान में स्वभाव नियत सद्धर्म की स्थापना होने के बजाय

अनियंत्रित कामाचार, असंयत सामाजिक व्यभिचार दुराचार का मानो एक पंथ ही बन गया--तथापि मूलतः तंत्र एक बडी चीज थी, **बडी बलवती योग पद्धति थी** ।........इसके दक्षिण और वाम दोनों ही मार्ग एक बडी गंभीर अनुभूति के फल थे......एक है ज्ञान का मार्ग और दूसरा आनन्द का मार्ग।"

एक मत यह भी है कि कौलाचार अथवा वाम मार्ग बहिर्पूजा का साधन है और समयाचार अथवा दक्षिण मार्ग भावना प्रधान धारणा ध्यान समाधि युक्त अन्तर्योग रूपी योग साधन और मनन निदिध्यासन पूर्वक ब्रह्म भावना का साधन है। बहिर्पूजा कर्म प्रधान होती है, और अन्तर्पूजा भावना प्रधान। इसलिये निकृष्ट श्रेणि के अधिकारियों को बहिर्पूजा में दीक्षित किया जाता है और उत्तम अधिकारियों को अन्तर्पूजा में। परन्तु मध्यम श्रेणि के साधकों को दोनों का आश्रय लेना पडता है, वे क्रमशः जैसे २ उनकी अन्तर्गति दृढ होती जाती है शनैः २ कर्म काण्ड से हटते जाते हैं।

इस श्लोक में ६४ तंत्रों का उल्लेख है, परन्तु भगवती ने देखा कि उनसे श्रेय की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उन्होंने शंकर से श्रेय की प्राप्ति का साधन बताने का अनुरोध किया, तब शंकर ने समयाचार का साधन कहा, जो पूर्वोक्त ६४ तंत्रों से पृथक है। वह भगवती के आग्रह पर श्रेय की जिज्ञासा रखने वालों के कल्याणार्थ कहे जाने के कारण, शंकराचार्य भगवत्पाद ने उसको भगवती का अपना स्वतंत्र तंत्र कहकर संकेत किया है, अर्थात् 'तेरा तंत्र' कहा है। शंकर भगवत्पाद उसे लोक हितार्थ सौन्दर्य लहरी में प्रकाशित करते हैं। यह तंत्र सब तंत्रों से स्वतंत्र है।

अन्य ६४ तंत्र अनेक सिद्धियों के विषय हैं, परन्तु यह तंत्र श्रेयस् का देने वाला है, और मोक्ष के साथ धर्म अर्थ काम की भी सिद्धि देने के कारण अन्य सब तंत्रों की अपेक्षा नही रखता। इस तंत्र में श्री विद्या का रहस्य बताया गया है, जो स्वयं महा त्रिपुर सुन्दरी का स्वरूप है। यह बात अगले दो श्लोकों से स्पष्ट हो जाती है।

श्री विद्या को चन्द्रकला विद्या भी कहते हैं, क्योंकि चन्द्रमा की १६ कलाओं के अनुरूप षोडशी में भी १६ अक्षर हैं, और १६ नित्या कला हैं। इसको ब्रह्म विद्या ही जानना चाहिये। इस विषय पर चन्द्रकला, ज्योतिष्मती, कला निधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य, और दुर्वासा मत मुख्य ग्रंथ हैं। इसी प्रकार समयाचार पर वशिष्ट, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और शुकदेवजी विरचित् शुभागम पंचक भी हैं।

६४ तंत्रों के नाम

६४ तंत्रों के नाम ये हैं—(१) महामाया शंबर नाम का मोहन तंत्र, (२) योगिनीजाल शंबर, (३) तत्व शंबर, तत्वों में संकरण करने की विद्या, (४) सिद्ध भैरव, (५) वटुक भैरव, (६) कंकाल-भैरव, (७) काल भैरव, (८) कालाग्नि भैरव, (९) योगिनी भैरव, (१०) महा भैरव, (११) शक्ति भैरव, उक्त ८ भैरव तंत्र कापालिकों के तंत्र हैं। इनमें अनेक सिद्धियों का वर्णन है जैसा भूतल के नीचे धन देखना इत्यादि। (१२) ब्राह्मी, (१३) माहेश्वरी, (१४) कौमारी, (१५) वैष्णवी, (१६) वाराही, (१७) माहेन्द्री, (१८) चामुण्डा, (१९) शिवदूती, इन ८ तंत्रों को बहुरूपाष्टक कहते हैं,

इनमें उक्त शक्तियों की उपासना है। (२०) ब्रह्म यामल, (२१) विष्णु यामल, (२२) रुद्र यामल, (२३) लक्ष्मी यामल, (२४) उमा यामल, (२५) स्कन्द यामल, (२६) गणेश यामल. (२७) जयद्रथ यामल, ये आठ काम सिद्ध यामल तंत्र हैं। (२८) चंद्र-ज्ञान (२९) मालिनी विद्या—समुद्रों को पार करने की विद्या, (३०) महासंमोहन, (३१) वामजुष्ठ, (३२) महादेव, (३३) वातुल, (३४) वातुलोत्तर, (३५) कामिक, (३६) हृद्भेद तंत्र, वामाचार द्वारा षड्चक्रवेध, (३७) तन्त्र भेद, (३८) गुह्य तंत्र, (३९) कला-वाद, (४०) कलासार, (४१) कुंडिका मत, (४२) मतोत्तर, पारद विज्ञान का तंत्र, (४३) वीनाख्य—यक्षिणी का तंत्र, (४४) त्रोतल, जादू तावीज इत्यादि का तंत्र, (४५) त्रोतलोत्तर—६४ हजार यक्षिणियों को आवाहन करने की विद्या। (४६) पंचामृत—आयुदीर्घ करने का विज्ञान, (४७) रूपभेद, (४८) भूतोड्डामर (४९) कुलसार, (५०) कुलोड्डीश, (५१) कुलचूडामणि, इन सब में मारण उच्चाटन प्रयोग हैं। (५२) सर्वज्ञानोत्तर, (५३) महा कालीमत, (५४) अरूणेश, (५५) मोदिनी ईशा, (५६) विकुण्ठेश्वर—ये ५ तंत्र दिगंबरों के हैं। (५७) पूर्व आम्नाय, (५८) पश्चिम आम्नाय, (५९) दक्षिण आम्नाय, (६०) उत्तर आम्नाय, (६१) निरुत्तर आम्नाय, (६२) विमल, (६३) विमलोत्तर, और (६४) देवीमत, ये क्षपणकों के तंत्र हैं। यह नामावली वामकेश्वर तंत्र में है। भास्करराय के मतानुसार ४ से ११ तक भैरवाष्टक को एक ही तंत्र माना गया है, और (३१, ३२) वामजुष्ठ और महादेव दोनों को एक तंत्र माना गया है इसलिये नीचे दिये हुए आठ और तंत्रों सहित ६४ की संख्या पूरी की जाती है। उनके नाम ये हैं (१) महालक्ष्मी मत, (२)

सिद्ध योगीश्वरी मत (३) कुरुपिका मत, (४) देवरूपिका मत, (५) सर्ववीर मत, (६) विमला मत, (७) ज्ञानार्णव और (८) वीरावलि।

हादि और कादि विद्याओं के रूप

[३२]

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिता
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम् ॥

[३३]

स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमादौ तव मनो-
र्निधायैके नित्ये निरवधिमहाभोगरसिकाः।
(जपंति) भजंति त्वां चिन्तामणिगुणनिबद्धाक्षव (र) लयाः
शिवाऽग्नौ जुह्वन्तः सुरभिघृतधाराऽऽहुतिशतैः ॥

अर्थ—हे जननि! शिव, शक्ति, काम, क्षिति और फिर रवि, शीतकिरण (चन्द्र), स्मर (काम), हंस, शक्र, इसके पीछे परा (शक्ति), मार (काम), हरि, इन तीनों के अन्त में ३ हृल्लेखा जोडकर तेरे नाम के अवयव स्वरुप अक्षरों का साधक जन भजन करते हैं। (३२)

यह हादि लोपा मुद्रा का मंत्र बताया गया है । इसके १५ अक्षर हैं ।

अर्थः—हे नित्ये ! स्मर, (काम), योनि (त्रिकोण), लक्ष्मी इन तीनों को तेरे मंत्र के आदि (अक्षरों के स्थान) पर रखकर निरवधि महा भोग के रसिक तेरे कुछ भक्त, चिन्तामणियों की गुंथी हुई अक्ष माला पर तेरा भजन करते हैं, और शिवा (त्रिकोण) अग्नि हवन कुण्ड में सुरभि (गाय) के घी की सैकड़ों धाराओं की आहुतियां देते हैं । (३३)

यह कादि मूल विद्या का मंत्र है ।

स० टि० दोनों श्लोकों में हादि कादि विद्याओं के मंत्र बताये गये हैं । देखे त्रिपुरोपनिषद् (परिशिष्ट) ऋचा ८ । शिवाग्नि=कुण्डलिनी का मुख, घी=अमृत, चिन्तामणि=चित्कला, गुण=सत्व, रज, तम, निरवधि: महाभोगरसिकाः=भोग और मोक्ष दोनो की इच्छा रखने वाले ।

व्याख्याः— षोडशी का १६ वां अक्षर गुरु मुख से जानना चाहिये । मंत्र के चार पाद होते हैं, प्रथम तीन पाद तीन कूट वाग्भवव, कामकला, और शक्ति कूट के नामों से प्रसिद्ध हैं, चौथा पाद श्रीकूट है । प्रथम तीन पादों को अग्नि, सूर्य और चन्द्र; विष्णु ब्रह्मा और रुद्र की क्रमशः क्रिया, इच्छा और ज्ञान शक्तियां; जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के अनुरूप विश्व, तैजस् और प्राज्ञ; सत्व, रजस् और तमस् समझना चाहिये । चौथा पाद तुरीय पद है । वाह्य

उपासना में ऋषि, छंद, देवता विनियोग इत्यादि की आवश्यकता रहती है, परन्तु अन्तर्याग में केवल आत्म तत्व पर ही लक्ष्य रहता है। देखें भासकर राय का वरिवस्यारहस्य।

त्रिपुरोपनिषद् में दोनों विद्याओं का संकेत निम्न श्रुतियों द्वारा किया गया है। वहां दोनों का क्रम सौन्दर्य लहरी के क्रम से विपरीत है, वहां पहिले कादि मूल विद्या बताकर उससे लोपा मुद्रा का निर्माण किया गया है, यहां लोपा मुद्रा पहिले कहकर उससे मूल विद्या का निर्माण किया गया है।

कादि मूल विद्या को बताने वाली श्रुति यह है: —

कामोयोनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमाताऽऽदि विद्या ॥(८)

और लोपा मुद्रा (हादि विद्या) का इससे निर्माण करने के लिये नीचे वाली श्रुति है।

षष्ठ सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।(९)
अर्थ देखें परिशिष्ठ (२)

दोनों श्लोकों में पञ्चदशी के दोनों रूप हैं। दूसरे श्लोक में 'एके' पद के प्रयोग से, जिससे अन्य मतावलंबी साधक जन अभिप्रेत हैं, यह प्रतीत होता है कि श्री शंकर भगवत्पाद स्वयं प्रथम श्लोक में बताये हुए मंत्र के उपासक थे। और यह ही बात

इससे भी सिद्ध होती है कि वे लोग जो दूसरे श्लोकोक्त मंत्र की उपासना करते हैं, जप के पश्चात् दशांश आहुति भी देते हैं. और वे कभी समाप्त न होने वाली भोगों की इच्छा से सकाम अनुष्ठान किया करते हैं, जैसा कि 'निरवधि महाभोग रसिकाः' पद से स्पष्ट है। शंकर भगवत्पाद एक सन्यासी थे, उनने दारेष्णा, वित्तेष्णा और लोकेष्णा तीनों का त्याग किया हुआ था, अग्नि का स्पर्श भी नहीं करते थे, और कर्म काण्ड का सर्वथा त्याग किया हुआ था; इस लिये वे प्रथम श्लोकोक्त भावना प्रधान विद्या के ही उपासक थे। अर्थात् प्रथम श्लोक में सन्यासियों के लिये लोपा मुद्रा हादि विद्या का मंत्र बताया गया है। और दूसरे में सब प्रयोगों की सिद्धि देने वाले कादि विद्या के मंत्र का वर्णन है। यह ही बात त्रिपुरोपनिषद से भी स्पष्ट है। देखें परिशिष्ट (२) श्रुतियां ८, ९, १०, ११, और १२। श्लोक ८ की व्याख्या में हम यह भी दिखा चुके हैं कि आनन्द लहरी पद का भी संकेत हादि विद्या की ही ओर है।

भगवती की उपासना भोग और मोक्ष दोनों देती है। भोगों में आसक्त गृहस्थियों के लिये कादि विद्या की सपर्या पद्धति, जो श्री चक्र के पूजन न्यास और बहिरनुष्ठानों से संयुक्त है, आणवी दीक्षा द्वारा दी जाती है। कर्म काण्ड का उपयोग कामनाओं की तृप्ति मात्र नहीं है, वरन सब भोगों को भगवती के चरणों में समर्पण कर के अन्तःकरण की शुद्धि के लिये है। सकाम अनुष्ठानों से कामनाओं की पूर्ति अवश्य होती है, परन्तु यह मंत्रशास्त्र का गौण फल है। कहा है—'मननात् त्रायते इति मंत्रम्....'

मननात् प्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् ।
मंत्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठानतोपिवा ॥ यो०शि०(२,७)

शिवजी ब्रह्माजी से कहते हैं कि मनन किये जाने के कारण, प्राणों का उत्थान करने के कारण, मेरे रूप का ज्ञान उत्पन्न करने के कारण अथवा मेरा अधिष्ठान होने के कारण मन्त्र मंत्र कहलाता है ।

मंत्र के जप से कुण्डलिनि शक्ति का जागरण होता है, शक्ति के जागरण से आत्मज्ञान का उदय होता है, इसलिये मंत्र को देवता का अधिष्ठान कहा गया है । शक्ति दीक्षा से शक्ति का जागरण होने पर मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग चारों का विकास होता देखा जाता है । इसलिये शक्ति जागरण को ही महायोग कहते हैं ।

मंत्रो लयोहठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ।
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते ॥ यो०शि० (१,१२९)

मंत्र के प्राप्त करने पर उक्त चारों भूमिकाएं उदय होती हैं । आणवी दीक्षा में मंत्र का उपदेश करके शिष्य को श्रीचक्र पर भगवती की सपर्यापद्धति के अनुसार पूजन विधि बताई जाती है । शक्ति दीक्षा में गुरु शिष्य के सिर पर स्पर्श करके शक्ति जागृत करता है । तीसरी शांभवी दीक्षा में ब्रह्मात्मैक्य भाव में शिष्य को ले जाया जाकर उसको महावाक्यों का उपदेश दिया जाता है । इस विषय के सम्बन्ध में श्री विद्या पर लिखित नित्योत्सव ग्रंथ में दीक्षा प्रकरण देखें ।

श्री विद्या का मंत्र १५ अक्षरों का होने के कारण उसे पंचदशी भी कहते हैं, उसमें एक १६ वां बीज लगा देने से वह ही षोडशी विद्या बन जाती है। प्रथम ५ अक्षरों को वाग्भवकूट, बीच के ६ अक्षरों को कामकला कूट और अन्तिम ४ अक्षरों को शक्ति कूट कहते हैं। कादि विद्या मूल विद्या है, उसके आधार पर अगस्त्य मुनि की पत्नि लोपामुद्रा, दुर्वासा, कुबेर, चन्द्र, नन्दि, मनु, अगस्त्य, सूर्य, षडानन, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, यमराज, इन्द्र और कामदेव सबने अपने २ इष्ट के अनुसार मूल विद्या को भिन्न २ विद्याओं का रूप दिया, और वे विद्याएं उस २ देवता या ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हैं। कामदेव ने मूलकादि विद्या की ही उपासना की थी। इन विद्याओं को त्रैलोक्य मोहन कवच से जाना जा सकता है।

पंचदशी और उसके आधार पर अन्य विद्याएं

चिन्तामणि गुणनिबद्धाक्षवलयाः—सकाम प्रयोगों की शीघ्र सिद्धि के लिये, माला का भी जिस पर जप किया जाता है संस्कार करना आवश्यक है। माला की संस्कार विधि अक्षमालोपनिषद् में दी हुई है। तदनुसार मेरु अर्थात् शिखामणि पर अनुस्वार सहित क्षकार और दोनों ओर के पचास २ मणिकों पर अकार से ळकार पर्यंत सानुनासिक एकाक्षरी मंत्रों की प्रतिष्ठा करनी पडती है। इस प्रकार वर्णमाला के ५१ वर्ण रूपी चिन्तामणियों की गुणनिबद्धा अर्थात् सत्व, रजोगुण और तमोगुण रूपी डोरों के प्रतीक विवर में सुवर्ण, दक्षिण ओर चान्दी, और बाम ओर ताम्र के तारों में गूंथी हुई माला लेनी चाहिये।

माला का विधान

माला के लिये प्रवाल, मोती, स्फटिक, शंख, सोना, चांदी, चन्दन, पुत्र जीविक (जीयापोता), कमलगट्टा, और रुद्राक्ष में से किसी प्रकार के मणिके लिये जा सकते हैं। माला को गंध और पंचगव्य से स्नान कराकर अष्टगंध से लेपकर, अक्षत् पुष्पादि से पूजन करके, अ से क्ष पर्यन्त चिन्तामणियों की उक्त उपनिषदुक्त मंत्रों से भावना-युक्त प्रतिष्ठा करनी चाहिये। देखें अक्षमालोपनिषद्।

षोडशी विज्ञान

श्लोक ११ की व्याख्या में श्री चक्र का रहस्य समझाया जा चुका है। मंत्र का यंत्र से संबंध है पहिले मंत्र का स्वरूप समझना आवश्यक है, फिर मंत्र, यंत्र (श्री चक्र), षट् चक्र, मातृका और ब्रह्माण्ड पिण्ड का पारस्परिक संबंध समझा जा सकेगा।

मंत्र के तीन कूट हैं और १५ अक्षर हैं, सोलहवां अक्षर गुरुमुख से लेकर वह ही मंत्र षोडशी मंत्र बन जाता है। प्रथम *वाग्भव कूट अग्नेय भगवती का मुख है। दूसरा काम कला कूट सूर्य से संबंध रखता है, वह शक्ति का कण्ठ से नीचे कटि पर्यंत रूप है। दोनों के बीच में हृल्लेखा ब्रह्म ग्रंथि है। तीसरा शक्ति कूट चन्द्र से संबंधित कटिके नीचे का भाग है, वह सर्जन शक्ति का रूप है। दूसरे और तीसरे कूट के बीच की हृल्लेखा विष्णु ग्रंथि है।

---

*श्रीमद्वाग्भव कूटैकस्वरूप मुखपंकजा।
कण्ठाधः कटिपर्यन्त मध्यकूट स्वरूपिणी॥
शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभाग धारिणी।
मूलमंत्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा॥
ललिता सहस्रनाम (८५, ८६, ८७,)

चौथा पाद एकाक्षरी लक्ष्मी बीज है जो गुरु मुख से ही प्राप्त किया जाना चाहिये। इसको चन्द्रकला कहते हैं। इसके और तीसरे शक्ति कूट के बीच की हृल्लेखा रुद्र ग्रंथि है। १६ अक्षरों का यह मंत्र षोडशी विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। १६ अक्षरों को १६ नित्या समझना चाहिये। वास्तव में अन्तिम एकाक्षरी लक्ष्मी बीज ही नित्या है, क्योंकि वह परा कला है, और उसके कारण ही समस्त विद्या श्री विद्या कहलाती है। यह शुद्ध चिति शक्ति स्वरूपा सहस्रारस्थ चन्द्र की १६ वीं कला है, जो विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर प्रतिबिंबित हुआ करती है। प्रथम कला का प्रकाश पूर्व से आरम्भ होकर १६ वीं कला का ईशान पूर्व कोण के पत्र पर समझना चाहिये। सोलहवीं कला के आधीन ही अन्य कलाएं घटती बढती हैं, वे स्वतंत्र नहीं हैं। इस लिये इस विद्या का नाम श्री विद्या पडा है। शुक्ल और कृष्णपक्ष की १४ तिथियां, पूर्णिमा और अमावस्या सहित १६ चन्द्र कलाएं कहलाती हैं। ये सब कलाएं शुक्ल पक्ष में सूर्य के योग से उदय होती हैं और कृष्ण पक्ष में सूर्य में ही अस्त हो जाती हैं। यथा प्रथम कला शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को उदय होकर कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा में अस्त हो जाती है, दूसरी कला शुक्ल पक्ष की द्वितीया को उदय होकर कृष्ण पक्ष की द्वितीया में अस्त हो जाती है, इसी प्रकार अन्य कलाओं को भी समझना चाहिये। पूर्णिमा की पूर्ण कला अमावस्या में अस्त होती है। अमावस्या को पूर्णिमा की कला अस्त हो जाने पर जो चन्द्र कला रहती है वह ही १६ वीं नित्या कला है। क्योंकि वह ही चन्द्रमा का वास्तविक बिंब प्रत्येक कला में सर्य के प्रकाश से घटती बढती कलाओं के रूप में चमका

करता है। शुद्ध चिति शक्ति की १५ कलाएं पंचदशी के १५ अक्षरों से क्रमशः संबद्ध हैं और १६ वीं कला शुद्ध चिति शक्ति चिन्मात्र निर्विकल्प समाधि में विराजने वाली स्वयं महात्रिपुर-सुन्दरी है क्योंकि अन्य सब कलाएं घटती बढती हैं, चन्द्र का बिंब सदा एक समान रहता है। इसलिये प्रत्येक कला को १६ वीं कला का अंग समझना चाहिये और प्रत्येक कला का पूजन और ध्यान तदनुसार उस कला की संबंधित तिथि में १६ वीं कला सहित किया जाता है। कुण्डलिनी के सहस्रार में चढते समय वह मानस चक्रस्थ चन्द्र मंडल में छिद्र कर देती है, उससे अमृत टपक कर आज्ञा चक्र को अमृत मय कर देता है, जिससे वहां पर चन्द्रमा की सब कलाएं नित्य चमकने लगती हैं, और उनका नाम नित्या कहलाने लगता है। ये कलायें फिर विशुद्ध चक्र पर उतर कर उसकी १६ पंखडियों पर प्रकाशमान हो जाती हैं। सहस्रार के मध्यस्थ चन्द्र मण्डल को वैन्दव स्थान कहते हैं यह शुद्ध चिति शक्ति की आनन्दमयी कला का स्थान है, जिसको श्री अथवा महा त्रिपुर सुन्दरी कहते हैं।

आधार चक्र अन्धकारमय चक्र है, स्वाधिष्ठान जल का स्थान है, इसलिये वह भी कुछ थोडा प्रकाशयुक्त अन्धकारमय चक्र है, मणिपुर में अग्नि का प्रकाश भी उज्वल न होने से उसका स्थान भी अन्धकार युक्त ही है। इसलिये नीचे का अग्नि मंडल अन्धकार मिश्रित प्रकाश युक्त मण्डल है। अनाहत् में सूर्य का प्रकाश रहता है और विशुद्ध में चन्द्र का। आज्ञा चक्र अमृत का स्थान है। इसलिये विशुद्ध और आज्ञा स्वयं प्रकाशमान नहीं हैं, वे सहस्रार में स्थित चन्द्रकला से प्रकाशित होते हैं। सहस्रार में स्वतंत्र रूप

से चन्द्रकला नित्य पूर्ण रहती है, इसलिये वह ही वास्तविक नित्या है। श्री चक्र का तीनों मण्डलों और चक्रों से संबंध पहिले बताया जा चुका है। यदि श्री चक्र के त्रिकोण को मूलाधार, अष्टार चक्र को स्वाधिष्ठान, अन्तर्दशार को मणिपूर, बहिर्दशार को अनाहत, चतुर्दशार को विशुद्ध, ४ श्री कंठों को आज्ञा चक्र समझा जाय और विन्दु को सहस्रार, चतुष्कोण भूगृह को ब्रह्माण्ड, तो विन्दु स्थान में स्थित चिति रूपा चन्द्रकला की चन्द्रिका का प्रकाश सब पर प्रतिबिंबित होता समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि मनरूपी चन्द्रमा में चेतना देने वाला चेतन प्रकाश (Consciousness) सहस्रार में स्थित चिन्मात्र सत्ता का प्रतिबिंब है। जो अनाहत् चक्र में स्थित प्राणरूपी सूर्य के उद्ध्र्वगामी होने पर अपने विशुद्ध स्वरूप में अनुभवगम्य होता है जो प्राणरूपी सूर्य और मनरूपी चन्द्र दोनों की क्रियाओं का निःस्पन्द स्वरूप योग (neutralization) होने पर अनुभव में आता है। प्राण और मन दोनों को चिति शक्ति से उद्भूत क्रमशः सत्तात्मिका और चिदात्मिका शक्तियों के दो स्रोत (currents) समझना चाहिये। जैसे विद्युत् शक्ति की धनात्म (positive) और ऋणात्म (negative) स्रोत हुआ करते हैं। जहां दोनों का उदय और अस्त होता है वह परम कला है।

पंचदशी के अक्षरों की सुषुम्नापथ पर सहस्रार में चढते समय इस प्रकार भावना की जाती है। प्रथम अक्षर को अधःसहस्रार से उठाकर उसका विषुस्थान पर लय किया जाता है, दूसरे अक्षर को विषुस्थान से उठाकर उसका मूलाधार में लय किया जाता, तीसरे को मूलाधार से उठाकर स्वाधिष्ठान में, चौथे को स्वाधिष्ठान से

उठाकर मणिपुर में, पांचवे को मणिपुर मे उठाकर अनाहत् में, छटे को अनाहत् से उठाकर विशुद्ध में, सातवे को विशुद्ध से उठाकर लंबिका में, आठवें को लंबिका से उठाकर आज्ञा में, नवें को आज्ञा से उठाकर विन्दु में, दसवें को विन्दु से उठाकर अर्धचंद्रिका में, ११ वें को अर्धचन्द्रिका से उठाकर निरोधिका में, १२ वें को निरोधिका से उठाकर नाद में, १३ वें को नाद से उठाकर नादान्त में, १४ वें को नादान्त से उठाकर शक्ति में, १५ वें को शक्ति से उठाकर व्यापिका में, इस क्रम से प्रत्येक पूर्व अक्षर को अगले अक्षर में लीन करते हुए पूरा मंत्र उन्मनी में, जो पराकला स्वरूपा श्री कला है, लीन कर दिया जाता है। ललिता सहस्रनाम के श्लोक ११३ की व्याख्या में भासकरराय कहते हैं कि त्रिपुरसुन्दरी निर्विवाद षोडशकलात्मिका है जैसा कि वासना सुभगोदय में कहा है:—

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताद्या कलाः पंचदशैवतु ।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्द रूपिणी ॥

चन्द्र मण्डल में वह कला वृद्धि ह्रासरहिता है, शेष अन्य १५ कलायें आने जाने वाली होती हैं। दर्शा शुक्ल प्रतिपदा को कहते हैं, अर्थात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णमासी तक १५ कलाएं होती हैं जो पञ्चदशी मंत्र के १५ अक्षरों के अनुरूप समझी जानी चाहियें। उक्त १५ कलायें नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा भेद से और वाग्भव, कामकला, और शक्ति कूट ऐसे त्रिरावृत्त

भेद से बढती हैं। परन्तु दूसरे कूट में ६ अक्षर और शुक्ति कूट में ४ अक्षर होने से पंचदशी के पांच २ अक्षरों से तीन खंड इस प्रकार समझने चाहिये। कामराज कूटकी अन्तिम हृल्लेखा एकादशी होती है और दशमी से विद्धा होने के कारण वह दशमी कला के ही अन्तर्गत माननी चाहिये परन्तु उसका योग शक्ति कूट के प्रथम अक्षर के साथ, जो द्वादशी है तीसरे खण्ड की पूर्ति करता है और 'उपोष्या द्वादशी शुद्धा' इस वचन के अनुसार द्वादशी को ही एकादशी मानकर दोनों कूटों का योग समझ लेना चाहिये। और उन्नय भूमिका में तदनुसार ही भावना करनी चाहिये। इस प्रकार भावना करने से प्रथम कूट को अधः सहस्रार से उठाकर अनाहत् म उसका विलिनीकरण होता है, दूसरे कूट को अनाहत् से उठाकर उसका निरोधिका में और तीसरे को निरोधिका से उठाकर व्यापिका में विलीनीकरण होता है, परन्तु निरोधिका से नाद तक एकादशी का द्वादशी में संक्रमण समझना चाहिये और नीचे अर्धचन्द्रिका से दशमी में। मंत्र के तीनों कूटों के पांच पांच अक्षरों के खण्ड करने से प्रथम, छटा, और ग्यारहवां अक्षर नन्दा, दूसरा, सातवां और बारहवां अक्षर भद्रा, तीसरा, आठवां और तेरहवां जया, चौथा, नवां और चौदहवां रिक्ता और पांचवां, दसवां और पन्द्रहवां अक्षर पूर्णा समझना चाहिये।

इस प्रकार मंत्र का वाग्भव कूट रूपी मुख जो नीचे था, और शक्ति कूट रूपी कटि के नीचे का भाग जो ऊपर को था, सीधा ऊर्द्ध्वमुख हो जाता है।

दूसरे प्रकार की भावना में विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर पूर्व से अग्नि, दक्षिण, नैऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर और ईशान क्रमानुसार १६ अक्षरों की भावना की जाती है. जो चन्द्रमा की कलाओं के सदृश चमकती हैं और सहस्रार की पूर्ण कला के बिंब से आज्ञाचक्र पर होती हुई नीचे के विशुद्धचक्र पर प्रतिबिंबित होती हैं। इस प्रकार चितिशक्ति का सम्बन्ध १६ नित्याकलाओं से, उनका संबन्ध मन्त्र से, मन्त्र का संबन्ध सुषुम्ना से, सुषुम्ना का मातृका से, मातृका का संबन्ध ईडा पिंगला से, और तत्सम्बन्धी सूर्याग्निचन्द्र से और सबका श्रीचक्र से, जो देह (पिण्ड) और विराट् देह (ब्रह्माण्ड) दोनों का प्रतीक है, सबका पारस्परिक सम्बन्ध समझना चाहिये ।

नाद, बिन्दु और कला

सबका उपरोक्त पारस्परिक सम्बन्ध जानने के साथ नाद बिन्दु और कला का अर्थ और उनका मन्त्र, यंत्र और देहस्थ चक्रों से सम्बन्ध भी समझना आवश्यक है और यह जानना आवश्वक है कि इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ।

बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्ति र्नादस्तयोर्मितः ।
समवायः समाख्यातः सर्वागम विशारदैः ॥
सच्चिदानन्द विभवात् संकलात्परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादा नादाद्बिन्दु समुद्भवः ॥
पर शक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः ।
विन्दुनादो बीजमिति तस्यभेदाः समीरिताः ॥
रौद्री विन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्टा वीजादजायत ।
वामा ताभ्यः समुत्पन्नाः रुद्रब्रह्मारमाधिपाः ॥

ते ज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वन्हीन्द्वर्क स्वरूपिणः ।
इच्छा क्रिया तथा ज्ञान गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी ॥
त्रिधा शक्तिःस्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ संग्रहीत् श्लोक

शिव (पर विन्दु)
|
शक्ति
|
सदाख्यशिव (नाद)
|
ईश्वर (बिन्दु)
|
शुद्ध विद्या ,,

*नाद	बीज	विन्दु
ज्येष्ठा	वामा	रौद्री
ब्रह्मा इच्छा	विष्णु क्रिया	रुद्र ज्ञान
ब्राह्मी क्रिया	वैष्णवी ज्ञान	गौरी इच्छा
सूर्य	अग्नि	चन्द्र
प्राण	चिति	मन

अर्थः—आगमो के विद्वानों का ऐसा मत है कि विन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक है और दोनों के समवाय से उत्पन्न होने वाला तत्व नाद कहलाता है। सत् चित् आनन्द स्वरूप विभु परमेश्वर के स्पन्द रूपी संकलन से शक्ति उत्पन्न होती है, फिर नाद और नाद से विन्दु उत्पन्न होता है। जो साक्षात् परा शक्ति से युक्त है। वह विन्दु फिर तीन रूपों में फट जाता है अर्थात् विंदु, बीज और नाद।

अर्थः—विन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा, और उनसे क्रमशः रुद्र ब्रह्मा और विष्णु हुए। वे क्रमशः ज्ञान इच्छा और क्रियात्मा हैं और अग्नि, चन्द्र और सूर्य के रूप हैं। इच्छा, क्रिया और ज्ञान क्रमशः गौरी, ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तियां हैं, जहां पर तीनों का आधार है वह ॐ स्वरूप परं ज्योति है। बीज को शक्त्यात्मिका कला समझना चाहिये।

---

* नोटः-विंदुनाद कला ब्रह्मन् विष्णु ब्रह्मेश देवताः (यो०शि०६,७०) यहां विष्णु को विन्दु, ब्रह्मा को नाद और ईश(रुद्र)को कला माना गया है।

भासकरराय विरचित वरिवास्यारहस्य में बिन्दु, अर्धचन्द्रिका रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, और उन्मनी इन नौ स्तरों की समष्टि को नाद संज्ञा दी गई है।

विंद्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते। (१.३)।

अर्थात् हृल्लेखा के उच्चारण होने पर अनुनासिक ध्वनि उक्त नौ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त होती है, जिसके काल की मात्रा उत्तरोत्तर आधी होती जाती है और सबके योग का काल $\frac{१}{२}$ मात्रा होता है। जो बिन्दु की आधी मात्रा सहित पूरी १ मात्रा बनाती है। अर्थात्

$$\frac{१}{२}+\frac{१}{४}+\frac{१}{८}+\frac{१}{१६}+\frac{१}{३२}+\frac{१}{६४}+\frac{१}{१२८}+\frac{१}{२५६}+\frac{१}{२५६}=१$$

पंचदशी के ३ अनुस्वार तीन विन्दु हैं, हृल्लेखा नाद, और १५ अक्षर १५ कला। नाद विन्दु और कला तीनों को भी त्रिविन्दु कह सकते हैं। श्री चक्र को भी नाद विन्दु कला भेद से त्रिधा माना जाता है।

नाद से विन्दु, विन्दु से कला, नाद से कला, कला से विन्दु और कला से नाद का पांच प्रकार का ऐक्य संबंध जानने से अन्तर्याग की सिद्धि होती है।

ब्रह्म को विन्दु, शक्ति को कला और जीव को नाद समझकर उक्त पांच प्रकार का संबंध स्थापित होता है। प्रथम में जीव ब्रह्मैक्य भाव है, दूसरे में ब्रह्म से सृष्टि का प्रभव, तीसरे से देहा-

ध्यास, चौथे से प्रलय, और पांचवे से प्रलय के पश्चात् बन्धन में पड़े हुए जीवों की फिर उत्पत्ति । बिन्दु से नाद का संबंध न बताने का यह अभिप्राय है कि ब्रह्म कभी जीव नहीं बनता, आत्मा सदा ब्रह्म स्वरूप है, और जीव भाव की एक मिथ्या प्रतीति मात्र है ।

यदि बिन्दु को शिव शक्ति भेद से दो प्रकार का माना जाय तो शक्त्यात्म बिन्दु ही बीज है, और दोनों से शब्द ब्रह्म नाद की उत्पत्ति समझनी चाहिये और शब्द से कला अर्थात् अर्थात्मक सृष्टि की उत्पत्ति ।

शिव शक्ति का अङ्गी और अङ्गवत सम्बन्ध

[३४]

शरीरं त्वं शंभोः शशि मिहिरवक्षो रुहयुगं,
तवात्मानं मन्ये भगवति नवा (भवा) त्मानमनघम् ।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थितः संबंधो वां समरस परानन्दपरयोः ॥

अर्थः— हे भगवति ! मैं ऐसा समझता हूं कि तू शंभु का शरीर है, जिसके वक्षः स्थल पर सूर्य और चन्द्र दो स्तन उभरे हुए हैं, और तेरी आत्मा सारे भव की आत्मा शंकर है, अथवा नवात्मा शंकर है । इसलिये तुम दोनों परा शक्ति और आनन्द का एक समरस होने के कारण शेष और शेषी वत् संबंध स्थित है ।

सं० टि० शक्ति को शिव का स्थूल देह समझना चाहिये। शंकर का एक नाम चिदंबर भी है। सारा विश्व (ब्रह्माण्ड) शक्ति का रूप है और वह विराट् भगवान का स्थूल देह है। इसलिये शिव और शक्ति का आधार आधेय संबंध यहां दिखाया गया है। यदि पर पद शिव है तो आनन्द पद को शक्ति का रूप समझना चाहिये। दोनों की एकता का समरसपना दोनों की अभिन्नता प्रकट करता है। जैसे शक्कर और उसकी मधुरता। यह अधिदैव रूप है अर्थात् चित् और आनन्द का जोडा ही ब्रह्म और शक्ति का जोडा है। अधि भैतिक स्तर पर भी ऐसा ही समझना चाहिये, सत् प्रकृति है और चिदानन्द शिव्

व्याख्या— वेदों और पुराणों में सूर्य और चन्द्र को विराट् भगवान के नेत्र माना गया है, परन्तु यहां उन्हें जगज्जननी प्रकृति के दोनों स्तनों से उपमित किया गया है, क्योंकि प्राण और सोम दोनों से विश्व का पोषण होता है। सूर्य से विश्व को प्राण शक्ति प्राप्त होती है और चन्द्रमा से सोम रस। आध्यात्मिक स्तर पर भी सूर्य हृदय में रहकर और चन्द्र मस्तिष्क में रहकर रक्षा करते है। सत् चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म के सत् स्वरूप का परिणाम सारा विश्व है, और आध्यात्म स्तर पर चेतन सत्ता दो स्तरों पर दृष्टिगोचर होती है, आनन्द के रूप में और ज्ञान के रूम में। इस श्लोक में ज्ञान के रूप को शिव अथवा परम भाव कहा है और आनन्द को शक्ति भाव। दोनों भाव समरस वत् एक ही हैं जैसे

शक्कर और मीठापन। परम भाव शक्कर सदृश विशेष्य है और आनन्द मीठेपन के सदृश विशेषण, प्रथम रूप शिव का है और दूसरा शक्ति का। परानन्द का मार्ग शक्ति का योग मार्ग है। और ज्ञान मार्ग वैदिक वेदान्त का मार्ग है। यहां यह दिखाया गया है कि दोनों मार्गों का इतना एकरस पना है कि जैसे विशेषण और विशेषी का, अर्थात् दोनों मार्ग पारस्परिक सापेक्षिक हैं और एक दूसरे के विना अपूर्ण हैं। आनन्द के मार्ग को भाव योग कहते हैं जो कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राप्त होता है और ज्ञान मार्ग आत्म चिन्त रूप ध्यान योग का मार्ग है। गीता के १२ वें अध्याय में श्री भगवान ने प्रथम भाव योग को सरल बताकर उसकी श्लाघा की है और ज्ञानमार्ग को कठिन कहकर उसकी प्राप्ति को दुःख साध्य बताया है।

नवात्म=शंकर। शिव, शक्ति और श्री चक्र तीनों ९ व्यूहात्म हैं। तीनों के ९ नौ २ व्यूह नीचे दिये जाते हैं। शिव के ९ व्यूहः— काल, कुल, नाम, ज्ञान, चित्त, नाद, विन्दु, कला और जीव।

शक्ति के ९ व्यूहः— वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अंबिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शान्ति और परा।

श्री चक्र के ९ व्यूहः— ११ श्लोकोक्त ४ श्रीकंठ और ५ शिव युवतियां अर्थात् ९ मूल त्रिकोण। इसलिये शिवजी सब के आधिष्ठातृ देव अर्थात् आत्मा होने के कारण नवात्मा कहे गये हैं।

सारा विश्व शक्ति का परिणाम है

(३५)

मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम् ।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे ॥

अर्थ:—हे शिवयुवति ! तू मन है, आकाश तू है और वायु है सारथी जिसका वह अग्नि भी तू ही है, तू जल है और तू भूमि है; तेरी परिणति के बाहर कुछ भी नहीं । अर्थात् सारा विश्व तेरे परिणाम का ही रूप है । तू ने ही अपने आप को परिणत करने के लिये, चिदानन्दाकार को विराट देह के भाव द्वारा व्यक्त किया हुआ है

सं० टि०:—जैसे श्लोक (३४) विश्व और शिव की एकता दिखाता है, वैसे ही (३५) श्लोक में चिदानन्द को समझना चाहिये, अर्थात् यह अध्यात्म स्वरूप है । यहां चित् और आनन्द का जोड़ा भी उसी प्रकार समझना चाहिये । मन, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी सत् शक्ति के विकार हैं उनसे आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और आधार चक्रों से संबंधित् तत्त्वों के अधि देवताओं का संकेत है, जिनका अगले श्लोकों में वर्णन है । वे चिदानन्दाकारा भगवती के ही रूप हैं ।

ब्रह्म सत् स्वरूप है अर्थात् उसकी सत्ता है। श्रुति छा० ६,२) कहती है 'सदेवसौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। 'तदैक्षत'—उसने इच्छा की, कि 'वहुस्यां प्रजायेय'—सृष्टि के लिये मैं अनेक हो जाऊँ (अर्थात् वह चेतन चित् स्वरूप है)। उसकी सत् शक्ति में क्रिया की प्रवृत्ति होती है और चेतन चित्शक्ति में अधिष्ठातृत्व शक्ति रहती है। और 'अग्र' अर्थात् सृष्टि के पूर्व वह एक ही अद्वितीय था। और वह स्वय ही अनेक हो गया, अर्थात् तेज, जल, अन्न में परिणत हो गया और उनसे अनेक रूप की सृष्टि होती गई। इसीलिये श्रुतिवचन है कि 'सर्वंखल्विद ब्रह्म'। 'एकमेव' में 'एव' का प्रयोग इस बात का निश्चय कराता है कि अद्वितीय होने के कारण दूसरा कुछ न था।

तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस। (नासदासीय सूक्त)
ऋग्वेद परिशिष्ट (१)

अर्थः—उससे अन्य दूसरा कुछ भी न था।

इसलिये ब्रह्म की सत् शक्ति का परिणाम यह सारा विश्व है और उसका अधिष्ठातृत्व आधार चिदानन्द स्वरूप है। यह भाव इस श्लोक में दिखाया गया है। मन, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ब्रह्म की सत् शक्ति के परिणाम हैं और चेतना और आनन्द का प्रकाश उस परिणाम के प्रत्येक स्तर प्रत्याभासित हो रहा है। ५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, ५ कर्मेन्द्रियां और ५ ज्ञानेन्द्रियां और मन बुद्धि चित्त अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय सब सत् शक्ति के परिणाम हैं, जो चिति शक्ति के प्रकाश से चेतन और अचेतन

दिखते हैं। जैसे अंधकार प्रकाश की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार अचेतन चेतन प्रकाश की अपेक्षा रखता है। क्योंकि प्रकाश का तिरोभाव अंधकार का कारण है, और चेतना का तिरोभाव अचेतना का कारण। जैसे समुद्र की तरंगों के उठाव उतार पर अथवा भूमि की ऊंचे नीचे धरातल पर प्रकाश पड़ने से कहीं प्रकाश दिखता है, कहीं छाया का अंधकार, उसी प्रकार सत् शक्ति के परिणाम की विषमता पर प्रतिबिंबित् चिदानन्दाकार के कारण कहीं चेतनता कहीं अचेतनता की अनुभूति समझनी चाहिये। वेदानुवचन है कि

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च।
(श्वे० ६, ८)

इच्छा, ज्ञान और क्रिया भेद से वह पराशक्ति त्रिधा दिख रही है। चितिशक्ति का स्थान सहस्रार में है और उन्मनी समनी दोनों स्तरों पर व्यक्त होती है, उन्मनी में सूक्ष्म सामान्य रूप से और समनी पर विशेष रूप से। चिदानन्द की अभिव्यक्ति व्यापिका और शक्ति के स्तरों पर होती है, व्यापिका पर सूक्ष्म अविशेष सामान्य अभिव्यक्ति है और शक्ति के स्तर पर विशेष घनानन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति है। नीचे के स्तरों पर सत् शक्ति का शब्द और अर्थ अथवा नाम और रूप दो भेद से फटाव हो जाता है। पहिले शब्द, फिर रूप की अभिव्यक्ति होती है। महानाद और नाद दो स्तरों पर शब्दात्मज्ञान के हैं, महानाद पर अविशेष और नाद पर सविशेष ज्ञान की अनुभूति रहती है। उनके नीचे बिन्दु अर्धेन्दु और निरोधिका के उत्तरोत्तर स्तर रूपों के संप्रज्ञात भेद हैं। मन का

स्थान आज्ञाचक्र है, आकाश का विशुद्ध, वायु का अनाहत, अग्नि का मणिपूर, जल का स्वाधिष्ठान, और पृथिवी का स्थान मूलाधार है। पातंजल दर्शनोक्त वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से संबंधित चार प्रकार की मानसिक संप्रज्ञात समापत्ति के अंतर्गत् क्रमशः आज्ञा से ऊपर के ३, २, २, २ स्तर हैं। इसलिये इन सबका समावेश आज्ञाचक्र में है जो मन का स्थान है, और मन एवं पांचों महाभूतों के छः ही चक्र मुख्य माने जाते हैं। जिनका विशेष उल्लेख शंकर भगत्पाद अगले छः श्लोकों में करते हैं। मन का स्थूल ध्येयाकार हो जाना उसकी रूपापत्ति कहलाती है, उस अवस्था को वितर्क संप्रज्ञात समापत्ति कहा गया है, मन का शब्दात्म होना विचार संप्रज्ञात समापत्ति के अन्तर्गत है, आनन्दाकार होना सानंद समापत्ति है और चिदात्म होना सास्मिता समापत्ति कहलाती है। समता की प्राप्ति को समापत्ति कहते हैं और प्रज्ञा से संयुक्ति को संप्रज्ञात कहते हैं। अर्थात् इन अवस्थाओं में मन प्रज्ञा से संयुक्त रहकर स्थूलाकार, सूक्ष्माकार, आनन्दाकार और चिदाकार रहता है।

आज्ञाचक्र

(३६)

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता ।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
१ निरातङ्के लोको निवसति हि भालोक भ (भु) वने ॥

१ पाठांतर=निरालोके ढोके

कठिन शब्द:—निरालोके लोके=जिस लोक मे सूर्य चन्द्र और अग्नि का प्रकाश नहीं है। लोकः=मनुष्य।

अर्थः—तेरे आज्ञा चक्र में स्थित किरोडों सूर्य और चन्द्र के तेज से युक्त पर शिव को वन्दना करता हूं, जिसका वाम पार्श्व् पराचिति से एकीभूत है। उसका जो मनुष्य भक्तिपूर्वक आराधन करते हैं, वे उस प्रकाशमान लोक में निवास करते हैं जो सूर्य चन्द्र और अग्नि का विषय नहीं है अथवा सब आतङ्को से मुक्त है। अथवा सूर्यचन्द्र और अग्नि का विषय न होने के कारण उन के प्रकाश से प्रकाशित नहीं है।

तब आज्ञा चक्र कहने का क्या अभिप्राय है ? भगवती की काल्पनिक मूर्ति को ध्यान में लाकर उसके भ्रूमध्यस्थ स्थान में पराचिति को वामांक में लिये हुए पर शिव की आराधना करने का यहां विधान किया गया है, अथवा साधकों को अपने ही आज्ञा चक्र में इस प्रकार ध्यान करने की ओर संकेत है, यह बात विचारणीय है। भगवती के देह के अन्तर्गत सारा ब्रह्माण्ड और पिंड दोनों हैं। अथवा श्री चक्र जो भगवती के देह का प्रतीक है, उसके षोडश और अष्ट दलों में आज्ञा चक्र की भावना पूर्वक अर्चन करने से श्लोकोक्त आलोक भवन की प्राप्ति कही गई है। ब्रह्माण्ड रूपी विराट देह में आज्ञा अथवा अन्य चक्रों का स्थिर करना असंभव है। और काल्पनिक मूर्ति के ध्यान में भी चक्रों को कल्पना करने पर साधक को अपने भीतर ही ध्यान करना पड़ेगा, अन्यथा ध्यान नहीं हो सकता। आकाश में तो चक्रों की कल्पना करना वृथा है। पार्थिव

अथवा चित्र की प्रतिमा में चक्रों की कल्पना करना आकाश में ही कल्पना करने के सदृश है। हां ! श्री चक्र पर अर्चन तो किया जा सकता है, परन्तु ध्यान तो अपने अन्दर ही करना पडेगा। इसलिये इस श्लोक और आगे आने वाले श्लोकों में बताए गये ध्यान अपने ही शरीरस्थ चक्रों में किये जाने चाहियें। 'तव' अर्थात् 'तेरे' पद का प्रयोग किये जाने का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि साधक को अपना देहाभिमान त्याग कर अपना स्थूल सूक्ष्म देह सब भगवती का ही रूप समझना चाहिये। जैसा कि गत श्लोक में कहा जा चुका है कि मन, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी सब भगवती की परिणति के कार्य हैं। जब सारा प्रपंच भगवती की परिणति के अन्तर्गत है तो 'मेरा' कहने के लिये स्थान नहीं रहता। २२ वें श्लोकोक्त 'भवानित्वं' अथवा ३० वें श्लोकोक्त 'त्वामहमिति' की भावना करने वाले साधक के मुख से 'तवाज्ञा चक्र' इत्यादि शब्दों का उद्गार अनन्यता का सूचक है। और सुषुम्ना को भी जिसमें सब चक्रों की स्थिति है चिदात्मिका महा शक्ति का ही एक रूप समझा जाता है। जैसे नीचे दी हुई श्रुति से प्रकट है।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्र मण्डलात्।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने॥ यो. शि. (६, ३)

इसलिये सुषुम्ना में स्थित सब चक्र चिति शक्ति के विभिन्न केन्द्र होने के कारण भगवती के ही चक्र हैं। आज्ञा चक्र से सहस्रार में उठने वाली दोनों ओर की नाडियों का नाम वरणा और असी है, इस स्थान को वाराणसी कहते हैं। यह ही स्थान काशी है

जहां शंभु विराजते हैं और उनके वाम अंग में चिति शक्ति शोभायमान है। प्रयाण समय आज्ञा चक्र में लेजाकर प्राणों का त्याग करने वाले योगी को शिवजी तारक मंत्र का उपदेश दे कर उसे निज लोक प्रदान करते हैं, जो स्वयं प्रकाशमान है और जहां अग्नि सूर्य और चन्द्र की गति नहीं।

निरालोके लोके:—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेवभान्तमनुभातिसर्वं, तस्यभासा सर्वमिदं विभाति॥ (मु. २, २, १०)

मूलाधार स्वाधिष्ठान दोनों अग्नि मंडल के अन्तर्गत हैं, मणिपूर अनाहत् सूर्य मण्डल के अन्तर्गत और विशुद्ध आज्ञा चन्द्र मण्डल के अन्तर्गत, आज्ञा से ऊपर सहस्रार में जो सदा पूर्ण ज्योति का परम स्थान है, तीनों से ऊपर है। वहां जाकर साधक जन्म मरण के आतंक से छूट जाता है।

१४ श्लोकोक्त ६४ किरणें आधी परशंभु की और आधी परचिति की किरणें जाननी चाहियें।

विशुद्धचक्र

(३७)

विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमजनकं
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यवसिताम्।
ययोःकान्त्यायान्त्या शशिकिरण सारूप्य सरणि (णेः)
विधूतान्तर्ध्वान्ता विलसति चकोरीव जगती॥

अर्थः—तेरे विशुद्ध चक्र में आकाशतत्त्व के जनक, शुद्ध स्फटिकवत् स्वच्छ शिव की और शिव के समान सुव्यवसित् देवी की भी, मैं सेवा करता हूं। जिन दोनों की चन्द्रमा की किरणों के सदृश कान्ति से जगत्, जिसका अन्तरन्धकार नष्ट हो गया है, चकोरी की तरह आनन्दित होता है,

विशुद्ध चक्र में कुण्डलिनी शक्ति सोती है, वह योगियों को मोक्षदायिनी होती है।

सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति।

शांडिल्योपनिषत् (१.३७)

विशुद्ध चक्र आकाश तत्त्व का स्थान है, जिसके अधिष्ठातृ देव सदाशिव हैं। आकाश तत्त्व के उपादान होने के कारण उनको व्योमेश्वर और भगवती को व्योमेश्वरी कहते हैं। आकाश के कारण स्वरूप चिदम्बर सदाशिव शुद्ध स्फटिक सदृश कान्तिमान हैं। श्रुति का वचन है कि

सत्यंज्ञानमनन्तंब्रम्ह यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रम्हणा विपश्चितेति।
एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः,
अग्नेरापः, उद्भ्य. पृथिवी। तै० ब्राम्हानन्दवल्ली प्रथमोनुवाकः।

अर्थः— ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और अनन्त है, जो उसको गुहा में निहित परमाकाशवत् जानता है वह ब्रह्म ज्ञान सहित सब कामनों को प्राप्त कर लेता है। इस आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है।

श्लोक १४ में बताई गई ७२ मयूखायें आधी २ व्योमेश्वर और व्योमेश्वरी की समझनी चाहिये। बहुधा आकाश का अर्थ अवकाश अथवा अभावात्मक शून्य किया जाता है। परन्तु अभाव से भावात्मक वायु की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, इसलिये आकाश को एक भावात्मक तत्व मानना पडेगा। पाश्चात्य भौतिक विज्ञानवादी भी आकाश के स्थान पर एक तत्व की सत्ता मानते हैं जिस के माध्यम द्वारा प्रकाश, उष्णता, विद्युत् और चुंबक (magnetic rays) की किरणें प्रसारित होती हैं। यह बात आधुनिक रेडिओ विज्ञान के अविष्कार से सर्व साधारण के सामने प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है। उक्त किरणों का माध्यम भौतिक आकाश कहा जा सकता है। भौतिक वायु की उत्पत्ति उससे किस प्रकार होती है, यह अभी भौतिक विज्ञान नहीं समझ सका है। वायु को जमाकर गरमी निकाली जा सकती है, जैसे भाप को जल के रूप में जमाने से उष्णता निकाली जाती है, उसे वायुगत गुप्त तेज (latent heat) कहते हैं। और जल को बरफ के रूप में जमाने में भी उष्णता खेंचनी पडती हैं। उसे जल का गुप्त तेज (latent heat) कहते हैं। भौतिक विज्ञान ने भिन्न २ तत्वों के गुप्त तेज का कॅलोरियों (calories) में नाप भी किया हुआ है। जब बरफ को

तपाया जाता है तब जब तक सब बरफ नहीं पिघलती जल का तापमान बरफवत् ही रहता है। श्रुति का भी वचन है कि 'आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत् तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्तताग्निः।' (बृ. १, २, २)

अर्थः—जल सूर्य ही है, जो जल रूपी शर अर्थात् किरण थीं, उनको उसने छोडा, वे पृथिवी बन गईं। उस परिश्रम से श्रान्त और सन्तप्त उसका जो तेज रूपी रस निकला वह अग्नि थी।

यह पूर्व श्लोक के नीचे कहा जा चुका है कि सारा भौतिक जगत् परमात्मा की सत् शक्ति का परिणाम है और उसपर चमकने वाली चैतन्य सत्ता उसकी चित् शक्ति की छाया है। इस प्रकार सारा चेतन अचेतन विश्व का उपादान कारण सच्चिदेक ब्रह्म ही है।

हृदय कमल

(३८)

समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणति
र्यदादत्ते दोषाद्गुणमखिलमद्भ्यः पय इव॥

अर्थः—हृद्देश में विकसित संवित् कमल से निकलने वाले मकरन्द के एकमात्र रसिक उस किसी (अद्भुत) हंसों के जोडे का मैं भजन करता हूं, जो महान् पुरुषों के मन रूपी मानसरोवर में

विहार करता है, जिसकी वार्तालाप का परिणाम १८ विद्याओं की व्याख्या है, और जो दोषों से समस्तगुण को इस प्रकार निकाल लेता है जैसे जलमिश्रित दूध से सब दूध को हंस निकाल लेता है।

संवित् का अर्थ ज्ञान है। १२ अरों का अनाहत् चक्र जो सुषुम्ना में स्थित है, उससे यह अष्टदल पद्म पृथक है। इसका स्थान वक्षस् में है।

संवित् कमल

अरुणाचल के विख्यात रमणमहर्षि की श्रीरमण गीता में इस कमल का स्थान दक्षिण भाग में होना बताया गया है। रमणगीता के तत्संबंधी श्लोक हम नीचे उद्धृत करते हैं।

अहंवृत्तिः समस्तानां वृत्तीनां मूलमुच्यते।
निर्गच्छति यतोऽहंधीर्हृदयं तत्समासतः॥ (५, ४)
हृदस्य यदि स्थानं भवेच्चक्रमनाहतं।
मूलाधारं समारभ्य योगस्योपक्रमः कृतः॥ (५, ३)
अन्यदेव ततो रक्तपिण्डाद्धृदयमुच्यते
अहंहृदितिवृत्या तदात्मनो रूपमीरितम्॥ (५, ५)
तस्य दक्षिणतो धाम हृत्पीठे नैव वामतः।
तस्मात्प्रवहति ज्योतिः सहस्रारं सुषुम्नया॥(५, ६)

अर्थः—सब वृत्तियों का मूल अहम्-वृत्ति है, और जिस स्थान पर अहम्-बुद्धि का उदय होता है, वह हृदय है। यदि हृदय

का स्थान अनाहत् चक्र माना जाय, तो मूलाधार से आरम्भ होने वाले योग का उपक्रम कहां रहता है (अर्थात् नहीं रहता)। इसलिये हृदय उससे अन्य है, और वह रक्त पिण्ड से भी अन्य है। अयंहृद् इस वाक्य से आत्मा का स्वरूप कहा गया है। (देखें छांदोग्योपनिषद् (८, ३, ३), हृद्+अयम्=हृदयं, यहां 'अयम्' पद आत्मा के लिये प्रयुक्त किया गया है)। उसका स्थान दक्षिण की ओर है, वाम ओर नहीं। उस स्थान से ज्योति का प्रवाह उठ कर सुषुम्ना में जाकर सहस्रार में जाता है।

अहंसंवित् अर्थात् अहंवृत्ति का ज्ञान जिस स्थान से उदय होता हुआ अनुभव में आवे वह ही हृदय का स्थान जानना चाहिये। वह स्थान आत्मा का स्थान है, वहां पर ही मन का स्फुरण होता है और वहां पर ही परमात्मा विराजते हैं। इस स्थान पर 'हंसः' मन्त्र का जप किया जाता है।

हंसोपनिषद् में हंस का ध्यान इस प्रकार किया जाना कहा गया है कि

हृदयेऽष्टदले हंसात्मानं ध्यायेत्। अग्निषोमौ पक्षौ, ॐ कारः शिरो विन्दुस्तुनेत्रं मुखो रुद्रो रुद्राणि चरणौ वाहूकालश्चाग्निश्च ... एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशः।

अर्थः— हृदय में अष्ट दल पद्म पर आत्मा स्वरूप हंस का ध्यान करना चाहिये। अग्नि और चन्द्र उसके दो पंख हैं, ॐ कार शिर, विन्दु नेत्र, मुख रुद्र, चरण रुद्राणी, अग्नि और काल बाहू। ऐसा

यह परम हंस कोटि सूर्य के प्रकाश से युक्त है। हंसः इस मंत्र का एक कोटि जप करने से यह कमल खिलता है। हं और सः दोनों को हंस और हंसिनी का जोडा कहते हैं। हं पुमान् है और सः शक्ति का रूप है। प्रत्येक दल के क्रम से आठों दलों पर उसके बैठने का फल इस प्रकार है। पूर्व पर पुण्य मति, आग्नेय कोण पर निद्रा आलस्य, दक्षिण पर क्रूर बुद्धि, नैर्ऋत् पर पाप बुद्धि, पश्चिम पर क्रीडा की इच्छा, वायव्य कोण पर यात्रा की इच्छा, उत्तर पर रति इच्छा और ईशान कोण पर धनेच्छा, मध्य में वैराग्य, केशर पर जाग्रत, कर्णिका में स्वप्न, सूक्ष्म में सुषुप्ति और पद्म का त्याग कर के ऊपर उडने पर तुरीया समाधि की अवस्था होती है।

हंस का जोडा जब वार्तालाप करता है, तब योगियों को १८ विद्याएं आ जाती हैं, मानो दोनों की वार्ता का विषय उनकी व्याख्या स्वरूप होती है। १८ विद्याओं के नाम ये हैं:— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, चार वेद, दोनों मीमांसा दर्शन, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व विद्या और नीति शास्त्र। चारों वेदों की चार विद्याओं में और दोनों मीमांसा दर्शनों की एक विद्या में गणना करनी चाहिये।

गौडपादाचार्य रचित सुभगोदय के भाष्य में श्री भगवत्पाद ने हंस के जोडे का रूप एक दीप शिखा के सदृश बताया है। उसके दक्षिण और वाम भाग ही हंसेश्वर और हंसेश्वरी हैं। हंसेश्वर को शिखी और हंसेश्वरी को शिखिनी भी कहते हैं उनका ध्यान हृदय पद्म के मध्य में करना चाहिये।

नारायणोपनिषद् में भी हृद्देश में दीपशिखा का ध्यान करने का उपदेश मिलता है। उसका वर्णन इस प्रकार है:—

तस्य मध्ये (हृदयस्य) वन्हिशिखा अणीयोर्द्ध्वा व्यवस्थिता नीलतोयदमध्यस्थाद्विद्युल्लेखेवभास्वरा, नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा। तस्याः शिखायामध्ये परमात्मा व्यवस्थितः, सब्रह्मा, सशिवः, सहरिः, सेन्द्रः सोऽक्षरः परमःस्वराट् (ना० खण्ड १३)

अर्थः—उस हृदय कमल के मध्य में अग्नि की छोटीसी शिखा है। नीलवर्ण के मेघों में चमकने वाली विद्युत् रेखा के सदृश पीले रंग की धान्य के तिनके के अग्रभाग जैसी पतली होती है। उस शिखा के मध्य में परमात्मा रहते हैं, वह ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र और अक्षर परब्रह्म है। विद्युत् प्रकाश में दिखने वाले श्याम मेघ सदृश रंग हंसेश्वर का और पीत वर्ण हंसेश्वरी का समझना चाहिये। वैष्णव सम्प्रदाय में पीतवर्णा श्रीजी और श्यामवर्ण भगवान का हृदय में ध्यान इसी आधार पर बताया जाता है। १४ श्लोकोक्त ५४ वायव्य किरणें आधी हंसेश्वर की और आधी हंसेश्वरी की हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी इसका वर्णन मिलता है, वह इस प्रकार है:—

मनोमयोयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥ (५, ६, १)

अर्थः— यह मनोमय पुरुष प्रकाशमान सत्य स्वरूप है, वह अन्तर्हृदय में धान अथवा जौ के सदृश चमकता है। वह सब का ईश्वर, सबका अधिपति इस जगत में जो कुछ है सब पर शासन करता है।

छान्दोग्योपनिषद् के अष्टम अध्याय में जो दहर विद्या का वर्णन है वह भी इस संवित् कमल में ही अहं संवित् के ध्यान पूर्वक ज्योति दर्शन द्वारा ब्रह्म प्राप्ति की विद्या है।

स्वाधिष्ठान चक्र

(३९)

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे संवर्तं जननि महतीं तां च समयाम्।
यदालोके लोकान् दहति महतिक्रोधकलिते
***दयार्द्राया दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति॥**

*पाठान्तर—**दयार्द्रैर्भिर्दृग्भिः**

अर्थः—हे जननि! तेरे स्वाधिष्ठान चक्र में अग्नितत्त्व को अधिष्ठान (प्रभाव) में रखने के लिये जो संवर्ताग्नि रहता है, उसकी और उस महती समया देवी की मैं स्तुति करता हूं, जिस समय संवर्ताग्नि बड़ी क्रोध भरी दृष्टि से लोकों को जलाने लगता है, उस समय समया देवी की दयार्द्र दृष्टि शीतल उपचार करती है।

स्वाधिष्ठान=स्व+अधि+स्थान, कुण्डलिनी शक्ति का जागने के पश्चात् सुषुम्ना के भीतर रहने का अपना स्थान।

संवर्ताग्नि=अच्छी तरह से वर्तमान रहने वाला अग्नि। प्रलयाग्नि को संवर्ताग्नि कहते हैं। यह रुद्र का रूप है।

समया देवी=समयाचार की देवी।

कुंण्डलिनी शक्ति के जागने का फल समाधि है। कुण्डलिनी महायोग का एक अंग लययोग भी है और षट् चक्र वेध द्वारा तत्वों का वेध पूर्वक प्रतिप्रसवक्रम भी एक अंग है। प्रतिप्रसवक्रम प्रसव के उलट क्रम को कहते हैं। अर्थात् योगी प्रतिप्रसवक्रम का आश्रय लेकर ही षट् चक्र वेध करता है और पंच महाभूतों पर जय प्राप्त करता है। प्रलय के समय भी संवर्ताग्नि पृथिवी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में और वायु को आकाश में लीन करता हुआ, सब तत्वों को प्रकृति लीन कर देता है।

सृष्टिक्रम में शक्ति प्रभवाभिमुख होकर फिर विविध रचना करने लगती है, मानो वह देवी दयार्द्रदृष्टि से संवर्ताग्नि को शान्त करके लोकानुग्रह करती है। वास्तव में सृष्टि स्थिति और संहार की त्रिधा शक्ति निरंतर अणु २ में कार्य करती रहती है, परन्तु योगी क षट्चक्र वेध के समय लयक्रम प्रधान रहता है इसलिये कहा गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र में अग्नितत्व का संयम पूर्वक प्रयोग होकर पृथिवी और जल दोनों का वेध मूलाधार में होता है और अग्नि का वेध मणिपूर में होता है। जैसा श्लोक ९ में समझाया जा चुका है। यदि यह लयक्रम तीव्र हो तो शरीर के नष्ट होने की सम्भावना

हो सकती है, परन्तु ऐसा होता नहीं, शरीर ही तो दोनों मोक्ष का और भोग का साधन है। जब तक जीवन मुक्ति की दशा की प्राप्ति नहीं होती, शरीर की रक्षा करना परम कर्तव्य है। इसलिये षट्चक्रवेध द्वारा लयक्रम और शरीर का पुनः निर्माण एवं संगठन अथवा जीर्णोद्धार रूपी सृष्टि स्थिति क्रम भी युगपद् चलता रहता है। इसी अभिप्राय से संवर्ताग्नि की संहार क्रिया को संयम में रखने के लिये समयादेवी अपनी दयार्द्र दृष्टि से शीतल उपचार करती रहती है।

अनाहत् चक्र के नीचे नाभिस्थान में मणिपूर, और उसके नीचे उपस्थ के पीछे स्वाधिष्ठान, और गुदा के पास मूलाधार की स्थिति है। दोनों के बीच में योनि स्थान है, जो अग्नि की पीठ मानी जाती है। योनिस्थान का संबंध स्वाधिष्ठान से भी है, इसलिये अग्नि को स्वाधिष्ठान चक्र में रहने वाला कहा गया है। श्लोक ९ की पद रचना, इस दृष्टिकोण को सामने रख कर, समझनी चाहिये। यह कहा जा चुका है:—'महींमूलाधारे कमपि, मणिपूरे हुतवहं स्थितं स्वाधिष्ठाने, इत्यादि भित्वा....। अर्थात् मूलाधार में पृथिवी और जल को भी, और मणिपूर में अग्नि को, **जो स्वाधिष्ठान में स्थित है,** वेध करके इत्यादि'। उस श्लोक में तत्वों के वेध का स्थान एवं क्रम बताया गया है, और उनकी स्थिति के लिये केवल अग्नि तत्त्व के स्थान का संकेत है, अन्य तत्वों के स्थान का नहीं, क्योंकि अन्य तत्वों के स्थान और उनके वेध के स्थान एक ही हैं। केवल स्वाधिष्ठान चक्र में जल और अग्नि दोनोंका संधि स्थान है। इसलिये वायु के पश्चात् अग्नि का वर्णन करने के लिये पहिले उसकी स्थिति के स्थान स्वाधिष्ठान का और फिर वेध के स्थान मणिपूर का अगले

श्लोक में वर्णन किया गयाहै। जल तत्व का मूलाधार में बेध होकर वह मणिपूर रूपी अन्तरिक्ष में मेघों के रूप में प्रकट होता है और मेघों की सहायता से अग्नि का बेध होकर वह विद्युताग्नि में परिणत हो जाती है। जिसका सुन्दर वर्णन अगले श्लोक में है।

स्वाधिष्ठान में संवर्ताग्नि शिव स्वरूप है और समयादेवी जल की शिवात्मिका शक्ति, और मणिपूर में मेघेश्वर पर्जन्य जल की शिवात्मिका शक्ति है और सौदामिनी अग्नि की शक्त्यात्मिका शक्ति। इसलिये स्वाधिष्ठान में संवर्ताग्नि की ३१ और समयादेवी की २६, और मणिपूर में मेघेश्वर की २६ और सौदामिनी की ३१ किरणें माननी चाहिये। परन्तु स्वाधिष्ठान में जल की ५२ किरणों का स्थान है और मणिपूर में अग्नि की ६२ किरणों का, परन्तु दोनों का संक्रमण होने से विपरीतता दृष्टिगोचर होती है।

विभिन्न स्तरों पर शक्ति के विभिन्न रूप

ब्रह्माण्ड और पिण्ड में शक्ति का अनुभव आधि भौतिक, आधि दैविक और आधित्यात्मिक दृष्टि से तीन प्रकार का किया जाता है। सारा विश्व किसी शक्ति के आधार पर कार्य कर रहा है उस शक्ति का हम अनुभव, ताप, शब्द, प्रकाश, चुम्बक, और विद्युत् के रूप में सदा देखते हैं और उनकी सहायता से अनेक कार्य करते हैं। परन्तु विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि ये सब रूप किसी एक ही शक्ति के परिणाम हैं। शक्ति का यह रूप अधि भौतिक (physical) कहलाता है। दूसरा रूप हम अपने शरीर में अनुभव करते हैं, जो देह, इन्द्रियों और मन बुद्धि में काम करता है। उसे हम अध्यात्म रूप कहते हैं। परन्तु अध्यात्म शक्तियां

वाह्य शक्तियों की अपेक्षा रखती हैं, जैसे दृष्टि सूर्य की, रसना जल की इत्यादि। इस संबंध को अधि दैव कहते हैं। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय का पृथक २ अधिदेवता है। उनके नाम ये हैं अहंकार का रुद्र, चित्त का क्षेत्रज्ञ, बुद्धि का ब्रह्मा, मन का चन्द्रमा, श्रवण का आकाश, स्पर्श का वायु, दृष्टि का सूर्य, रसनेन्द्रिय का वरुण, गन्ध का पृथिवी, वाणी का सरस्वती, हाथों का इन्द्र, पैरों का सर्वाधार विष्णु, मैथुन का प्रजापति और मल त्याग का यमराज मृत्यु। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय में उक्त देवताओं की शक्तियां कार्य करती हैं, जो उनका ब्रह्माण्ड से संबंध जोडती हैं। प्राण का सूर्य, अपान का पृथिवी, समान का आकाश, व्यान का वायु और उदान का अग्नि अधिदेव हैं। पृथिवी की आकर्षण शक्ति (gravitation) को ही अपान शक्ति कहा जाता है, उसका संबंध विष्णु और मृत्यु दोनों से है, इसलिये उसे मर्त्य लोक भी कहते हैं। कहा है— 'पृथिवि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।' ऊपर उठाने वाली शक्ति उसकी प्रति पक्षी शक्ति उदान है, उसका संबंध अग्नि से है। अग्नि की ज्वालायें ऊपर उठती हैं, वायु तप्त होकर ऊपर उठता है, इसी तरह मृत्यु के पश्चात् उदान ही जीव को कर्मानुसार अन्य लोकों को ले जाता है।

जिस प्रकार वाह्य शक्तियों का एक आधार शेष नाग माना जाता है, उसी प्रकार अभ्यन्तर शक्तियों का आधार कुण्डलिनी शक्ति मानी जाती है। परन्तु सब शक्तियों का, जिनमें शेष नाग और कुण्डलिनी रूपी आधार भी सम्मिलित हैं, उदय और अस्त पद परमात्मा ही है। इसलिये परमात्मा की अपेक्षा से सब शक्तियों के

रूप अनित्य हैं, परन्तु आधार आधेय की अपेक्षा से आधार को अचल कहते हैं। इसलिये कुण्डलिनी का प्रसुप्त रूप भी अचल समझना चाहिये। कुछ लोगों की धारणा है कि कुण्डलिनी जागकर सब सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। परन्तु यह धारणा गलत है, वह अपने आधार स्थान पर स्थिर स्थिति में नित्य रहकर भी सुषुम्ना में शक्ति का संचार करती रहती है। और सुषुम्ना में भी स्वाधिष्ठान चक्र पर जागृत अवस्था में नित्य रहती है, जैसे के चक्र के नाम से स्पष्ट है, परन्तु इस चक्र पर उसका रूप पिण्डात्मक होता है। कहा है

> पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
> रूपं विन्दुरितिख्यातं रूपातीतस्तु चिन्मयः॥

अर्थः— कुण्डलिनी, हंस, विन्दु, और चिति शक्ति सब एक ही शक्ति के रूप हैं। पिण्ड रूपा कुण्डलिनी, त्राण पद* स्वरूपा हंस, रूपात्मिका विन्दु और रूपातीता चिति शक्ति है।

प्रसुप्त कुण्डलिनी का स्थान आधार चक्र के नीचे, और जाग्रत कुण्डलिनी का स्थान स्वाधिष्ठान में है। हंस रूपा हृदय चक्र में रहती है। विन्दु के विषय में अन्यत्र लिखा जाना है, और चिति शक्ति का स्थान सहस्रार है। विशुद्ध चक्र में शक्ति का विशुद्ध स्वरूप रहता है। यद्यपि इन केन्द्रों पर जगाने के पश्चात् शक्ति सदा रहती है परन्तु उनके विकास की तारतम्यता में अन्तर होता रहता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ग्रंथियां तीन हैं—ब्रह्मग्रंथि, विष्णु-ग्रंथि और रुद्रग्रंथि। ग्रंथि गांठ को कहते हैं। दो भिन्न वस्तुओं को जोडने या बांधने के लिये गांठ से काम लिया जाता है और प्रायः एक ही वस्तु में विकार आ जाने पर उलझनों की ग्रंथियां पड जाया करती हैं। जैसे केशों अथवा धागों में। अध्यास ग्रंथि के स्वरूप का वर्णन श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने इन शब्दों में किया है—

ग्रंथि त्रय और अध्यास

जड चेतन की ग्रंथि पड गई। जदपि मृषा छूटत कठनई ॥

अर्थात् जड प्रकृति और चेतन आत्मा की गांठ पड गई है, यद्यपि वह झूठी है, तो भी बडी कठिनता से खोली जा सकती है।

आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप निर्विकारी है और देह इंद्रियों और मनबुद्धि का संघात प्रकृति के विकार हैं, दोनों में गठबंधन होना असंभव है, परन्तु दोनों का भिन्न-भिन्न स्तरों पर ऐसा तादात्म्य दिखता है कि उनके प्रथक होने का ज्ञान अति दुर्लभ हो रहा है। जैसे देह के अभिमान से आत्मा अपने को देह के धर्मवाला समझता है। दार्शनिक परिभाषा में इस मिथ्या प्रतीति को अध्यास, विपर्य्यय ज्ञान अथवा ख्याति कहते हैं।

श्रीमच्छंकर भगवत्पाद ने अध्यास शब्द को इस प्रकार समझाया है। आत्मा अहं अथवा अस्मत् पद है, और प्रकृति युष्मत् पद है। पहिला विषयी है और दूसरा विषय दोनों प्रकाश और तमवत् विरूद्ध स्वभाव वाले हैं परन्तु दोनों एक दूसरे के भाव को

प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् चिदात्मक आत्मा विषयी में युष्मत् प्रत्यय की प्रतीति गोचर विषय और उसके धर्मों का भाव और इसके विपरीत विषय और विषय के धर्मों में विषयी का और उसके धर्मों का आभास दिखने लगता है। इस इतरेतर अध्यारोपण के मिथ्या ज्ञान को अध्यास कहते हैं। यह स्मृतिरूप होता है और पूर्व दृष्ट अर्थात् पहिले देखे हुए किसी पदार्थ के अन्यत्र अवभास द्वारा उत्पन्न हुआ करता है। पूर्व मिमांसा वाले इसे अख्याति, वैशेषिक और नैयायिक इसे अन्यथा ख्याति, शून्यवादी असत् ख्याति, बौद्ध लोग आत्म-ख्याति, सांख्यवादी सदसत् ख्याति और वेदान्तवादी उसे अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। परन्तु इस सिद्धांत में सब एक मत हैं कि यह एक वस्तु का अन्यत्र मिथ्या अवभास मात्र है। उक्त मिथ्या अवभास की निवृत्ति को और आत्म तत्व के शुद्धचेतन ब्रह्म स्वरूप ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। आत्मा में देहाध्यास अथवा देह में आत्माध्यास की निवृत्ति स्वरूप ही जडचेतन की ग्रंथि का छुडाना है, जिसका सुन्दर निरूपण श्रीगोस्वामीजी ने ज्ञान दीपक में किया है। अध्यात्माध्यास प्रकृति के तीन गुणों के योग से तीन स्तरों पर प्रतीत होता है, सत्वगुण के योग से उत्पन्न हुए अध्यास को विष्णुग्रंथि, रजोगुण के योग से उत्पन्न अध्यास को ब्रह्म ग्रंथि और तमोगुण के योग से उत्पन्न अध्यास को रुद्र ग्रंथि कहते हैं। इसलिये स्थूल देहाध्यास को रुद्रग्रंथि, इंद्रियजनित अध्यास को ब्रह्मग्रंथि और अन्तःकरण के योग से उत्पन्न अध्यास को विष्णुग्रंथि

कहते हैं। ब्रह्मग्रंथि का स्थान मूलाधार में, विष्णुग्रंथि का स्थान हृदय में और रुद्रग्रंथि का स्थान आज्ञाचक्र में समझना चाहिये। ललितासहस्रनाम में ग्रंथित्रय के स्थानों का वर्णन इस प्रकार है:—

मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रंथि विभेदिनी।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथि विभेदिनी॥ ८९
आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रंथि विभेदिनी।
सहस्राराम्बुजारूढा सुधासाराभिवर्षिणी॥ ९०

भूतजय होने पर रुद्रग्रंथि का, इंद्रिय जय होने पर ब्रह्मग्रंथि का और मनोजय होने पर विष्णुग्रंथि का वेध जानना चाहिये। भूतजय होने पर मधुमतीका भूमिका का उदय होता है और इंद्रिय एवं मनोजय होने पर मधुप्रतीका भूमिका का। इनसे पूर्व कुण्डलिनी जागरणोपरान्त रजतमोमिश्रित सत्व गुण की भूमिका का नाम प्रारम्भ कल्पिका और ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होनेपर शुद्धसत्व गुण प्रधान भूमिका का नाम मधुमती भूमिका है। देखें योगदर्शन विभूतिपाद सूत्र (५१) पर व्यास भाष्य और श्लोक १८ पृष्ठ (१३०)।

बिन्दु त्रय पंचाग्नि विद्या और ब्रह्मचर्य

संवर्ताग्नि प्रलयाग्नि को कहते हैं, उसे पाताल स्थित कालाग्नि भी कहते हैं। शंकर भगवत्पाद ने निम्न चक्रों में स्थित अग्नि को जो लयाभिमुख होकर सब तत्वों को अपने २ कारण में लीन करता है, संवर्ताग्नि कहा है। क्योंकि केवल तीन ही अग्नियों का यहां वर्णन है, अर्थात स्वाधिष्ठानस्थ संवर्त अग्नि, मणिपूरस्थ वैद्युताग्नि

और हृदय में सूर्य अग्नि । वास्तव में ५ अग्नि जानना चाहिये । इस विषय पर योग शिखोपनिषत् में पांच ही अग्नियों का ध्यान बताया गया है । वह इस प्रकार है:—

स्थूलं सूक्ष्मं परंचेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ।
स्थूलं शुक्रात्मकं विन्दुः सूक्ष्मं पंचाग्निरूपकम् ॥ (५,२८)
सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदासाक्षी सदाच्युतः ॥

अर्थः— ब्रह्म का शरीर त्रिविध है — स्थूल, सूक्ष्म और पर । शुक्र (वीर्य) स्थूल रूप है, पञ्चाग्नि सूक्ष्म रूप है और सोम पर रूप है, जो अच्युत सदा साक्षी है । स्थूल विन्दु से पंचाग्नि का संबंध प्रथम ग्रंथि है; पंचाग्नि से पर विन्दु का संबंध दूसरी ग्रंथि है और पर विन्दु से आत्मा का संबंध तीसरी ग्रंथि है । आगे पंचाग्नियों का वर्णन करते हैं:—

पातालानामधो भागे कालाग्निर्यः प्रतिष्ठितः ॥ (५,२९)
मूलाग्निः शरीरेऽग्निर्यस्मान्नादः प्रजायते ।
वडवाग्नि शरीरस्थो स्वाधिष्ठाने प्रवर्तते ॥ (५,३०)
काष्ठपाषाणयोर्वन्हिर्ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते ।
काष्ठपाषाणजो वन्हिः पर्थिवो ग्रहणंगतः ॥ (५,३१)
अन्तरिक्षगतो वन्हिर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः ।
नभःस्थः सूर्य रूपोऽग्नि नाभिमण्डलमाश्रितः ॥ (५,३२)
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः ।
तालु मूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः (५,३३)

भ्रूमध्य निलयो विन्दुः शुद्ध स्फटिक संनिभः।
महा विष्णोश्च देवस्य तत्सूक्ष्मं रूपमुच्यते ॥ (५. ३४)
एतत्पंचाग्निरूपं यो भावयेद्बुद्धिमान् धियः।
तेन भुक्तंच पीतंच हुतमेव न संशयः ॥ (५. ३५)

अर्थः— पातालों के अधोभाग में जो कालाग्नि रहता है, वह शरीर में मूलाधार का अग्नि है, जिससे नाद उत्पन्न होता है। स्वाधिष्ठान में वडवाग्नि रहता है। काष्ठ पाषाण का जो अग्नि है वह अस्थियों में रहता है, उसे पर्थिव अग्नि कहते हैं। अन्तरिक्ष में जाकर अर्थात् मणिपूर में वह ही स्वान्तरात्मा स्वरूप विद्युत् अग्नि है। आकाशस्थ अग्नि सूर्य है वह नाभि (सूर्य) मण्डल में आश्रित है। यह सूर्य विष की वर्षा करता रहता है परन्तु उन्मुख होकर अमृत का स्राव करता है। विन्दु भ्रूमध्य में लीन होकर शुद्ध स्फटिक सदृश हो जाता है, जो महा विष्णु देव का सूक्ष्म रूप कहलाता है। इस प्रकार पंचाग्नि का जो बुद्धिमान ध्यान करता है, उसका खाया-पीया हुआ आहुति के तुल्य है, इसमें सन्देह नहीं।

छान्दोग्य उपनिषद् के पांचवें अध्याय के खण्ड ३ से नवम खण्ड तक जिस पंचाग्नि विद्या का वर्णन मिलता है, उसीका यहां लय क्रम बताया गया है। छान्दोग्य कथित पंचाग्नि विद्या की गाथा इस प्रकार है। अरुणि के पुत्र श्वेतकेतु से पांचाल देश के राजा प्रवाहण जैबलि ने ५ प्रश्न किये, परन्तु वह एक का भी उत्तर न दे सका, तब उसने अपने पिता से पूछा, परन्तु वह भी नहीं जानता था। इसलिये अरुणि अपने पुत्र को साथ लेकर राजा के

पास गया और उससे इन प्रश्नों का उत्तर जानने की जिज्ञासा की। राजा ने कहा यह पंचाग्नि विद्या कहलाती है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं:–क्या तुम जानते हो कि सब जीव मरकर यहां से जाते हैं, क्या तुम जानते हो कि फिर यहां लौटकर आते हैं, क्या पितृयान और देवयान दोनों मार्गों को जानते हो, क्या जानते हो कि क्यों यह लोक कभी नहीं भरता, अर्थात् इस अवागमन का चक्र कभी बन्द क्यों नहीं होता, और क्या यह भी जानते हो कि पांचवीं आहुति में जल से यह देह कैसे बनता है? इन प्रश्नों को पूछने का राजा का अभिप्राय स्पष्ट है कि जो मनुष्य प्रभव क्रम को जानता है, वह ही आवागमन से छूटने के लिये देवयान मार्ग का द्वार खोलते समय, इसका प्रतिकार स्वरूप प्रति प्रसव क्रम भी जानने का यत्न करेगा, नहीं तो आवागमन का चक्र कभी बन्द नहीं होता।

राजा ने जो प्रभव क्रम बताया वह इस प्रकार है:—

(१) द्युलोक प्रथम अग्नि है, जिसमें सूर्य रूपी ईंधन जल रहा है, उसमें देवता श्रद्धा की आहुति देते हैं, और उससे सोम उत्पन्न होता है।

(२) पर्जन्य दूसरी अग्नि है, उसमें सोम की आहुति दी जाती है और वर्षा उत्पन्न होती है।

(३) पृथिवी तीसरी अग्नि है, उसमें वर्षा की आहुति दी जाती है और अन्न उत्पन्न होता है।

(४) मनुष्य का देह चौथी अग्नि है, उसमें अन्न की आहुति दी जाती है और शुक्र उत्पन्न होता है।

(५) स्त्री का गर्भ पांचवीं अग्नि है, उसमें शुक्र की आहुति दी जाती है और बालक का देह उत्पन्न होता है।

जो मनुष्य इस क्रम को उलटना चाहते हैं, उनको ब्रह्मचर्यव्रत अर्थात् ऊर्द्ध्व रेता रहने का व्रत धारण करके तप करना चाहिये। तब देवयान का मार्ग खुलता है।

बहिर्मुख शुक्र संतानोत्पादक होने से सृष्टिक्रमाभिमुख रहता है, परन्तु ऊर्द्ध्व होकर अभ्यन्तर पंचाग्नियों द्वारा उत्तरोत्तर सूक्ष्म होकर भ्रूमध्य में सोमात्मक परविन्दु के रूप में लौट जाता है। मूलाधार से शक्ति का उत्थान होना प्रथम अभ्यन्तर अग्नि है, जिसके योग से शुक्र की ऊर्द्ध्वगति होती है, फिर वह स्वाधिष्ठान की अग्नि से सूक्ष्म होकर सब अस्थियों में पृथिवीतत्व का वेध करता है और मांस एवं रुधिर में भी जल का वेध करके मणिपूर चक्र में विद्युत्-रूप अधिक सूक्ष्म होकर सूर्य को उन्मुख करता हुआ चन्द्र मण्डल में पहुंच कर सोम में परिणत हो जाता है। प्रसव क्रम में सोम ही शुक्र के रूप में परिणत हुआ था, प्रतिप्रसव क्रम में वह फिर अपने पूर्व रूप में आ जाता है। श्रद्धा के सकाम होने से सोम प्रसवा-भिमुख होता है और उस ही श्रद्धा के निष्काम होने पर वह अपने कारण हैरण्यगर्भ रूपी समष्टि प्राण में लीन हो जाता है। समष्टि प्राण स्वयं ब्रह्म की किरण ही है। कहा है

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवी इत्यादि। (प्र० ६, ४)

अर्थः—उसने प्राण की सृष्टि की, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इत्यादि। उक्त प्रतिप्रसव क्रम षड्चक्र बेध का विषय है।

इस संबंध में यह बात भी जानने योग्य है कि विशुद्धचक्र की डाकिनी शक्ति का संबंध त्वचा से, अनाहत् की राकिनी शक्ति का रुधिर से, मणिपूर की लाकिनी शक्ति का मांस से, स्वाधिष्ठान की काकिनी शक्ति का मेदा से, मूलाधार की साकिनी शक्ति का अस्थि से, आज्ञा की हाकिनी शक्ति का मज्जा से और सहस्रार की याकिनी शक्ति का संबंध शुक्र से है। देखें ललिता सहस्रनाम श्लोक (१४९—१६१)

पृथिवी के गर्भ रूपी पातालों में जो अग्नि है, वह अग्नि का एक रूप है, दूसरा रूप भूतल पर काष्टपाषाणादि में है, जल में रहने वाला तीसरा रूप है, विद्युत् अग्नि का चौथा रूप है और सूर्य में अग्नि का पांचवा रूप है। उष्णता, प्रकाश और प्राणशक्ति तीनों का सूर्य के ताप में युगपद् समावेश रहता है। चन्द्रमा सूर्य के ताप को स्वयं पी लेता है और शीतल प्रकाश एवं सोम के रूप में प्राणशक्ति को अपनी चंद्रिका के साथ पृथिवी पर भेजा करता है। प्राण ही जीवन शक्ति है, जिसको चेतन शक्ति भी कहते हैं। प्राणमय कोष की प्राण अपानादि ५ वृत्तियां चेतन शक्ति की स्थूल क्रियायें हैं। चिति स्वरूप प्राण ही उपरोक्त श्रुति में ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला सोम कहा गया है अग्नि के ऊपरोक्त पांचों रूप अधिभौतिक स्तर पर बताये गये हैं, वे परस्पर में संबंधित हैं और एक अग्नि के ही रूपान्तर हैं और उन

का चन्द्रमा से भी संबंध है। अब आध्यात्म रूप समझाते हैं। जैसे पृथिवी के गर्भ में सात पाताल माने जाते हैं, वैसे ही देह के अधो-भाग में चरणों का तलभाग, ऊपर का भाग, गुल्फ, जंघा, जानु, उरु और नितंब सात पाताल समझे जाते हैं इनमें फैली हुई नाडियां मणिपूर चक्र से निकलती हैं, इनके द्वारा जो अग्नि इन अंगों को तप्त रखता है वह पातालाग्नि है। उसका स्थान मूलाधार तक है। वह ही अग्नि ऊपर के भाग में हड्डियों में व्याप्त है उसे पार्थिव अग्नि कहा गया है। आस्थि, मज्जा और शुक्र में भी यह ही पार्थिव अग्नि कार्य करता है। शुक्र में भी दो शक्तियां कार्य करती हैं, मज्जा से बनने के कारण उसमें एक प्रजनन शक्ति वाला भाग है; दूसरा प्राण शक्ति वाला भाग। प्रजनन के लिये प्राण शक्ति आवश्यक नहीं होती, इसलिये प्रश्नो पनिषद् में कहा है कि रात्रि में रतिक्रिया के रमण करने वालों की प्राण शक्ति का ह्रास नहीं होता, और वह ब्रह्मचारी के ही तुल्य हैं, परन्तु दिन में रमण करने वालों के प्राण भी नष्ट होते हैं, इसलिये दिन को रतिक्रिया का निषेध है।

प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्यासंयुज्यन्ते,
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्यासंयुज्यन्ते।

(प्र० १, १३)

प्रजनन द्रव्य में सातों धातुओं का बीज है, वह भाग ऊर्द्ध्व होकर अन्नमय कोष को पुष्ट करेगा, और दूसरा प्राण वाला भाग प्राणमय को पुष्ट करेगा। और इस स्तर पर दोनों का पृथक्करण होने से अन्नमय कोप से प्राणमय कोष का पृथक्करण

होगा। शुक्र में दोनों कोषों की बीजरूप से ग्रंथि रहती है, उसके टूटने से दोनों कोषों की गांठ खुल जायगी। इसलिये कामवासना की वृद्धि से यह ग्रंथि दृढ होती है और ब्रह्मचर्य अर्थात् उर्द्ध्वरेता होने से यह ग्रंथि शिथिल होती है। प्रजनन शक्ति वाले द्रव्य से प्राण शक्ति का पृथक्करण होने पर वह विद्युताग्नि, सूर्याग्नि-क्रम से सोम में परिणत हो जायगी। प्राण का सोम से पृथक्कर दूसरी ग्रंथि का और सोम का आत्मत्व में लयकरण तीसरी ग्रंथि का बंध है।

दूसरा प्रजनन शक्तियुक्त द्रव्य जो रुधिर के और अण्डकोषों के रस के योग से बनता है वह भी प्राण शक्तियुक्त होता है, परन्तु वहां दोनों का वीर्य में एकीकरण रहता है। स्वाधिष्ठान में जल और अग्नि का संधि स्थान है, इसलिये जलस्थ अग्नि को बडवाग्नि नाम दिया गया है। समुद्र में रहने वाले अग्नि को वडवानल कहते हैं। मणिपूर में सौदामिनी स्वरूपा विद्युत् अग्नि है, जिसको अन्न को पचाने वाला वैश्वानर अग्नि भी कहते हैं, उसको समान वायु भी कहते हैं और उसे ही स्वान्तरात्मा कहा गया है।

जब कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है, तब उसे मूलाग्नि का प्रज्वलन समझना चाहिये। जिसकी क्रिया नीचे पैरों में और ऊपर हड्डियों में होती है, और साथ ही जल में भी। अर्थात् मांस, रुधिर मेदा, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र सातों धातुएं संतप्त हो जाती हैं। इनके क्षुब्ध अथवा मथन होने से शुक्र (वीर्य) की आहुति मूलाधार में पडती है। वह बहिर्मुख होकर जब स्त्री के गर्भाशय में पोषण पाता है तो एक नये शरीर की रचना करता है, परन्तु जब अन्तर्मुखी होकर उसकी मूलाग्नि में आहुति दी जाती है

तो वह ऊर्द्ध्व मुख होकर सूक्ष्म स्तरों पर चढ़ने लगता है। जिसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। उन सूक्ष्म स्तरों पर चढ़ने की क्रिया को अन्तः पंचाग्नि याग कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद में प्राकृतिक बाह्य पंचाग्नियाग का वर्णन है, योग शिखोपनिषद् में लयाभिमुख अन्तर्याग का संकेत है।

जैसे सूर्य का ताप वायु मण्डल के भूमि के निकटस्थ निम्न स्तरों को ही संतप्त कर सकता है, ऊपर के पर्वत शिखरों के स्तर को नहीं तपा सकता. जिसका कारण यह है कि निम्न स्तरों की वायु भूमि की उष्णता से अथवा समुद्र के जल की उष्णता से तप्त होकर उष्ण हो जाती है, परन्तु ऊपर के स्तरों की तरल वायु उतनी तप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब सूर्य अधोमुख होता है तो देह की सब धातुओं को संतप्त कर देता है, और उसको विष बरसाने वाला कहा जाता है। परन्तु जब वह उर्द्ध्व मुख होता है तब सुषुम्ना पथ के सूक्ष्म स्तरों पर चमकने लगता है, और उसकी देह को संतप्त करने वाली शक्ति ऊर्द्ध्व गामिनी हो जाती है, जिससे ऊपर के भ्रूमध्यस्थ चन्द्र मण्डल पर प्रकाश पडने लगता है। उस प्रकाश को सोम कहते हैं। चन्द्रमा का नाम सोम भी है। और मध्य के विशुद्ध चक्र पर विशुद्ध सोम का ही प्रकाश चमकने लगता है।

वास्तव में अग्नि, विद्युत् और सूर्य तीनों एक ब्रह्म तेज से ही प्रकाशमान है। इसीप्रकार पांचों अग्नियां एक चिति शक्ति से प्रकाशमान समझनी चाहियें, और चितिं शक्ति का स्थान आज्ञा

चक्र के ऊपर है, और सोम ही उसका शुद्ध स्वरूप है, इसलिये उसे पर विन्दु अथवा ब्रह्म का पर रूप कहते हैं।

श्रद्धा का ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध

जिन साधकों की कुण्डलिनी शक्ति का जागरण नहीं हुआ है, परन्तु ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उनको अपनी श्रद्धा पर संयम करना अत्यावश्यक है। क्योंकि जब तक काम वासना का वेग कार्य करता रहता है, शुक्र अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। काम वासना भी स्त्रीसंग की ओर प्रेरणा करने वाली एक प्रकार की राजसी श्रद्धा का ही रूप है। जब सात्विक श्रद्धा का उदय होता है और देव बुद्धि अथवा पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है, तब तुरन्त काम वासना शान्त हो जाया करती है। श्रद्धा ही वहिर्मुखी होकर सृष्टि का कारण बन जाती है जैसा ऊपर पंचाग्नि विद्या में कहा गया है और अन्तर्मुखी रहने पर श्रद्धा ही मोक्ष का साधन होती है। इसलिये श्रद्धा को सात्विक रखने पर स्थूल विन्दु की ऊर्द्ध्व गति संभव है, अन्यथा नहीं। देवता उसकी आहुति सृष्टि के हेतु वहिर्यागार्थ निम्न स्तरों पर देते हैं और मुमुक्षु आत्मचिन्तन रूपी अन्तर्याग द्वारा उसको उलट क्रम का अनुष्ठान करता है।

गुरु शिष्य का संबंध भी श्रद्धा के सूत्र से बंधा होता है। इसलिये गुरु शिष्य के संबंध पर भी कुछ विचार प्रकट कर के हम यहां विषयान्तर के दोष को पाठकों के लाभार्थ ग्रहण करते हैं।

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध और श्रद्धा।

गुरु और शिष्य में जो संबंध होता है, उसका सूत्र एक मात्र शिष्य की गुरु के प्रति श्रद्धा ही है। यदि शिष्य की श्रद्धा शिथिल

हो जाय, तो वह संबंध भी शिथिल हो जाता है। यह संबंध वास्तव में एक-पक्षी ही है, उभय-पक्षी नहीं। क्योंकि गुरु की शिष्य के प्रति श्रद्धा की भावना का होना संभव नहीं, श्रद्धा सदा अपने से बड़ों के प्रति ही हुआ करती है। परन्तु श्रद्धा की प्रतिक्रिया भी प्रेम के रूप में प्रकट हुआ करती है, जिससे शिष्य को गुरु की विद्या फलीभूत होती है। शिष्य गुरु की शरण में श्रद्धा की प्रेरणा से प्रेरित होकर जाता है, कि उसको वहां से उसकी जिज्ञास्य विद्या की उपलब्धि होगी। और आध्यात्म पथ का पथिक गुरु से भौतिक स्तर पर उस प्रकाश की जिज्ञासा रखता है जो उसे तीनों तापों से मुक्त करदे। इसलिये वह ज्ञानी गुरु की खोज करता है परोक्षज्ञानी की नहीं, वरन् अनुभवी तत्व ज्ञानी की। श्री भगवान ने भी ऐसे ही ज्ञानी गुरु की शरण में जाने का आदेश किया है:— यथा,

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥ गीता॥

ज्ञानी गुरु योगी तो होना ही चाहिये, क्योंकि बिना योग संसिद्धि के ज्ञान नहीं होता, श्री भगवान् स्वयं कहते हैं कि:—

> 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति। गीता।

परन्तु योग से भोग और भोगों से रोग भी होते हैं, यह देखने में आता है। इसलिये यदि गुरु में योग के साथ-साथ भोग भी हों तो हर्ष की बात है, क्योंकि योगी के पास भोगों की समृद्धि उसकी सिद्धियों का परिचय देती है। परन्तु भोगों के साथ रोग भी गुरु की

सेवा में आ उपस्थित हों और रोगों के निवारणार्थ गुरु घबरा कर साधारण डाक्टरों वैद्यों का आश्रय ढूंढता फिरे, तो उसके योग को बट्टा लग जाने की आशंका है। और उससे शिष्य की श्रद्धा में भी ठेस लगने की संभावना है।

भोग और रोग दोनों पूर्वार्जित् प्रारब्ध कर्मों का भी फल हो सकते हैं, जिनका योग की सिद्धि से कोई संबंध नहीं होता, परन्तु एक योगी और ज्ञानी महापुरुष से यह भी आशा की जाती है कि वह वीतराग होने के कारण भोगों में फंसेगा नहीं, और योगज और प्रारब्धज दोनों प्रकार के भोगों को पास नहीं पठकने देगा, यदि उनसे रोग उत्पन्न होते दिखते हैं, और यदि प्रारब्धवश रोगों का आक्रमण भी हो, तो अपने योग बल से उनको परास्त करता हुआ उन्हें वह सहन करेगा, न कि साधारण मनुष्य के सदृश भोगासक्ति का कुपथ्य करके उनका पोषण करेगा।

यदि किसी गुरु को भोगासक्त और रोगाक्रांत देखा जाय, तो स्वभावतः शिष्य की श्रद्धा भंग हो जाने में आश्चर्य नहीं। परन्तु उसका दुष्परिणाम शिष्य के लिये उसके सर्व-नाश का कारण बन जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषत् की ब्रह्मानन्दवल्ली के चतुर्थ अनुवाक् में श्रद्धा को विज्ञानात्मा का शिर बताया गया है, और योग को उसकी आत्मा। विज्ञानात्मा के ऋत् और सत्य दोनों पक्ष हैं और महत् उसकी प्रतिष्ठा पुच्छ है। शिर के कट जाने पर आत्मा शरीर को छोड देती है, और शिर के विकार से दोनों हाथ निकम्मे अर्थात्

पक्षाघात के रोगी हो जाते हैं, और प्रतिष्ठा भी नहीं रहती। अर्थात् श्रद्धा की कमी होते ही उससे योग, सत्य और ऋत तीनों विदा होने लगते हैं और महत् का सहारा छूट जाता है। महत् से आनंदमय सगुण ब्रह्म का ही यहां अभिप्राय है, क्योंकि साधक की प्रतिष्ठा उसी के आधार पर होती है, न कि लोक प्रतिष्ठा पर। विज्ञानमय कोष का आधार आनन्दमय आत्मा ही है, उसे स्वयं परमात्मा का प्रतीक समझना चाहिये।

जब विज्ञानात्मा ही न रहा, तो मनोमय, प्राणमय और अन्नमय आत्मा की क्या दशा होगी यह पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं।

मणिपूर चक्र

(४०)

तडित्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया
स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम् ।
तव श्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥

शब्द: कमपि=जलको भी, हर=अग्नि ।

अर्थः—तेरे मणिपूर की शरण में गये हुए श्याम मेघों के रूप धारण करने वाले के जल की भी सेवा करता हूं, जिन में अंधकार की परिपंथिनी अर्थात् प्रतिद्वंद्विनी बिजली की चमक आभरणों में जटित नाना रत्नों की चमक सदृश इन्द्रधनुष का

रूप धारण किये हुए हैं, और जो अग्नि और सूर्य के ताप से संतप्त त्रिभुवन पर वर्षा कर रहे हैं।

मणिपूर चक्र में मेघेश्वर और सौदामिनी के रूप में शिव शक्ति का ध्यान बताया गया है। सूर्य का स्थान ऊपर सूर्य मण्डल में और अग्नि का स्थान नीचे स्वाधिष्ठान चक्रस्थ अग्नि मण्डल मे होने के कारण, दोनों के ताप से सारा देहरूपी तीन खण्डों का त्रिभुवन तप्त होने पर जल बाष्प रूप से मणिपूर चक्र मे मेघों का रूप धारण कर लेता है और मेघों मे अग्नि विद्युताकार चमकने लगती है। जिन को मेघेश्वर और सौदामिनी कहते हैं, और दोनों के योग से वर्षावत सारे शरीर मे रस का सिंचाव होने लगता है।

मूलाधार

(४१)

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
शिवा (नवा) त्मान मन्ये नवरस महाताण्डवनटम् ।
उभाभ्यामेताभ्यामुद(भ)य विधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनक जननीमज्जगदिदम् ॥

अर्थः— तेरे मूलाधार में लास्यपरा अर्थात् नृत्य करती हुई समया देवी के साथ, नवधा रसपूर्ण ताण्डव नृत्य करने वाले नटेश्वर नवात्मा-शिवजी का मैं चिन्तन करता हूं। यह जगत् इन दोनों की जनक जननीवत् दया से प्रभवाभिमुख होने के कारण अपने को सनाथ मानता है।

समया देवी से समयाचार की उपास्य देवी निर्दिष्ट है, लास्य भगवती के नृत्य का नाम है और ताण्डव शंकर के नृत्य का नाम है। नवरस युक्त ताण्डव नृत्य को महा ताण्डव कहते हैं। नौ रस ये हैं— १. श्रृंगार, २. विभत्स, ३. रौद्र, ४. अद्भुत, ५. भयानक ६. वीर, ७. हास्य, ८. करुणा, ९. शान्त। ये नौरस साहित्य, कविता, नृत्य और गान विद्या के अंग हैं। नवात्मा शिवजी को कहते हैं, जिसकी व्याख्या ऊपर श्लोक ३४ के नीचे दी जा चुकी है।

आधार चक्र में प्राण के निरोध होने पर योगी नृत्य करने लगता है, कहा है

> आधार वात रोधेन शरीरं कम्पते यदा,
> आधारवात रोधेन योगी नृत्यति सर्वदा ॥ यो. शि. ६ २८)
> आधारवात रोधेन विश्वं तत्रैव दृश्यते।
> सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्व देवताः
> आधारे सर्ववेदाश्चतस्मादाधारमाश्रयेत् ॥ (६, २९.)

अर्थः— आधार चक्र में जब प्राण शक्ति का निरोध होता है, तब शरीर कांपने लगता है योगी नृत्य करने लगता है, और वहां ही विश्व दिखने लगता है। आधार चक्र में जो सृष्टि का आधार है, सब देवता, सब वेद रहते हैं। इसलिये आधार चक्र का आश्रय लेना चाहिये।

समया देवी का नाम मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के ध्यान में मिलता है, अन्य चक्रों के ध्यान में नहीं, इससे यह प्रतीत

होता है कि शंकर भगवत्पाद ने इन दोनों चक्रों में विशेष रूप से समयाचार की ओर लक्ष्य कराया है, क्योंकि उनका ध्यान कौल मत वालों को ही अभिष्ट है। समयाचार वालों को ऊपर के चक्रों पर विशेष ध्यान देना चाहिये, मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों पर नहीं। इसका कारण हम अन्यत्र भी कह आये हैं। देखें श्लोक ९। स्वाधिष्ठान चक्र के वेध से वीर्यपात इत्यादि की क्रियायें होने की सम्भावना है, और ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के साधकों का उन क्रियाओं से पतन होने की आशंका है, इसलिये वेध क्रम को भी इसी प्रकार बताया गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र को नहीं छोडा जाता। यह स्मरण रहे कि ऊपर के अनाहत् अथवा आज्ञा चक्र का पूर्ण वेध होने पर नीचे के चक्रों का भी वेध स्वयं हो जाता है। इसलिये काम वासना की दीप्ति से रक्षा करने के लिये अनाहत् चक्र और आज्ञा चक्रों का अथवा नादानु-सन्धान का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। हृदय चक्र में दहर विद्या, आज्ञा चक्र में शांभवी विद्या और नाद श्रवण तीनों के साधन शुद्ध और ऊंचे हैं। एक शांभवी मुद्रा के साधन से ऊर्द्ध्वरेतस् की सिद्धि के साथ २ खेचरत्व की सिद्धि हो जाती है। फिर बज्रौली क्रिया की झंझट वृथा मोल लेकर पथभ्रष्ट होने की संभावना का क्यों आवा-हन किया जाय।

पृथिवी तत्व की ६४ किरणें आधी २ ताण्डवनटेश्वर और लास्य परा समया देवी से उद्भूत समझनी चाहियें।

शिव ताण्डव

हिरण्यमयेनपात्रेण सत्यस्याधिहितंमुखम् ।
तत्त्वंपूषन्नप वृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। (यजुर्वेद)

वेद कहते हैं कि सत्य का मुख सुवर्ण के पात्र से ढका हुआ है, मानो सत्य की देवी ने सुनहरी घूंघट से अपना सुंदर बदन छुपा लिया है, अथवा उसकी सुनहरी अलकें ही मुख पर आ पडी हैं जो घूंघट का काम कर रही हैं। यदि कहें कि सूर्य अपनी ही किरणों में स्वयं छुप गया है तो अधिक ठीक है। यह उपमा आत्मदेव के लिए दी गई है। अध्यात्म-सूर्य जो सत्य है, अपनी माया के सुनहरी पडदे में स्वयं अंतर्हित हो रहा है। कोई-कोई दार्शनिक विद्वान माया की अन्धकार से तुलना करते हैं, परन्तु माया का अर्थ सुवर्णमय विस्तार भी तो किया जाता है। क्या यह दूसरा अर्थ सुंदर नहीं है? सुवर्ण किसको प्रिय नही लगता? सुवर्ण में तो एक कांति चमकती है, अंधकार में कांति कहां? इसलिये हम तो यह ही समझते हैं कि माया का पडदा अथवा घूंघट हिरण्यमय ही ठीक बखाना गया है, जिसके आकर्षण में पडकर जीव अनादिकाल से मर-मर कर भी उसका पीछा नहीं छोड रहा। आधुनिक युग का भौतिक विज्ञान तो इस सुनहरी घूंघट के सौंदर्य से संतुष्ट नहीं होता, उसने उस पर हजारों रहस्यमय तारे लगा दिये हैं, मानों प्रकृति के विद्युत्कण(electrons)अनंत संख्या में चमक रहे हैं। यद्यपि भौतिक विज्ञानियों की दृष्टि पडदे के पीछे छुपे हुये सत्य के मौलिक सौंदर्य तक नहीं जाती, तो भी वह अपने मनोरंजन में व्यस्त हैं। इसमें

किसी का क्या दोष है? हिरण्यमय घूंघट की ही शोभा इतना आकर्षण रखती है, कि उसे स्वयं आत्मदेव ने ही ओढ लिया है। अपना मुख छुपाने की दृष्टि से नहीं, परन्तु इसमें उसका अपने सौंदर्य का विकास करने का ही मुख्य उदेश्य जान पडता है। शायद शून्यवादी इस रहस्य से परिचित नहीं है, उसका तो विश्वास यह जान पडता है कि घूंघट के पीछे कोई तत्त्व नहीं, केवल शून्य पर ही पडदा पडा हुआ है, वास्तव में जांच तो उसकी किसी हद्द तक ठीक ही सी जान पडती है, परन्तु क्या शून्य का ही नाम सत्य है? वेद मिथ्या क्यों बहकाने लगे। इसी धारणा से शायद बुड्ढे भारत के कतिपय पागल जिज्ञासु उस शून्य में ही मौलिक सत्य की खोज के लिये कटिबद्ध रहते हैं। जिसका घूंघट, जो उसी की किरणों की प्रभा की जाली से बना हुआ है, इतना सुंदर है, तो उस सत्य के मुख की शोभा कितनी उंची होना चाहिये। पाठकगण! वह अनु-मान का विषय नहीं है, परन्तु कोई-कोई सत्य के अन्वेषक साक्षि देते हैं कि वह अवश्य दर्शनीय है। इसलिये इन भौतिकवादियों की बातों में नहीं आना, उसे शून्य मत समझो, वह शून्य नहीं है, वरन् पूर्ण है, सुंदर है, स्वयं ज्योति स्वरूप है, सत्य है, अनंत ज्ञान निधि है, और आनंद का खजाना है। वह पडदे में है दिखता नहीं तो यह नहीं समझना चाहिये कि उसका अस्तित्व ही नहीं। ठीक बात तो यह ही है कि सूर्य अपनी किरणों में छुपा होने के कारण नहीं दिखाई दे रहा, बस यह बात बीसों बिसवे सत्य समझो! उक्त हिरण्यमय पडदे को ही गायत्री मंत्र 'भर्गो देवस्य' कहकर ध्यान करने का उपदेश करता है। तेज के ध्यान द्वारा तेजस्वी का ध्यान होता है, और शक्ति का ध्यान करने से शक्ति मान का ध्यान होता

है। यहां पर तो सत्य ब्रह्म का भर्गस् (तेज) और उसकी शक्ति एक ही जान पडती है। सारा जगत्‌पिण्ड और ब्रह्मांड उसी की परिणति मात्र है। शक्तिमान अपनी शक्ति के रूप में व्यक्त होता है, और शक्ति की द्युति उस ही की ज्योति का प्रकाश है। अर्थात् शक्ति में वह स्वयं चमकता है अथवा यों कहें कि शक्ति स्वयं शक्तिमान का तेजोमय प्रसार है, जिसकी अभिव्यक्ति किसी स्तर पर चेतनवत् दिखती है, और किसी स्तर पर जडवत्। जडचेतन की विभाग रेखा शक्ति और तेज दोनों की भिन्नता का मिथ्या ज्ञान है। और यदि दोनों को भिन्न मानें तो दोनों का इतरेतर अध्यास रूपी एक का दूसरे के धर्मों का अपने ऊपर अध्यारोपण कर लेना भी मिथ्या ज्ञान है। क्योंकि शक्ति में परिणामी धर्म स्पष्ट है परन्तु तेज का चेतन स्वरूप धर्म अपरिणामी है। परन्तु जड शरीर में चेतन के धर्मों का अध्यारोपण होने से चेतना भी परिणामिनीसी दीख पडती है, यद्यपि वह मौलिक रूप से अपरिणामी है, केवल उसकी जड शरीर पर पडने वाली छाया परिणामीवत् प्रतीत होती है। अर्थात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के मुख को ढकने वाला हिरण्यमय पात्र तेजोमय भ्राजमान है, उस तेज में शक्ति है और शक्ति में तेज है। तेज से शक्ति में कांति है और उसकी तेजोमई प्रभा आदिमूल शक्ति की प्रत्येक स्तर की परिणति में चमक रही है। विद्युत-अणु में वह विद्युत् है और प्रत्येक विद्युत्-कण उसके तेज से परिपूर्ण है। अग्नि सूर्य सब में शक्ति है और शक्ति कहीं भी तेज से रहित नहीं। शक्ति रजोगुण और तमोगुण की विरोधी सापेक्षिक सक्रिय और क्रिया रहित परिणामों युक्त अनेक रूपों का स्वांग भरकर सर्वत्र

नृत्य कर रही है और तेज भी युग पद अपरिणामी होते हुए भी, उसके नृत्य के साथ ताण्डव करता रहता है। यह ही शिवशक्ति का अनादि जोडा है।

यह समस्त जड-चेतनमय विश्व शंकर भगवान के अविराम ताण्डव नृत्य का अभिनय है और उनके ताण्डव के अंगहार अथवा अंग विक्षेप ही मानों सत् शक्ति के परिणामक्रम के विभिन्न स्तरों पर उसकी स्वांग भरी नृत्य कलाएं हैं, जिस श्रृंगार के नवधा-रस–परिपूर्ण हाव-भावों में शंकर के चिदानंद स्वरूप का प्रत्याभास हो रहा है। इस नृत्य को आनंद ब्रह्म के उन्मेश से प्रेरणा मिलती है और प्रलयकालीन विराम भी नृत्य के परिश्रम के अनंतर विश्रामरूपी आनंद का आभोगरूपी निमेश है। शिवजी के इस आनंदोन्मेशरूपी ताण्डव को वेदों ने संवर्तन कहा है और शंकर भगवत्पाद उसको विवर्तन कहते हैं। हमको तो दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुये से दीखते हैं।

शिवजी के ताण्डव नृत्य को तालबद्ध करने के लिये उन दिगम्बर एवं चिदम्बर के पास डमरू के वाद्य के सिवाय दूसरा यंत्र नहीं ! डमरू में दो विपरीत दिशाओं से शिव-शक्त्यात्मक दोनों ही प्रकार के शब्द ताल दिया करते हैं। जिनसे सरस्वती देवी अ-क--च-ट-त-प-यशों के वर्ण-वर्गों की वर्ण-माला की शिक्षा ग्रहण करके समस्त वैखरी वाणी की सृष्टि करती है। मानों शिवजी के डमरू की सहायता से ही वह वाक्शक्ति बोलना सीखती है और उसका अभ्यास अपनी वीणातंत्री पर किया करती है। अर्थात ताण्डव की तालों से निकलने वाली शिव-शक्त्यात्मक ध्वनि ही शंकर का

डमरू वाद्य है, जिसको उनके चिदाकाशरूपी देह की स्पन्द-ध्वनि का वाचिक-व्यंजक अभिनय कह सकते हैं।

शिव तांडव का साक्षात् प्रत्यक्षी-करण तारों की टिमटिमाहट-रूपी डिमडिम में, ग्रहों के नृत्य में, सूर्य के नेत्रोल्हास में, पृथ्वी के षड्ऋतुओं के श्रृंगारयुक्त नाट्य में, चन्द्रमा की कलाओं में, विद्युत् की क्रीडा में, वसंत की मंद सुगंधित वायु के झकोरों में, पुष्पों के हास्य में, समुद्र की तरंगों में, हिमपात के हिमकणों के नर्तन में, आंधी तूफानों की द्रुत गति में, नदियों के कल-कल निनाद में, पर्वतों के श्रृंगार में, शस्य-श्यामा भूतल के आंचल के हिलोरों में, पशुपक्षियों की अटखेलियों में और मनुष्य की मस्तीभरी चालों में, कहां नहीं? सर्वत्र किया जा सकता है!

यह सब विराट्विश्व सृष्टि-प्रसार का निम्नतम स्तर रूपी मूलाधार है, जिसमें भगवती के इस लास्य नृत्य और शंकर के तांडव को युगपद् देखने वाले उपासक जीवन मुक्ति का आनंद लेते हैं। जो मूढ अपने तुच्छ स्वार्थों के अंधकार वश इसका साक्षात्कार नहीं कर पाते और मिथ्या अज्ञान वश शोक-मोह के कूपों में पड़े रोते हैं वे वास्तव में दया के पात्र हैं।

सौन्दर्य लहरी (उत्तरार्द्ध)

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः ।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणतास्म ताम् ॥

सौन्दर्य लहरी को दो भागों में विभक्त किया जाता है। प्रथम भाग जिसमें ४१ श्लोक हैं, आनन्द लहरी के नाम से विख्यात है। यह नाम श्लोक ८ में स्पष्ट रूप से मिलता है और २१ वें श्लोक में भी परमाह्लाद लहरी पद का प्रयोग तदर्थ वाचक है। इस भाग में शंकर भगवत्पाद ने पिंडस्थ शक्ति और तत्संबंधी श्री चक्र, श्री विद्या, षट् चक्र वेध और उनका मातृकाओं के द्वारा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणि से, और सब के पारस्परिक संबंधों पर प्रकाश डाला है, जिसका उद्देश्य कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा अद्वैत सिद्धान्त के जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान की अपरोक्षानुभूति कराना मात्र है। यह पूर्व भाग पूरे ग्रंथ की आत्मा कही जा सकती है, क्योंकि सृष्टि के जड चेतन अनन्त प्रसार में मनुष्य देह ही पूर्ण समझा जाता है। यद्यपि चेतन सत्ता जड प्रकृति का कार्य प्रतीत होती है, और इस भ्रान्ति में पडकर अनेक भौतिकवादी अनात्म वाद का समर्थन करने लगते हैं, परन्तु चेतना को प्रकृति

का अन्तिम विकासस्तर कहकर चेतनकारण वाद को स्वयं सिद्ध करने में, बिना समझे सहायक बनते हैं। ब्रह्माण्ड में जो चेतन सत्ता अपरोक्ष में निहित है, वह पिंड में प्रत्यक्ष प्रकाशमान है। सूर्य चन्द्र, तारागण के अनन्त विश्व में भौतिक वादियों को जड प्रकृति का ही विस्तार दिखाई देता है, जिसके सामने आकीट पतंग, पशु, पक्षि, एवं मनुष्य में चमकने वाली चेतना के ये सब विकास स्थान अतिक्षुद्र और अणु समान हैं, तो भी समस्त चेतन जगत् का शिरोमणि मनुष्य, प्रकृति को स्वायत करने में कृत कार्य होकर चेतन सताकी महिमा को सिद्ध करता है। जो चेतन सत्ता प्राणि-मात्र में अर्ध विकसित दिख पडती है, मनुष्य देह में उसका विकास इतना अधिक है कि उसे पूर्ण विकास कहने में संकोच नहीं होता, परन्तु भारत के ऋषि महर्षियों ने यह दावा किया है कि मनुष्य देह में जो चेतन प्रकाश है वह प्रसुप्तवत् अंशविकास ही है, उसकी चरम और परम सीमा ब्रह्म भाव के जागृत होने पर मिलती है। सृष्टि की आदि कारण भूताशक्ति चिति की ही वह सत्ता है, जो एक अंश में समस्त चेतन जगत में विद्यमान है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥ गीता ॥

और प्रत्येक मनुष्य-देह प्रकृति देवी के विकास का वह पुष्प है, जिसके द्वारा पूर्णतया विकसित होने पर, वह आदि शक्ति अपनी संपूर्ण अनन्त महिमा की अभिव्यक्ति स्वरूप किरणों को सुगन्धवत् फैलाने लगती है, तथापि उसके परोक्ष अस्तित्व का परिचय ब्रम्हाण्ड का अणु २ दे रहा है। पिंड और ब्रह्मांड दोनों में उसी की व्यक्तता

है, परन्तु एक में चेतन रूप में और दूसरे में जड के रूप में। पूर्व भाग में चिति शक्ति का कीर्ति गान कर के साधक-गणों के ध्यानार्थ ब्रह्मांड रूपी विराट देह में निवास करने वाली उस अधि-देवी के सौन्दर्य का निरूपण सौन्दर्य लहरी संज्ञक उत्तर विभाग के ६२ श्लोकों में किया गया है, ४४ वें श्लोक में जैसा भगवत्पाद स्वयं कहते हैं:—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्य लहरी।

सौन्दर्य लहरी के उत्तरार्ध में विश्व को भगवती का विराट् देह मानकर, प्रकृति देवी के दिव्य देह का चित्र खेंचा गया है जो छन्द-शास्त्रोक्त आभूषणों से अलंकृत, सर्व भाव पूर्ण, नवरसों में पगी अनादि अनन्त महामाया महादेवी आदि शक्ति की झांकी दिखाने वाली, वास्तव में सौन्दर्य लहरी ही है, जिसको पढकर अनात्मवादी भी पुराण कवि भगवान शंकर के अवतार भगवत्पाद की इस वैखरी झरी के रसों का आस्वादन कर के, अपनी अनात्म देह में स्थित अधिष्ठातृ चेतना देवी की अनन्त महिमा की किंचित झांकी पाकर आत्म विश्वासी बन सकता है। हम उसको उसके अनात्म विश्वासी होने पर दोषी नहीं ठहराते, क्योंकि जिस प्रकार हम जड प्रकृति को भी जिस ब्राह्मी चिति शक्ति की एक अभि-व्यक्ति कहते हैं, उसी प्रकार वह अनात्मवादी भी तो उसी का जड-चेतन-मय एक अर्ध विकसित् स्तर है, जो समय पाकर अपनी अध्यात्म विकास यात्रा के किसी स्टेशन पर आत्मवादी हो जायगा।

श्री मच्छंकर भगवत्पाद ने भगवती उमा के सौन्दर्य का आनख शिख चित्र, एक भक्त के दृष्टिकोण से, उपासकों के ध्यान लाभार्थ

खेंचा है। १ श्लोक में किरीट, ३ श्लोकों में केश, एक में ललाट एक में भ्रू, ९ श्लोकों में नेत्र, २ में दृष्टि, १ में कपोल, १ में कर्ण एक में नासिका, १ में दान्त, १ में मुस्कराहट, १ में मुख का तांबूल, १ में बाणि, १ में चिवुक, २ में ग्रीवा और कंठ, १ में चार हाथ, १ में नखों की द्युति, ४ श्लोकों में स्तन पान द्वारा वात्सल्य स्नेह, ३ श्लोकों में नाभि, २ में कटि, १ में नितम्ब, १ में जानु, १ में पैर, ८ श्लोकों में चरण, १ में शरीर की आभा, शेष श्लोकों में प्रार्थना युक्त सामान्य रूप से सर्वांग सौन्दर्य का चित्र खेंचा गया है। अनुमान होता है, कि कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की प्रातःकालीन उषा के रूप में विराट देवी का ध्यान कराया गया है।

पंडित स. सुब्रह्मण्य शास्त्री, और टी. आर. श्रीनिवास अयंगार के अंग्रेजी में लिखित सौन्दर्य लहरी के प्रत्येक श्लोक के साथ एक-एक यंत्र दिया गया है। जिसके पूजन और उससे संबंधित श्लोक के जप सहित अनुष्ठान करने से अनेक कामनाओं की सिद्धी होती है,

हमने सकाम अनुष्ठानों की ओर ध्यान न देकर केवल एक निष्काम उपासक अथवा एक योगी की दृष्टि से यह ग्रन्थ लिखा है, क्योंकि जिस भगवती के स्तोत्र के एक २ श्लोक के अनुष्ठान द्वारा जन्म मरण की शृंखलाबद्ध कारणभूत कामनाओं की पूर्ति होती है उस स्तोत्र के सामूहिक अनुष्ठान का फल अनन्त आप्तकाम पद का देने वाला क्यों न होगा?

मुकुट का ध्यान

[४२]

गतैर्माणिक्यत्वं गगनमणिभिः सान्द्रघटितं
किरीटं ते हैमं हिमगिरिसुते कीतर्यति यः
स नीडेयच्छायाच्छुरणशबलं चन्द्रशकलं
धनुः शौनासीरं किमिति न निबध्नाति धिषणाम् ॥

कठिन शब्दों के अर्थः— सान्द्रं घटितं=घनी भूत रूप से जडे हुए. नीडे=घोंसले में. छायाच्छुरण=मणियों की द्युति की चमक. शकल=टुकडा. शौनासीरं=इन्द्र का. धिषणा=समझ, धारणा.

अर्थः— हे हिमाचल की पुत्रि ! जो मनुष्य तेरे सुवर्ण के बने हुए किरीट का वर्णन करे तो उसकी धारणा ऐसी क्यों न होगी, कि मानो इन्द्र धनुष निकला हुआ है। क्योंकि वह किरीट गगन मणियों अर्थात तारागण रूपी मणियों से घनीभूत जडा हुआ है और चन्द्रमा के टुकडे का पक्षि के घोंसले सदृश जान पडता है और जो उषः कालीन प्रकाश में रंगबरंगा चमक रहा है।

अर्थात् उषः कालीन आकाश प्रकृति देवी का किरीट है। यहां कृष्णा चतुर्दशी और अमावस्या की संधि में पडने वाले उषः काल का चित्र खेंचा गया है। कृष्णा चतुर्दशी भगवती की उपासना के लिये उपयुक्त तिथि समझी जाती है अर्थात वह भगवती का ही

रूप है और विशेषतया कार्तिक की कृष्णा चतुर्दशी ली जाय तो और भी अच्छा है, जिसको रूप चतुर्दशी भी कहते हैं, और उसके तुरन्त पश्चात् महालक्ष्मी पूजन का दीपावली पर्व होता है।

केशों का ध्यानः

[४३]

धुनोतुध्वान्तं नस्तुलित दलितेन्दीवर वनं
घनस्निग्धंश्लक्ष्णं चिकुरनिकुरुम्बं तवशिवे।
यदीयं सौरभ्यं सहजमुपलब्धुं सुमनसो
वसन्त्यस्मिन्मन्ये बलमथनवाटीविटपिनाम् ॥

ध्वान्त=अंधकार. इन्दीवर=नीलकमल. श्लक्षण=मुलायम. निकुरूम्ब=समुह. चिकुर=केश. सौरभ्यं=सुगंध. बलमथन=वलासुर का मारने वाला इन्द्र.

अर्थः— हे शिवे! तेरे गहरे चिकने मुलायम केशों का समूह जो खिले हुए इन्दीवर के बन की तुलना करता है हमारे अज्ञानान्धकार को हटावे, जिसमें गुंथे हुए इन्द्र की वाटिका के वृक्षों के पुष्प. मेरी समझ में, उसकी सुगंधि से स्वयं सहज ही सुगंधित होने के लिये वहां आबसे हैं।

प्रातःकालीन विकसित इन्दीवर बनों की शोभा और उषःकाल का प्रकाश दोनों मिलकर जैसे रात्रि के अन्धकार को भगाते हुए

में प्रतीत होते हैं। वैसे ही भगवती के केशों का ध्यान अज्ञान को दूर करने वाला है। भगवतीके केश स्वयं सुगंधित हैं, इन्द्र की वाटिका के पुष्पों को भी मानो वे ही सुगन्ध प्रदान कर रहे हैं अर्थात् पुष्पों में जो सुगन्ध होती है वह प्रकृति देवी की ही देन है। प्रायः केशभूषार्थ स्त्रियां अपने केशों में पुष्प गूंथा करती हैं, यह रिवाज मद्रास प्रान्त में अधिक प्रचलित है। भाव यह है कि स्त्रियों के केश, धारण किये हुए पुष्पों से सुगन्धित होते हैं, परन्तु भगवती के केशों की सुगन्ध से पुष्प स्वयं सुवासित होतेहैं।

[४४]

वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर
द्विषां वृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्।
तनोतुक्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी
परिवाहः स्रोतः सरणिरिव सीमान्तसरणिः॥

कठिन शब्दों के अर्थः—कवरी=केश, सरणि=मार्ग, सडक रेखा, लाइन। वदन=मुख, सीमान्त सरणि=जिस रेखा पर सीमा का अन्त होता है, सिर पर केशों की मांग।

अर्थः— तेरे मुख की सौन्दर्य लहरी के प्रवाहस्रोत के मार्ग के सदृश सिन्दूर से भरी तेरे केशों की मांग हमारे क्षेम (कल्याण) का प्रसार करे, जो मांग केशों के भारमय अन्धकार रूपी प्रबल दुश्मनों के वृन्दों से बन्दी की हुई उदय होने वाले नवीन सूर्य की अरुण किरण के सदृश है।

जैसे स्त्रियां मांग में सिंदुर भरती हैं उसी प्रकार मानो देवी के मुख कमल की अरुणिमा केशों की मांग में सिंदूर सी चमकती हुई मूर्धा पर बह रही है। मानों उदय कालीन सूर्य की लाल किरणें रात्रि के अन्धकार को चीरना चाहती हैं। परन्तु अन्धकार रूपी दुष्मनों ने उसको कैद कर लिया है।

स्रोत का प्रवाह ऊपर से निम्न तल पर हुआ करता है, परन्तु भगवती की शोभा की कान्ति उर्द्ध्व गामिनी है। उसे योगियों में ज्ञान के सूर्य के उदय होने से पूर्व प्रकट होने वाले प्रातिभ ज्ञान के सदृश समझना चाहिये।

अलकों का ध्यानः—

(४५)

अरालैः स्वाभाव्यादलिकलभसश्रीभिरलकैः
परीतं ते वक्त्रं परिहसति पंकेरुह रुचिम् ।
दरस्मेरे यस्मिन्दशन रुचि किंजल्करुचिरे
सुगंधौ माद्यन्ति स्मरदहन चक्षुर्मधुलिहः ॥

कठिन शब्दों का अर्थः—अराल=घुंघराले; कलभ=बच्चा; स्मेर=मुस्कराहट; दर=किंचित्, थोडी; किंजल्क=स्फटिक; मधुलिह=भौंरा; अलक=जुल्फ।

अर्थः—स्वाभाविक घुंघराली जवान भौंरा की कांतियुक्त अलकावलि से घिरा हुआ तेरा मुख, कमलों की शोभा का

परिहास करता है। जिनमें स्फटिक सदृश शोभा वाले दन्तों में किंचित् मुस्कराते समय निकलने वाली सुगंध पर काम के दहन करने वाले शिवजी के नेत्र रूपी भौंरे मस्त हो जाते हैं।

मानो शिवजी भी जिन पर काम का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं. प्रकृति के सौंदर्य से मुग्ध हो रहे हैं अर्थात् वह निर्गुण ब्रह्म प्रकृति के गुणों का भोक्ता भी है। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच। (गीता १३, १४)

ललाट का ध्यान:—

(४६)

ललाटं लावण्यद्युति विमलमाभाति तव यद्
द्वितीयं तन्मन्ये मुकुटघटितं चन्द्रशकलम्।
विपर्यासन्यासादुभयमपि संभूय च मिथः
सुधालेपस्यूतिः परिणमति राकाहिमकरः॥

कठिन शब्दों के अर्थ:—मिथ=अकेला: स्यूतिः=सीवन, जोड़; विपर्यन्यास=एक दूसरे से उलट।

अर्थ:—लावण्य कांति से युक्त विमल चमकने वाला जो तेरा ललाट है, उसे मैं मुकुट में जड़ी हुई चन्द्रमा की दूसरी कला समझता हूं, जो एक दूसरे पर उलट कर रखी होने के कारण दोनों का एक रूप बनकर और अमृत के लेप से जुड़ कर पूर्ण चन्द्रमा बन गया है।

चन्द्रमा से अमृत का स्राव होता ही है उससे मानों दोनों कलाएं जुडकर पूर्ण चन्द्रमा बन गया है दोनों कलाओं की दोनों नोक एक दूसरे से मिलकर जुड गई हैं और बीच का अवकाश अमृत से लिप कर पूर्णिमा के चन्द्रवत् चमकने लगा है ।

भृकुटि का ध्यानः—

(४७)

भ्रुवौ भुग्ने किञ्चिद् भुवनभयभङ्गव्यसनिनि
त्वदीये नेत्राभ्यां मधुकररुचिभ्यां धृतगुणम् ।
धनुर्मन्ये सव्येतरकरगृहीतं रतिपतेः
प्रकोष्ठे मुष्टौ च स्थगयति निगूढान्तरमुमे ॥

कठिन शब्दों का अर्थः— भुग्न=त्योरी; रतिपति=कामदेव; प्रकोष्ठ=मुट्ठी का ऊपरी भाग, कलाई पोंहचा ।

अर्थः—हे भुवन के भय का नाश करने में आनन्द लेने वाली उमे ! भ्रुवों की त्योरी चढने पर मैं उसकी बायें हाथ में लिये हुए कामदेव के धनुष् से उपमा देता हूं, जिसकी प्रत्यंचा भौंरों की कांति वाले तेरे दोनों नेत्रों की बनी है, और जिसका मध्य भाग मुट्ठी के और कलाई के नीचे छुपा हुआ है ।

भाव यह है कि भगवती जगत् के भय का नाश करने के लिये सदा उद्यत रहती है और कामदेव का धनुष् इस कार्य के लिये वह

सदा चढाये रखती है और वह धनुष उसकी त्योरी चढी हुई भौंएं ही हैं। कामदेव के धनुष् की प्रत्यंचा भौंरों की कही जाती है, इसलिये भौंरों की उपमा रखने वाले दोनों नेत्र धनुष् की प्रत्यंचा समझनी चाहिये, अर्थात् भगवती की त्योरी चढने ही संसार के सब भय भाग जाते हैं और भृकुटी का मध्यभाग मानो धनुष् को चढाते समय बांये हाथ की मुट्ठी में दबा हुआसा है।

संसार का सबसे बडा शत्रु काम है इसलिये उसका धनुष मानो भगवती ने स्वयं छीन लिया है।

> कामएष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
> महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३, ३७)

काम से क्रोध उत्पन्न होता है, कामात्क्रोधोऽभिजायते (गीता–२, ६२) इसलिये क्रोध भी काम का ही रूपान्तर है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है, भगवान कहते हैं कि यह बडा पेटू है, बहुत भोजन करने वाला है अर्थात् कभी तृप्त नहीं होता और बडा पापी है। अर्थात् सब पापों का घर है। इसलिये इसे यहां संसार का बैरी समझना चाहिये।

उपरोक्त श्लोक का भाव है कि भगवती की त्योरी का ध्यान करने से कामवासना शांत हो जाती है और सब भय दूर हो जाते हैं

तीन नेत्रों का ध्यान:—

(४८)

अहः सूते सव्यं तव नयनमर्कात्मकतया
त्रियामां वामं ते सृजति रजनीनायकतया।
तृतीया ते दृष्टिर्दरदलित हेमाम्बुजरुचिः
समाधत्ते संध्यां दिवस निशयोरन्तरचरीम् ॥

कठिन शब्दों का अर्थः — त्रियामा=रात्रि; रजनी नायक=चद्रमा

अर्थः—तेरा दक्षिण नेत्र सूर्यात्मक होने से दिन बनाता है, और बायां चन्द्रात्मक होने से रात्रि की सृष्टि करता है, और किंचित् विकसित सुवर्ण के बने हुए कमल की शोभा से युक्त तेरी तीसरी दृष्टि दिन और रात दोनों के बीच में रहने वाली संध्या है।

दिन रात्रि की संधि प्रातः और सायंकाल दोनों समय होती है, इसलिये तीसरी दृष्टि दोनों के सदृश हो सकती है, परन्तु दिवस शब्द का प्रयोग प्रथम, और तत्पश्चात् निशि का प्रयोग होने से, सायं संध्या से ही यहां अभिप्राय है। संध्या शब्द जो सायं संधि के लिये ही प्रयुक्त होता है, इस आशय की पुष्टि करता है।

सामने से देखने वाले को भगवती का दक्षिण नेत्र प्रथम और वाम नेत्र पश्चात् दिख पड़ेगा जैसा कि पढते समय

ा से दक्षिण की ओर लिपिक्रम होता है, अर्थात् पहिले दिवस
र पश्चात् रात्रि की क्रमगति है और मध्य में संध्या। दिवस से
ग्रत, रात्रि से सुषुप्ति और संध्या से स्वप्नावस्था का ग्रहण करना
हिये। भगवती की कृपा दृष्टि से जाग्रत में जगत् की अज्ञान स्वरूप
ीति होती है, रात्रि में सुषुप्ति का अज्ञानान्धकार रहता है परन्तु वह
वती के चन्द्रात्मक नेत्र के प्रकाश से ज्ञानमय समाधि की अवस्था में
णत हो जाता है, और संध्या रूपी स्वप्नावस्था ज्ञान की वह भूमिका
जिसमें जगत स्वप्नवत् दिखने लगता है। तीनों को ज्ञान की
ाशः पांचवी, छटी और सातवी भूमिकायें समझना चाहिये।
ासूत्र (३. २. १.) में स्वप्न के लिये संध्या पद का प्रयोग किया
ा है। वहां शंकर भगवत्पाद अपने भाष्य में संध्या की व्याख्या
शब्दों में करते हैं:—" संध्यामिति स्वप्नस्थानमाचष्टे वेदे प्रयोग
ानात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्न स्थानम्' (बृ. ४. ३. ९.) द्वयोर्लोक
ानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम्।"

अर्थः— सन्ध्या स्वप्नावस्था को कहते हैं। वेदों में ऐसा
ोग मिलता है। जैसे सन्ध्या तीसरा स्पप्न स्थान है। अथवा
ोध संप्रसाद के दोनों लोकस्थानों की संधी भी संध्या होती है।
ात् में प्रबोध अर्थात् ज्ञान दृष्टि और संप्रसाद (ब्रह्मलीनता
रूप समाधि) दोनों के मध्यवर्तीदशा संध्या कहलाती है। प्रबोध
जाग्रत् और संप्रसाद से सुषुप्ति का अभिप्राय है। परन्तु ज्ञानी
ोर अज्ञानी के दृष्टिकोण में इतनी भिन्नता रहती है, कि ज्ञानी
ाग्रत् में जगत् को ब्रह्म में स्थित देखता है। जैसा कि भगवान

के इस वाक्य से प्रकट होता है। यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। इत्यादि।

गीता के एकादश अध्यायोक्त विराट् दर्शन में अर्जुन को इस ही प्रकार की दिव्य दृष्टि होने का वर्णन है।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाडवस्तदा (गीता ११.१३)

पांडव ने वहां सारे अनेकधा प्रविभक्त जगत् को एक स्थान पर ही देवाधिदेव के शरीर में देखा। अज्ञानी की दृष्टि इससे विपरित जगत् को 'सत्यवत् देखती है और भगवान की उसमें व्यापकता की कल्पना मात्र करती है। सुषुप्ति में ज्ञानी की स्थिति सात्विक सोमामृतमयी होने से आत्मस्थिति का अनुभव कराती है, और ज्ञानी स्वप्नों के दृश्यों को भी आत्मा के स्वरूप की रश्मियोंवत् जानता है।

तीसरा नेत्र आग्नेय है। और अग्नि का रंग लाल होता है। वह नेत्र लाल क्यों है। इसका कारण ५० वें श्लोक में बताया गया है, ४९ वें श्लोक में उस ही दृष्टि की विविध भावपूर्ण अवलोकन-शक्तियों का वर्णन है। जिनका वर्णन करने में प्रत्येक शक्ति को कवि ने अपनी समकालीन प्रमुख नगरियों के नाम से नामांकित किया है।

जिनके नाम यह हैं, १ विशाला (बद्रीनाथ) २ कल्याणी (मुंबई और नासिक के मध्यवर्ती एक रेलवे जंकशन) ३ अयोध्या,

४ धारा (आधुनिक धार), ५ मधुरा (आधुनिक मथुरा अथवा मदुरा), ६ भोगवतिका (अमरावति), ७ अवन्ती (आधुनिक उज्जैन) ८ विजया (आधुनिक विजय नगर)।

[४९]

विशाला कल्याणी स्फुटरुचिरयोध्या कुवलयैः
कृपाधारा धारा किमपि मधुराभोगवतिका।
अवन्ती दृष्टिस्ते बहुनगरविस्तारविजया
ध्रुवंत तत्तन्नामव्यवहरणयोग्या विजयते॥

कठिन शब्दों का अर्थः— कुवलय=कमल; व्यवहरण=नाना-अर्थों के संदेह को हरण करने वाले।

अर्थः— तेरी दृष्टि विशाला, कल्याणी खिले हुए कमलों की शोभा की उपमा से उंची अयोध्या, कृपा की धारा सदृश धारा, कुछ२ मधुरा, भोगवतिका, सबकी रक्षा करने वाली अवन्तिका, और अनेक नगरों के विस्तार को जीतने वाली विजया है, और निश्चय से इन प्रत्येक नगरियों के नाम से संबोधित नाना अर्थों के संदेह को हरण करने के योग्य है। अर्थात् प्रत्येक के नाम की भाव सूचक है।

विशाला अर्थात् उदारता के कारण विशाला है। सबका कल्याण करती है, इसलिये कल्याणी है। कमलों की शोभा तेरे सामने हार मानती है, इसलिये अयोध्या है। मधुर होने के कारण मधुरा है।

भोगों को देती है, इसलिये भोगवतिका है। सबकी रक्षा करती है, इसलिये अवन्तिका है। और तेरे पराक्रम को कोई नहीं पा सकता, इसलिये विजया है। उक्त आठ प्रकार के भाव युक्त भगवती की दृष्टि है, पंडित सुब्रह्मण्य शास्त्री और श्री निवास अयंगर की अंग्रेजी पुस्तक में इन दृष्टियों के स्वरूप इस प्रकार बताये गये हैं। अन्तर्विकसित दृष्टि विशाला कहलाती है, आश्चर्ययुक्त दृष्टि कल्याणी है, जिसमें पुतिलियां फैल जायें वह अयोध्या, आलस्य युक्त दृष्टि धारा, नेत्रों के किंचित् चक्कर खाने पर मधुरा, मैत्री के भावयुक्त भोगवती, निष्पाप दृष्टि जिसमें भोलापन टपक अवन्ती, और तिरछी निगाह विजया कहलाती है। इन दृष्टियों का प्रभाव क्रमशः उच्चाटन, आकर्षण, द्रवीकरण, संमोहन, वशीकरण, ताडन, विद्रावण और मारण है।

उक्त आठों भाव अग्नि में पाये जाते हैं, इसलिये यह दृष्टि तीसरे नेत्र से विशेषेण संबंधित है।

[५०]

कवीनां संदर्भस्तबकमकरन्दैकरसिकं
कटाक्षव्याक्षेपभ्रमरकलभौ कर्णयुगलम् ।
अमुञ्चन्तौ दृष्ट्वा तव नवरसास्वादतरला-
वसूयासंसर्गादलिकनयनं किञ्चिदरुणम् ॥

कठिन शब्दों का अर्थ:—संदर्भ=कविता; अलिकनयनं=माथे का तीसरा नयन; आलिक=ललाट।

अर्थः—कवियों की कविता रूपी स्तवक से उठने वाली सुगंध के रसिक कानों का साथ न छोडने वाले तेरे कटाक्ष विक्षेप युक्त, तिरछी निगाह से देखने वाले, भ्रमरों के सदृश, और कविताओं के ९ रसों का आस्वाद लेने को बेचैन, चंचल दोनों नेत्रों को देख कर ईर्ष्या के संसर्ग से तेरा (तीसरा) मस्तक वाला नेत्र कुछ लाल रंग युक्त है।

भाव यह है कि दोनों कान कवियों की कविताओं के रसिक हैं, और दोनों नेत्र भी उसके ९ रसों का स्वाद लेने को बेचैन हैं, इसलिये कानों का स्पर्श करने के लिये वहां तक फैले हुए हैं। और उनसे तीसरा नेत्र ईर्ष्या करता है, क्योंकि उसकी पहुंच कानों तक नहीं होती, इसीलिये वह असूया से लाल हो गया है। नेत्रों का बडा होना सौंदर्य का लक्षण है। कवि उनको कान तक फैला हुआ कहा करते हैं, और साथ ही इस मिस से तीसरे नेत्र के रक्तवर्ण होने का कारण भी बताया गया है।

[५१]

शिवे शृङ्गारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा
सरोषा गंगायां गिरिशचरिते विस्मयवती।
हराहिभ्यो भीता सरसिरुह सौभाग्यजयिनी
सखीषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिः सकरुणा॥

अर्थः— शिव के प्रति तेरी दृष्टि शृंगारार्द्र है, इतर जनों के प्रति कुत्सित उपेक्षा युक्त, गंगा पर सरोष, शिवजी के

चरित्रों पर विस्मय प्रकट करने वाली, शिवजी के सर्पो से भीत, कमलों की शोभा को पराजित करने वाली, सखियों के प्रति मुस्कान लिए हुए है, और हे जननि मेरे ऊपर तेरी करुणायुक्त दयादृष्टि है।

यहां यह बताया गया है कि भगवती की दृष्टि से ९ रसों का भाव टपकता है। जिनके क्रमशः नाम इस प्रकार हैं। श्रृंगार, विभत्स (घृणा), रौद्र, अद्भुत (विस्मय), भयानक, वीर, हास्य, करुणा, और शान्त। इस श्लोक में अन्तिम शान्त रस का नाम नहीं आया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवती की स्वाभाविक दृष्टि शान्त रस पूर्ण है, जो शान्ति कला का स्वभाव है, इसलिये स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् भगवती की दृष्टि नवधारस पूर्ण है। इस श्लोक का संबंध ४९ वें श्लोक से है। परन्तु दोनों के भाव में भिन्नता है।

[५२]

गते कर्णाभ्यर्णं गरुत इव पक्ष्माणि दधती
पुरां भेत्तश्चित्तप्रशमरसविद्रावणफले।
इमे नेत्रे गोत्राधरपतिकुलोत्तंसकलिके
तवाकर्णाकृष्टस्मरशरविलासं कलयतः॥

कठिन शब्दों के अर्थ:— फल=फल और बाण का अग्र भाग; गोत्र=पर्वत, गरुत=पर, पंख.

अर्थः— हे पर्वतराज के कुल की प्रमुख कली ! ये तेरे बाणों सदृश दोनों नेत्र कानों तक पहुंचे हुए हैं, जो पंखों के स्थान पर पलकें धारण किए हुए हैं, और पुरारि के चित्त की शान्ति को भंग करने वाले फल से युक्त हैं, कान तक ताने हुए ये कामदेव के बाणों का कार्य कर रहे हैं।

बाणों को गति देने के लिये पंख लगाये जाते हैं, और चीरने का कार्य करने के लिये अग्र भाग में लोहे का फल होता है, यहां पलकें पंखवत् हैं, और कटाक्ष का फल शंकर के शान्त चित्त को भंग करने वाला फल है। यहां फल शब्द उभयार्थ प्रयुक्त है, और धनुष चढाने पर बाण को कान तक ताना जाता है, इस प्रकार दोनों नेत्रों की पूर्ण उपमा कामदेव के बाणों से दी गई है। कामदेव के बाणों का प्रहार मनुष्यों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है, इसी प्रकार देवी का कटाक्ष शंकर के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है, अर्थात् परब्रह्म में स्पन्द उत्पन्न करता है।

[५३]

विभक्तत्रैवर्ण्यं व्यतिकरितलीलाञ्जनतया
विभाति त्वन्नेत्रत्रितयमिदमीशानदयिते।
पुनः स्रष्टुं देवान्द्रुहिणहरिरुद्रानुपरतान्
रजः सत्त्वं विभ्रत्तम इति गुणानां त्रयमिव (स्वयमिव) ॥

अर्थः— हे ईशान की दयिते ! ये तेरे तीनों नेत्र तीन रंग का अंजन लगाने से मानों पृथक २ तीन रंग के चमक

रहे हैं, और महा प्रलय के अन्त में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को जो प्रलय काल में उपरत हो गये थे, फिर पैदा करने के लिये रज, सत्व और तम तीनों गुणों को धारण किये हुए से प्रतीत होते हैं।

रजो गुण रक्त वर्ण है, सत्व शुक्ल वर्ण और तमो गुण कृष्ण वर्ण है। भगवती के दो नेत्र चन्द्र सूर्यात्मक श्वेत और कृष्ण वर्ण हैं, और तीसरा नेत्र मस्तक में आग्नेय रक्त वर्ण है। महा प्रलय में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी लीन हो जाते हैं, परन्तु शक्ति ब्रह्म के साथ अव्यक्त रूप में बनी रहती है। प्रलय के अन्त में व्यक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्र को फिर अपने नेत्रों के उन्मीलन से उत्पन्न करती है। ब्रह्मा रजो गुण के, विष्णु सत्व गुण के और रुद्र तमो गुण के अधिदेव हैं, इसलिये मानों भगवती के तीनों नेत्रों के खुल जाने पर वह उन में सत्व, रज और तम रूपी तीन प्रकार का अंजन आंज लेती है। अर्थात् भगवती की दृष्टि तीन गोलकों का आश्रय लेने से तीनों के रूप में व्यक्त होती हैं। यद्यपि दृष्टि की शक्ति एक ही है तो भी तीन प्रकार के गुण रूपी अंजनों के कारण त्रिधा प्रतीत होती है, क्योंकि तीनों में सृष्टि स्थिति संहार करने की तीनों शक्तियां एक ही शक्ति के तीन रूप हैं।

(५४)

पवित्री कर्तुं नः पशुपतिपराधीनहृदये
दयामित्रै र्नेत्रैररुणधवलश्यामरुचिभिः ।
नदः शोणो गङ्गा तपनतनयेति ध्रुवममु (मयं)
त्रयाणां तीर्थानामुपनयसि संभेदमनघम् ॥

अर्थः—पशुपति शंकर भगवान की परार्धीनता में हृदय समर्पण करने वाली हे भगवती ! अरुण, शुक्ल, और श्याम वर्णों की शोभा से युक्त दयापूर्ण अपने नेत्रों से सोणनदी, गंगा और सूर्यतनया (जमुना) इन तीनों तीर्थों के सदृश निश्चय ही हम लोगों को पवित्र करने के लिये तू पवित्र संगम बना रही है ।

गंगा और यमुना का संगम प्रयाग में है जो दोनों नेत्रों के बीच है, वह भ्रू मध्य भाग काशी है । उसके ऊपर तीसरा नेत्र सोणनदी है । ज्ञाननेत्र में तीनों का एकीकरण होता है । सोणनदी काशी से कुछ आगे चल कर गंगाजी से मिलती है । नासिका के अग्रभाग पर, भ्रूमध्य में और ललाट प्रदेश में ध्यान करने की विधि योग धारणा के प्रधान साधन हैं । उन स्थानों पर धारणा करके वहां चित्त को ध्यान मग्न कर देना ही उक्त तीर्थों में स्नान करना है ।

(५५)

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधरराजन्यतनये ।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शंके परिहृतनिमेषास्तव दृशः ॥

अर्थः—हे धरणिधर राजन्य हिमाचल की पुत्री ! सन्तों का कहना है कि तेरे निमेष (नेत्र बंद करने) से जगत् का प्रलय और उन्मेष अर्थात् नेत्र खोलने से उद्भव अर्थात् सृष्टि होती है। यह सारा जगत् प्रलय के पश्चात् तेरे उन्मेष से उत्पन्न हुआ है, उसकी रक्षा करने के लिये ही मुझे शंका होती है, कि तेरी आंखों ने झपकना बंद कर रखा है।

आंखों का झपकना इस लिये बन्द कर रखा है कि कहीं झपकने के साथ तुरन्त प्रलय न हो जाय। देवताओं के नेत्रों में झपकियां नहीं पड़तीं; इस लिये भगवती के नेत्र भी सदा निमेषोन्मेषरहित रहते हैं, यह बात इस श्लोक में कही गई है। यदि कहो कि कमल खिला रहता है और मछलियों के नेत्र भी नहीं झपकते, तो अगला श्लोक लिखते हैं कि:—

[५६]

तवापर्णे कर्णे जपनयन पैशुन्य चकिता
निलीयंते तोये नियतमनिमेषाः शफरिकाः ।
इयं च श्रीर्बद्धच्छदपुटकवाटं कुवलयं
जहाति प्रत्यूषे निशि च विघटय्य प्रविशति ॥

कठिन शब्दों का अर्थः— शफरिका=मछली; कुवलय=कुमुद ।

अर्थः—हे अपर्णे ! निमेष रहित मछलियां तो सदा पानी में छुपी रहती हैं, उनको यह भय रहता है कि कहीं तेरी आंखें ईर्ष्या वश उनकी चुगली तेरे कानों से न करदें, और यह लक्ष्मी सवेरा होने पर कपाटों के सदृश बंद हो जाने वाले दलयुक्त कुमुदिनी को छोड जाती है, और रात्रि को उन्हें खोल कर प्रवेश करती है ।

भाव यह है कि भगवती के निमेषोन्मेषवर्जित नेत्रों की प्रति-द्वंदी एक तो मछलियां हैं, दूसरी कुमुदिनी है । मछली तो पानी में छुपी रहती है, और कुमुदिनी रात्रि को ही खिलती है और दिन में बंद होकर श्री (कांति) हीन हो जाती है ।

[५७]

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे ।
अनेनायं धन्यो भवति न च हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः ॥

अर्थः—हे शिव ! किंचित विकसित् नीलोत्पल की शोभा से युक्त दूर तक पहुंचने वाली अपनी दृष्टि से कृपया दूरस्थित मुझ दीन को भी स्नान करा दे । उससे यह धन्य हो जायगा, और ऐसा करने से तेरी कोई हानि नहीं है, क्योंकि चन्द्रमा की किरणें बन में और महलों में समान रूप से पडती हैं ।

कनपटियों का ध्यानः—

[५८]

अरालं ते पालीयुगलमगराजन्यतनये
न केषामाधत्ते कुसुमशरकोदंडकुतुकम्
तिरश्चीनो यत्र श्रवणपथमुल्लंघ्य विलस—
न्नपांगव्यासंगो दिशति शरसंधानधिषणाम् ॥

कठिन शब्दों का अर्थः— अरालं=वक्र; पाली=कनपटीकोण; अग=पर्वत; अपांग=कटाक्ष ।

अर्थः—हे पर्वत राज की पुत्रि तेरी दोनों वक्र कनपटियां किसकी बुद्धि में पुष्पबाण धारण करने वाले धनुष के कोणों का कौतुहल न करेंगी। जहां श्रवणपथ का उल्लंघन करके तेरा तिरछा कटाक्ष कनपटि को लांघकर कान तक पहुंचा हुआ बाण सदृश दिखता है. जो दोनों भौंहों के धनुष पर चढ़ा हुआ है. कनपटियां धनुष के कोण हैं। भगवती की त्योरी रूपी धनुष पर चढ़े हुए कटाक्ष रूपी बाण से समस्त बाधाओं का नाश होता है।

मुख का ध्यानः—

[५९]

स्फुरद्गण्डाभोगप्रतिफलितताटंकयुगलं
चतुश्चक्रं मन्ये तव मुखमिदं मन्मथरथम्।
यमारुह्य (यमाश्रित्य) द्रुह्यत्यवनिरथमर्केन्दुचरणं
महावीरो मारः प्रमथपतये सज्जितवते॥

कठिन शब्दों का अर्थः— ताटंक=कर्णफूल।

अर्थः—तेरे चमकते हुए कपोलों पर प्रतिबिंबित दोनों कर्णफूलों युक्त तेरा मुख मुझे चार पहियों वाला कामदेव का रथ जंचता है, जिस पर चढ़ कर अथवा जिसका आश्रय लेकर महावीर कामदेव, सूर्य और चन्द्रमा दो पहियों वाले पृथिवी रूपी रथ पर युद्धार्थ सुसज्जित शंकर के विरुद्ध अड़ा है।

मुख रथ है, उसके चार पहिये कानों में लटकते हुए दो कर्ण फूल हैं, और दो उनके कपोलों पर प्रतिबिंब हैं। शंकर का रथ पृथ्वी है, जिसके सूर्य और चन्द्रमा दो पहिये हैं, जिसपर चढकर शंकर ने त्रिपुरों को हराया था। परन्तु यहां देवी के मुख रूपी रथ का आश्रय लेने के कारण कामदेव शंकर के समक्ष युद्ध करने का साहस करता है।

[६०]

सरस्वत्याः सूक्तीरमृतलहरीकौशलहरीः
पिबंत्याः शर्वाणि श्रवणचुलुकाभ्यामविरलम्।
चमत्कारश्लाघाचलितशिरसः कुण्डलगणो
झणत्कारैस्तारैः प्रतिवचनमाचष्ट इव ते ॥

कठिन शब्दों के अर्थः— तार=ॐ कार. प्रति वचन=स्वीकृति सूचक हुंकार कहना।

अर्थः— हे शर्वाणि! सरस्वती की सुन्दर युक्ति को जो अमृत की लहरी के कौशल को हरती है श्रवण रूपी चुल्लुओं द्वारा अविरल पान करते समय तेरे कुंडलगण चमत्कार पूर्ण उक्तियों की श्लाघा सूचक सिर हिलाते समय, झण २ बजकर मानों ॐकार का उच्चारण सदृश हुंकार द्वारा उत्तर दे रहे हैं।

प्राचीन काल में अनुज्ञा सूचक शब्द के स्थान पर ॐ कहते थे, जैसे आजकल हां अथवा हुं कहकर अनुज्ञा प्रकट की जाती है। देखें छान्दोग्योपनिषत् (१. १. ८)

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानाति ॐ इत्येव तदा हैषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति यस्तदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ।

यहां भगवती जब अनुज्ञा सूचक सिर हिलाती हैं, तो उनके कानों के कुंडल मानो 'ॐ' का उच्चारण कर के अनुज्ञा प्रकट करते हैं, क्योंकि सरस्वती की सुन्दर वाणी रूपी अमृत का पान कर्ण ही करते हैं, यदि जिह्वा पान करती होती तो जिह्वा वाणी द्वारा अनुज्ञा प्रकट करती, परन्तु यहां कान पान करते हैं, इसलिये जिह्वा मौन है और कान बोल नहीं सकते, इसलिये कानों के बदले कानों के कुण्डल बज बज कर झणत्कार रूपी ॐ ॐ कहकह कर अनुज्ञा प्रकट कर रहे हैं। कुण्डलों की झंकार रूपी ॐकार की ध्वनि युक्त उद्गीथ उपासना का फल समृद्धि होना चाहिये, जैसा कि उपरोक्त छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है, उस समृद्धि का वर्णन अगले श्लोक में है ।

नासिका ध्यान

[६१]

असौ नासावंशस्तुहिनगिरिवंशध्वजपटि (पटे)
त्वदीयो नेदीयः फलतु फलमस्माकमुचितम् ।
वहन्नन्तर्मुक्ताः शिशिरतर निश्वास घटिताः (गलिताः)
समृध्द्या यत्तासां बहिरपि च मुक्तामणिधरः ॥

कठिन शब्दों के अर्थः— तुहिन=हिम. नेदीयस=अति निकट शीघ्र, तुरन्त ।

अर्थः— हे तुहिन गिरि अर्थात् हिमाचल के वंश की ध्वजा की पताके। तेरे नाक का यह बांस हमको शीघ्र उचित फल का देने वाला हो। अथवा उसपर हमारे लिये उचित फल लगें। क्योंकि उसके भीतर तेरे अति शीतल निश्वासों से मोती बन रहे हैं, और उनकी बायें नथने में इतनी समृद्धि है कि एक मुक्तामणि बाहर भी दिखा रहा है। यहां नथ के मोती से अभिप्राय है जो बांयें नाक में पहनी जाती है।

वंश द्व्यर्थवाचक शब्द है बांस और कुल। हिमाचल पर लगे हुए बांस पर ध्वजा फहराई जाय, तो उसकी पताका के सदृश भगवती की उपमा है, दूसरे अर्थ में भगवती को हिमालय के कुल की ध्वजपताका सदृश कहा गया है। बांस में फल नहीं लगते, परन्तु उसके अन्दर मोतियों की उत्पत्ति कही जाती है। 'मुक्ता' शब्द भी द्व्यर्थवाचक है, मोती को मुक्ता कहते हैं और जीवन मुक्त पुरुष भी मुक्त कहलाते हैं। बांस में मोती होते हैं और कुल में मुक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं। शंकर भगवत्पाद प्रार्थना करते हैं के तेरी नासिका रूपी बांस में हमारे लिये उचित फल लगें और उनकी समृद्धि भी हो। परन्तु जैसे बांस में फल नहीं लगते, और उसके भीतर पोल में मोतियों का उत्पन्न होना सुना जाता है, उसी प्रकार भगवती की नासिका वत् श्रेष्ट कुल में अर्थात् भगवती के उपासक संप्रदाय में मुक्त पुरुषों की उत्पत्ती होती है, जिसका उचित फल मुक्ति है। और भगवती के कर्ण फूलों (ताटंको) की झंकार रूपी प्रणवोपासना से उनकी समृद्धि होती है। फल का अर्थ

कामना की पूर्ति के लिये किया जाता है। शंकर भगवत्पाद एक संन्यासी होने के नाते त्यक्त काम थे, जो दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा सब ही इच्छाओं से विनिर्मुक्त थे. उन को उचित फल की इच्छा परोपकारार्थ और संसारी जीवों की मुमुक्षा के अतिरिक्त क्या हो सकती थी। अपिच वे स्वयं नासिका के बाहर लगे हुए नथ के मोती के सदृश स्वयं एक मुक्त पुरुष थे, इस लिये उनकी प्रार्थना का भाव यह ही था, कि भगवती की उपासक परंपरा में सदा जीवन्मुक्तों की समृद्धि होती रहे।

हिमगिरी कन्या का निश्वास भी हिमवत् शीतल होना चाहिये, जिस के स्पर्श से तुरन्त ओसकण जमकर मुक्तामणियों के सदृश जमजाते हैं। तद्वत् मानो चन्द्र अथवा ईडा नाडी के वाम नासापुट से जिस पर नथ पहिनी जाती है, टपकने वाले जल कण जमकर मोती बन गए हैं, जो नथ पर दृष्टिगोचर होरहे हैं, यद्यपि नासा वंश में निहित न जाने कितने मुक्ता होसकते हैं। शीतल निश्वास से परम शान्ति का भी अभिप्राय है, जिसके स्पर्श मात्र से मनुष्य जीवन मुक्त हो जाता है।

कर्ण फूलों की प्रणव रूपी झंकार से अन्तर्नाद का भी अभिप्राय होसकता है, जो सरस्वती के शिवस्तवन की एक प्रति ध्वनि कही जा सकती है।

हिन्दी की एक उक्ति है कि केला बिच्छु बांस अपने फले नाश, अर्थात् केला बिच्छु और बांस को फल लगने से वे नष्ट होजाते हैं। इसलिये भगवती के नासावंश में फल न लगाकर,

उसके भीतर मोतियों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, जिन की सदा समृद्धि होती रहती है और वह वंश अनादि अनन्त नित्य परंपरा वाला है।

भीतर से बाहर निकलने वाला श्वास निश्वास कहलाता है, और वह उष्ण होता है। यदि किसी मनुष्य का निश्वास शीतल चलने लगे, तो वह उसकी निकटस्थ मृत्यु का अरिष्टसूचक होता है। यहां भगवती का निश्वास शिशिरतर कहागया है, भगवती के परम शान्तिमय अन्तर्हृदय का यह पराक्रम है, जिस से मृत्यु को भी भय लगता है, और उसके परम शान्तिप्रद निश्वास के स्पर्श मात्र से उपासक शीघ्र जीवन मुक्ति का परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

नासावंशः का अर्थ नासोपम वंशः भी किया जासकता है। किसी मनुष्य की यशः श्लाघा करते समय कहा करते हैं कि वह मनुष्य तो अपने कुल, जाति, वंश अथवा देश की नाक है, इसी प्रकार भगवती के उपासकों का वंश प्रकृति देवी की नाक है, एसा कहने से भगवती के उपासकों की सर्वोपरि गणना समझी जानी चाहिये जिन की वंशावलि में जीवन मुक्त महान पुरुषों की सदा समृद्धि होती रहती है। जिन में से कोई कोई प्रकाशित भी होजाते हैं, परन्तु गुप्त रूप से रहने वाले अनेक सन्तों के अस्तित्व की वे साक्षि देते रहते हैं। हिमगिरी के हिम शिखरों का शीतल शान्ति प्रद पवन ही मानो भगवती का कल्याणमय निश्वास है, जो श्रेय के जिज्ञासुओं को उत्तरोत्तर आवाहन करता रहता है।

ओष्ठों का ध्यान:—

(६२)

प्रकृत्याऽऽरक्तायास्तव सुदति दन्तच्छदरुचेः
प्रवक्ष्ये सादृश्यं जनयतु फलं विद्रुमलता ।
न बिम्बं तद्बिम्बप्रतिफलनरागादरुणितं
तुलामध्यारोढुं कथमिव न लज्जेत कलया ॥

अर्थ:—हे सुन्दर दांतों वाली भगवति! स्वाभाविक लाल-रंग के तेरे होठों की शोभा का सादृश्य करने वाले पदार्थों के नाम कहता हूं। मूंगे की लता में यदि फल आजायें, (तो उतने सुन्दर कहे जा सके हैं). परन्तु बिंब फल तो नहीं, क्योंकि उनकी अरुणिमा तो तेरे बिम्ब की प्रतिबिंबित् अरुणिमा की झलक सदृश है, यदि उनमें किसी प्रकार तेरे होठों की तुलना भी की जाय, तो वे तेरे होठों की सुन्दरता की एक कला के बराबर भी सुन्दर न उतरने से क्या लज्जित नहीं होते ?

प्रबाल लता में फल नहीं लगते, क्योंकि वे जड़ होती हैं। परन्तु यदि उनमें फल लगने लगें, तो संभव है कि भगवती के होठों की उनसे उपमा दी जा सके। और बिंब फल की अरुणिमा तो सामान्य अरुणिमा है, और उसे प्रकृति देवी की आंशिकदेन ही समझना चाहिये, मानो असली रंग की छाया मात्र है। बिंब फलों

से कविजन सामान्य स्त्रियों के होठों की उपमा दिया करते हैं परन्तु भगवती के होठों से उनकी उपमा देना उचित नहीं है, क्योंकि उनका सौंदर्य अनुपम है।

मुस्कान का ध्यान:—

(६३)

स्मितज्योत्स्नाजालं तव वदनचन्द्रस्य पिवतां
चकोराणामासीदतिरसतया चञ्चुजडिमा ।
अतस्ते शीतांशोरमृतलहरीमाम्लरुचयः
पिवन्ति स्वच्छन्दं निशिनिशि भृशं काञ्जिकधिया ॥

अर्थ:— तेरे चन्द्रवदन की मुस्कान रूपी ज्योत्स्ना (चांदनी) की प्रचुरता को पीकर, अति मधुर होने के कारण चकोरों की चंचु अति रसास्वाद से जड हो गई है अर्थात् हट गई है। इसलिये वे खट्टे रस के इच्छुक चन्द्रमा के अमृत की लहरी को कांजी सदृश समझ कर प्रतिरात्रि खूब स्वच्छन्द पीते रहते हैं।

अर्थात् चांद की चांदनी प्रकृति की मुस्कराहट की मधुरता के सामने कांजीवत् खट्टी है।

जिह्वा का ध्यानः—

(६४)

अविश्रान्तं पत्युर्गुणगणकथाऽऽम्रेडनजपा
जपापुष्पच्छाया तव जननि जिह्वा जयति सा ।
यदग्रासीनायाः स्फटिकदृषदच्छच्छविमयी
सरस्वत्या मूर्तिः परिणमति माणिक्यवपुषा ॥

कठिन शब्दः—आम्रेडन=बारंबार, दृषद्=पत्थर, अच्छत=स्वच्छ ।

अर्थः— हे जननि ! बिना थके पति के गुणानुवाद का बारंबार जप करने वाली, तेरी जवाकुसुम की द्युति सदृश लाल जिह्वा की जय है । जिसके अग्र भाग पर आसीन स्फटिक पत्थर की जैसी शुद्ध कांतिमयी सरस्वती की मूर्ति के शरीर का वर्ण माणिक्य सदृश परिणत हो गया है ।

स्फटिक का धर्म है कि उसपर निकटस्थ पदार्थ का रंग झलकने लगता है अर्थात वह स्वयं उसके रंग में रंग जाता है । सरस्वती का निवास जिह्वा के अग्र भाग पर होता है, और उसका वर्ण स्फटिक वत् स्वच्छ होता है, परन्तु जिह्वा के रंग से लाल दिखने लगता है ।

(६६)

रणे जित्वा दैत्यानपहृतशिरस्त्रैः कवचिभि—
र्निवृत्तैश्चण्डांशत्रिपुरहरनिर्माल्यविमुखैः ।
विशाखेन्द्रोपेन्द्रैः शशिविशदकर्पूरशकला
विलीयन्ते मातस्तव वदनताम्बूलकबलाः ॥

कठिन शब्दः— शिरस्त्र=शिर कवच, विशाखा=षडानन

अर्थः—हे मां ! दैत्यों को रण में जीतकर अपहृत शिरस्त्र और कवचों को उतारकर, शिवजी के निर्माल्य से विमुख जो चंड का भाग होता है, स्कन्द, इन्द्र और उपेन्द्र तीनों तेरे मुख के पान के ग्रास को, जिसमें चन्द्रमा जैसे स्वच्छ कपूर के टुकडे पडे हैं, ग्रहण करते हैं ।

जैसे मां अपने छोटे २ बालकों को अपने मुख से निकालकर बडे प्रेम से आधे चबे पान के टुकडे खिलाया करती है, वैसे ही भगवती स्कन्द, इन्द्र और उपेन्द्र को, जो उसके बालक हैं, दैत्यों पर जय प्राप्त करने पर प्रसन्न होकर पुरस्कार स्वरूप अपने मुख से निकालकर तांबूल के टुकडे खिलाती है । चण्ड शंकर के एक गण का नाम है, उसका स्थान नन्दी के दक्षिण हाथ की ओर उसके और जलहरी के बीच में होता है । शंकर का निर्माल्य चंड का ही भाग होता है, दूसरा उसे ग्रहण नहीं कर सकता । इसलिये चण्ड के पास खडे होकर शंकर की पूजा नहीं की जाती, वह सब निष्फल

होती है। स्कन्द इन्द्र और उपेन्द्र तीनों, दैत्यों को हराकर जब शंकर के पास गये तो वहां पर कोई पुरस्कार नहीं मिल सका क्योंकि उनका निर्माल्य का अधिकारी चण्ड होता है इसलिये वे भगवती के पास गये: और मां का सब से ऊंचा पुरस्कार उसका वात्सल्य प्रेम प्रकट करने में ही होता है।

वाणी की प्रशंसाः—

(६६)

विपञ्च्या गायन्ती विविधमपदानं पशुपते–
स्त्वयाऽऽरब्धे वक्तुं चलितशिरसा साधुवचने ।
तदीयैर्माधुर्यैरपलपिततन्त्रीकलरवां
निजां वीणां वाणीं निचुलयति चोलेन निभृतम् ॥

कठिन शब्दः— विपञ्ची=वीणा, अपदान=भूले हुए लोकोपकार

अर्थः-- पशुपति के विविध अपदानों को वीणा पर गाते समय, तेरे शिर हिलाकर सरस्वती की श्लाघा के वचन कहना आरंभ करने पर, जो अपनी मधुरता से वीणा के कलरव को फीका करते हैं, सरस्वती अपने वीणा को कपड़े में लपेट कर रख देती है।

अर्थात् भगवती की वाणी के माधुर्य के सामने सरस्वती के वीणा के स्वर भी फीके पड जाते हैं।

चिबुक का ध्यानः—

(६७)

करा्ग्रेण स्पृष्टं तुहिनगिरिणा वत्सलतया
गिरीशेनोदस्तं मुहुरधरपानाकुलतया ।
करग्राह्यं शंभोर्मुखमुकुरवृन्तं गिरिसुते
कथंकारं ब्रूमस्तव चिबुकमौपम्यरहितम् ॥

अर्थः— हे गिरीसुते ! उपमारहित तेरी चिबुक (ठोडी) का वर्णन हम कैसे करें ? जिसे हिमाचल ने अर्थात तेरे पिता ने वात्सल्य प्रेम से अपनी अंगुलियों से स्पर्श किया है, और गिरीश ने अधरपान करने की आकुलता से बार २ उठाया है, और जो उस समय ऐसी प्रतीत होती है मानों वह शंभु के हाथ में मुख देखने के लिये उठाए हुए दर्पण का दस्ता हो ।

प्रकृति का मुख दर्पण सदृश है, जिसमें शंकर का मुख प्रतिभासित हो रहा है। यह भाव विहारी सतसई में इस प्रकार दिखाया गया है ।

मैं समझो निर्धार यह जग कांचो कांचसो ।
एक ही रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत जगत ॥

(६८)

ग्रीवा का ध्यान

भुजाश्लेषान्नित्यं पुरदमयितुः कण्टकवती
तव ग्रीवा धत्ते मुखकमलनालश्रियमियम् ।
स्वतः श्वेता कालागरुबहुलजम्बालमलिना
मृणालीलालित्यं वहति यदधो हारलतिका ॥

कठिन शब्द— कालागरु=अगर, एक सुगंधित द्रव्य, जम्बाल= कीचड, लेप ।

अर्थ— तेरी ग्रीवा जो पुरारि की भुजा के नित्य स्पर्श से खरदरी हो रही है, तेरे मुखकमल को धारण करती हुई कमलनाल (मृणाली) जैसी सुन्दर लगती है, जो स्वतः तो गौर वर्ण है परन्तु अधिक समय तक अगरु के गाढे लेप से कीचड में सनी हुई सी मलीन दिखती है, और जिसके नीचे हार पहना हुआ है ।

गले का ध्यान

(६९)

गले रेखास्तिस्रो गतिगमकगीतैकनिपुणे
विवाहव्यानद्धप्रगुणगुणसंख्याप्रतिभुवः ।
विराजन्ते नानाविधमधुररागाकरभुवां
त्रयाणां ग्रामाणां स्थितिनियमसीमान इव ते ॥

अर्थः— हे गति, गमक और गीत में निपुणे ! तेरे गले में पडी हुई तीन रेखायें जो विवाह के समय बांधी गई तीन

सौभाग्यसूत्रों की लड़ियों से पड गई हैं, ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो वे नानाविध मधुर राग रागिनियों के तीनों ग्रामों पर गाने से उनके स्थिति नियम की सीमा के चिन्ह हों।

गान विद्या के अनुसार प्रत्येक राग में गति, गमक और गीत तीन अंग होते हैं। गतिचाल को कहते है, गमक सुरों के आरोह अवरोह को कहते हैं और गीत तीनों सप्तकों के सुरों के क्रम को कहते हैं। संगीत तीन ग्रामों वाला होता है, उनके नाम षडज, मध्यम और गांधार ग्राम हैं। जिस ग्राम पर कोई राग गाया जाता है, उसका आरम्भ और अन्त उस ही ग्राम के सुर से होता है। अर्थात् षडज ग्राम पर गाने वाला अपने राग का आरम्भ षडज से करेगा और षडज पर ही समाप्त करेगा, इसी तरह मध्यम और गांधार ग्रामों पर गाने वाले के राग मध्यम अथवा गांधार सुर से ही उठाये जाकर उस ही सुर पर समाप्त किये जायंगे। प्रचलित पद्धति में केवल षडज ग्राम पर ही सब गाने गाये जाते हैं, और अन्य दो ग्रामों का प्रचलन नहीं रहा। इसलिये उनका संगीत शास्त्र में उल्लेख मात्र मिलता है। प्राचीन काल में उनका प्रचलन होगा। भगवती तीनों ग्रामों पर गा सकती है, इसलिये उनके गले की तीन रेखाएँ ऐसी प्रतीत होती हैं, मानों प्रत्येक ग्राम पर गाने से उनके सुरों की पृथक २ सीमा बन गई है।

चारों भुजाओं का ध्यान

(७०)

मृणाली मृद्वीनां तव भुजलतानांच दसृणां
चतुर्भिः सौन्दर्यं सरसिजभवः स्तौति वदनैः।
नखेभ्यः संत्रस्यन्प्रथममथनादन्धकरिपो—
श्चतुर्णां शीर्षाणां सममभयहस्तार्पणधिया ॥

कठिन शब्द—अंधकरिपु=शिवजी।

अर्थ—शिवजी के नखों के द्वारा पहिले पुराकाल में कभी (पांचवा शिर) मथन किया जाने की स्मृति से संत्रस्त होकर, चारों शिरों की एक समान रक्षा के लिये, तेरे अभयदान देने वाले हाथ की शरण में समर्पण बुद्धि रखकर, मृणाली सदृश कोमल तेरी चारों लता जैसी भुजाओं के सौंदर्य की, ब्रह्मा चारों मुखों से स्तुति किया करते हैं।

पौराणिक एक गाथा के अनुसार ब्रह्मा के भी ५ शिर थे, जिससे उन्हें बडा अभिमान था, इसलिये शिवजी ने रुष्ट होकर उनका एक शिर अपने नखों से तोड डाला था। उस समय की स्मृति से वे सदा भगवती के चारों हाथों की चारों मुखों से स्तुति किया करते हैं। इस आख्यायिका का अभिप्राय यह प्रतीत होता

है कि ब्रह्मा के चारों मुख चार वेदों से प्रकृति के हाथों की कृति का व्याख्यान करते हैं। ब्रह्मा को सृष्टि बनाने का जब अहंकार उत्पन्न हुआ तो उनका अहंकार शिवजी ने तोड दिया। वह अहंकार ही पांचवा शिर था।

हाथों का ध्यान:—

(७१)

नखानामुद्योतै र्नवनलिनरागं विहसतां
कराणां ते कान्ति कथय कथयामः कथमुमे।
कयाचिद्वा साम्यं भवतु कलया हन्त कमलं
यदि क्रीडल्लक्ष्मी चरणतल लाक्षाऽरुण दलम् ॥

अर्थ:— हे उमे! तेरे हाथों की कांति का कहो कैसे वर्णन करूं, जिनके नखों की द्युति नवविकसित कमल की अरुणिमा का परिहास करती है। यदि किसी अंश में किसी प्रकार कमल के दलों की अरुणिमा से सामान्यता की जाय, तो अरे! वह तो लक्ष्मी के क्रीडा करते समय चरणों में लगी लाक्षा के कारण है।

अर्थात् कमलों की अरुणिमा उनकी स्वाभाविक नहीं है, लक्ष्मी के चरणों में लगी लाख के कारण है, परन्तु भगवती के नखों की अरुणिमा स्वाभाविक है।

दोनों स्तनों का ध्यान:—

(७२)

समं देवि स्कन्दद्विपवदनपीतं स्तनयुगं
तवेदं नः खेदं हरतु सततं प्रस्नुतमुखम् ।
यदालोक्याशंकाऽऽकुलितहृदयो हासजनकः
स्वकुम्भौ हेरम्बः परिमृशति हस्तेन झटिति ॥

कठिन शब्द:— द्विप=हाथी, हेरम्ब=गणेशजी

अर्थः — हे देवि ! स्कन्द और गणेशजी के पान किये हुए तेरे दोनों स्तन, जिनके मुख से दूध टपक रहा है, सदा हमारे खेद का हरण करें पीते समय जिन स्तनों को देखकर गणेशजी शंका से आकुलित हृदय होकर झट अपने ही सिर के कुंभवत् भागों को टटोलकर हास्यजनक चेष्टा करते हैं ।

अर्थात् गणेशजी को अपने शिर के कुंभ सदृश उभरे हुए मस्तक और मां के स्तनों में भेद न दिखने के कारण शंका हो जाने से वे तुरन्त अपने सिर को टटोलने लगे । बालक दूध पीते समय माता के स्तनों को हाथ में थामकर दूध पीया करता है, परन्तु गणेशजी गलती से अपने ही सिर को पकडने लगे, जिसको देखकर मां हंस पडी ।

(७३)

अमू ते वक्षोजावमृतरसमाणिक्यकुतुपौ (कलशौ)
न संदेहस्पन्दो नगपतिपताके मनसि नः ।
पिबन्तौ तौ यस्मादविदितवधूसंगमरसौ
कुमारावद्यापि द्विरदवदनक्रौञ्चदलनौ ॥

कठिन शब्द:—वक्षोज=स्तन, कुतुप=कुप्पा, नग=पर्वत, द्विरद =हाथी

अर्थः—हे हिमाचल पर्वतराज की पताका सदृश्य पुत्रि ! अमृत रस से भरे माणिक्य के बने कुप्पों अथवा कलशों के सदृश तेरे स्तनों को देखकर हमारे मन में संदेह का स्पन्द भी नहीं होता (जैसा कि स्त्रियों के स्तनों से होना संभव है) क्योंकि (उनका ऐसा प्रभाव है कि) उनके दुग्ध पान करने से गणेशजी आर स्कन्द दोनों आज भी कुमार ही हैं और उनको स्त्री संगम का रस विदित नहीं है ।

दोनों के पास पत्नियां होते हुए भी वे शृंगार रस से परिचित नहीं हैं, यह भगवती के स्तन पान का फल है । गणेशजी के साथ ऋद्धि सिद्धि दोनों पत्नियों के समान हैं और देवताओं के सेनापति स्कन्द के पास देवताओं की सेना (देवसेना) रूपी पत्नि है । अर्थात् ऋद्धि सिद्धि और देवसेना स्त्रीवाचक शब्द मात्र हैं, और वे शक्तियां हैं न कि पत्नियां, परन्तु तो भी उनको ऋद्धि सिद्धियों

से युक्त गणपति और देवताओं के सेनापति कहने से, उनमें पति पत्नि का दाम्पत्य संबंध होने की भ्रान्ति मात्र होती है। वास्तव में दोनों नित्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही हैं।

(७४)

वहत्यम्ब स्तम्बेरमदनुजकुम्भप्रकृतिभिः
समारब्धां मुक्तामणिभिरमलां हारलतिकाम् ।
कुचाभोगो बिम्बाधररुचिभिरन्तः शबलितां
प्रतापव्यामिश्रां पुरदमयितुः कीर्तिमिव ते ॥

कठिन शब्द:—स्तम्बेरम=हाथी, दनुज=असुर, पुरदमयिता=पुरारि, शिवजी।

अर्थ:—हे मां! तेरा कुचभाग (छाती का भाग) जो गजासुर के मस्तक रूपी कुंभ से निकली हुई मुक्तामणियों की विमल माला पहने हुए है, उसपर तेरे बिंबसदृश लाल होठों की कान्ति पडने से अरुण छाया दिखती है, इसलिये वह हार शिवजी की प्रताप-मिश्रित-कीर्ति का प्रतीकवत् है।

हाथी के मस्तक से गजमुक्ता का निकलना प्रसिद्ध है। इसलिये जो मुक्तामणियां गजासुर के मारे जाने पर शिवजी को मिली थीं, उनकी माला भगवती ने छाती पर पहिनी हुई है। और उनपर भगवती के होठों का लाल रंग चढा हुआ है, अर्थात् वे मणियां होठों की अरुण कान्ति की छाया से लाल दिखने लगी हैं।

इस प्रकार हार में दोनों का मिश्रण हो रहा है। कविलोग प्रताप को लालरंग से और कीर्ति को स्वच्छरंग से उपमित किया करते हैं। यहां मणियां स्वच्छ होने के कारण कीर्ति की प्रतीक हैं और उनपर चमकने वाला लालरंग प्रताप का प्रतीक है। यहां गजासुर का वध रूपी प्रताप शंकर की शक्ति का प्रताप है और मणियां उस प्रताप की कीर्ति के चिन्ह हैं। भगवती स्वयं शंकर की शक्ति है। श्लोक का अन्तिम पद 'ते' 'कुचाभागो' पद के लिये सर्वनाम है, प्रथम पंक्ति में क्रियापद 'वहति' को 'कीर्तिमिवहारलतिकां वहति' इस क्रम से पढना चाहिये, 'कुचाभागो' 'वहति' का कर्ता है।

(७५)

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव ।
दयावत्त्यादत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता ॥

अर्थः—हे धरणिधर कन्ये ! मैं ऐसा समझता हूं कि तेरे स्तनों के दूध का पारावार तेरे हृदय से बहने वाला सारस्वत ज्ञान सदृश है। जिसे पीकर, दयावती होकर तेरे स्तनपान कराने पर द्रविडशिशु ने प्रौढकवियों के सदृश कमनीय कविता की रचना की थी।

द्रविडशिशु कौन था, जिसका संकेत इस श्लोक में है, इसपर विद्वानों का मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि शंकर भगवत्पाद ने यहां अपने लिये ही संकेत किया है।

भगवती के स्तन पान कराने की दैवी कृपा की घटना इस प्रकार घटित हुई बताई जाती है कि एक बार भगवत्पाद के शिशुकाल में जब उनके पिता किसी स्थानान्तर को जाने लगे, तो अपनी धर्मपत्नि को भगवती का पूजन करने को कह गये। परन्तु वे पति की अनुपस्थिति में मासिक धर्म के कारण पूजन नहीं कर सकीं, और बालक शंकर को भगवती का पूजन करने का सुअवसर मिला। भगवती को नैवेद्यार्थ दूध अर्पण किया जाता था। शंकर भगवत्पाद बालपन के भोलेपन से समझे कि भगवती दूध को प्रतिदिन साक्षात् पीया करती थीं, परन्तु उसदिन न पीते देखकर, वे रोकर प्रार्थना करने लगे। बालक के आग्रह से प्रसन्न होकर भगवती प्रकट हो गईं और सारा दूध पी गईं। परन्तु शंकर भगवत्पाद के पिता नैवेद्य का दूध पुत्र को दिया करते थे। भगवती के सारा दूध पी लेने पर बाल शंकर रो पड़े। इसपर भगवती को दया आई, और बालक को अपने स्तनों का दूध पिलाया। भगवती के स्तन का पान करते ही शंकर एक उच्चकोटि की कविता में भगवती की स्तुति करने लगे, जो उनके मुख से स्वतः निकलने लगी थी। पिता को घर आकर यह सब सुनने पर बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर भगवती ने उनको स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि यह बालक एक महान पुरुष होगा। यह कथा कैवल्य शर्मा ने लिखी है।

इसपर कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि शंकर भगवत्पाद अपनी लेखिनी से अपनी श्लाघा नहीं कर सकते, इसलिये द्रविड शिशु कोई दूसरा व्यक्ति होना चाहिये, जो भगवत्पाद का सम कालीन था। परन्तु हमें तो, इतना कहने में कि एक शिशु प्रौढ कवियों जैसी

कमनीय कविता करने लगा, कोई विशेष आत्मश्लाघा की बात नहीं दिखती। यदि उसे आत्मश्लाघा कहा भी जाय, तो वह वास्तव में भगवती के स्तन पान के फल की महिमा का गान मात्र है।

एक ऐसी भी किंवदन्ती है कि द्रविड शिशु एक सिद्ध महात्मा थे, उन्होंने एक स्तोत्र कैलाश के पत्थरों पर लिखा था, जब शंकर भगवत्पाद कैलाश यात्रा को गये, तब उन्होंने उसे पढा। परन्तु भगवती के इशारे से इनको स्तोत्र पढते देखकर सिद्ध ने उसे मिटाना आरंभ कर दिया। इतने अवसर में भगवत्पाद ने पूर्व के ४१ श्लोक कंठाग्र कर लिये थे, वे ही इस स्तोत्र के प्रथम ४१ श्लोक हैं। उस द्रविड शिशु का संकेत इस श्लोक में किया गया है। परन्तु हमारे मत की पुष्टि, कि द्रविड शिशु से भगवत्पाद ने अपना ही संकेत किया है, श्लोक १०० से होती है, जिससे सौन्दर्य लहरी का लेखन समय उनका विद्यार्थी वय सिद्ध होता है।

नाभि का ध्यानः—

(७६)

हरक्रोधज्वालाऽवलिभिरवलीढेन वपुषा
गभीरे ते नाभीसरसि कृतसंगो मनसिजः।
समुत्तस्थौ तस्मादचलतनये धूमलतिका
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरिति ॥

अर्थः— हे अचल तनये! हर के क्रोध की ज्वालाओं से लिपटे हुए शरीर से कामदेव ने गहरे सरोवर सदृश तेरी

नाभि में जब गोता लगाया, उसमे लता सदृश उठने वाले धूवें की जो रेखा बनी, उसे जन साधारण, हे जननि ! तेरी नाभी के ऊपर उठने वाली रोमावलि समझते हैं।

इसका आध्यात्मिक भाव यह है कि कामोद्दीपन होने पर भ्रूमध्य में शंकर का ध्यान करने से जहां उनका ज्ञानरूपी तीसरा नेत्र है, हृदय में उदय होने वाला काम का ताप नाभि चक्र में उतर कर शान्त हो जाता है और अग्नि के पानी में बुझने से जो धुआं सा ऊपर उठता है, तद्वत् नाभि से हृदय में उठने वाली रोमांच की लता सी उठकर शांति प्रदान करती है।

(७७)

यदेतत्कालिन्दीतनुतरतरङ्गाकृति शिवे
कृशेमध्ये किञ्चिज्जननि तव तद्भाति सुधियाम् ।
विमर्दादन्योऽन्यं कुचकलशयोरन्तरगतं
तनुभूतं व्योम प्रविशदिव नाभिं कुहरिणीम् ॥

कठिन शब्द:— कालिन्दी=यमुना, कुहरिणी=कुं हरतीति कुहर, कुहं राति ददातीति वा, बिल, रंध्र, सर्पिणी ।

अर्थ:— हे शिवे, हे जननि ! यह जो यमुना की बहुत पतली तरंग के सदृश आकृति वाली (रोमावलि) तेरे कृश कटि भाग में किंचित दिख रही है, वह सद्बुद्धि वाले मनुष्यों को ऐसी जान पडती है, मानो तेरे कुच कलशों के बीच एक

दूसरे की रगड से पिस २ कर पतला होने पर आकाश तेरी नाभि के विल में अथवा नाभि में सर्पिणी की तरह प्रवेश कर रहा है।

यमुना नदी और आकाश दोनों का रंग श्याम है, इसलिये आकाश को यमुना की पतली तरंग से उपमा दी गई है।

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति मानी जाती है। प्रत्येक तत्व का अर्ध भाग और दूसरे आधे भाग में शेष चारों तत्वों का सम भाग मिलने से पंचीकरण द्वारा पांचों महाभूतों की रचना होती है। इसलिये मूलाधार में पृथिवी तत्व के साथ $\frac{1}{8}$ अंश जल, $\frac{1}{8}$ अंश अग्नि, $\frac{1}{8}$ अंश वायु और $\frac{1}{8}$ अंश आकाश रहता है, इसी प्रकार स्वाधिष्ठान में जल के साथ $\frac{1}{8}$ अंश प्रत्येक पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश का होता है, मणिपूर में अग्नि के साथ दूसरे चार तत्वों का प्रतितत्व $\frac{1}{8}$ अंश रहता है, हृदय में वायु के साथ चारों अन्य तत्व $\frac{1}{8}$ अंश में रहते हैं और विशुद्ध चक्र में आकाश का आधा भाग और अन्य तत्वों का अष्टांश रहता है। इसलिये विशुद्ध चक्रस्थ आकाश तत्व का संबंध नीचे के सब चक्रों से बना हुआ है, और विशुद्ध चक्र में आकाश का वेध होने के साथ ही नीचे के चक्रों के आकाश का भी वेध होना संभव है, उससे पूर्व नहीं। मानो भगवती के भारी कुचों के परस्पर रगडने से, चक्की के गले से उतरने वाले धान्य के सदृश,

विशुद्ध चक्र से आकाश नीचे उतरकर सिमटता हुआ नीचे गिर रहा है। आकाश तत्व के वेध की पिसाई से सुन्दर उपमा दी गई है। जिन योगियों को तत्ववेध की क्रिया का ज्ञान है, उनको ही यहां बुद्धिमान कहा गया है।

कालिन्दी अर्थात् यमुना सूर्य पुत्रि है। नाभि में उतरने वाली आकाश रूपी रोमावलि हृदय के सूर्य मण्डल से नीचे उतर रही है, इसलिये उसकी उपमा यमुना नदी की तरंग से दी जानी सर्वथा संगत है। और आकाश, रोमावलि और यमुना तीनों का वर्ण भी श्याम है। यमुना पिंगला नाडी को भी कहते हैं, जिसका संबंध प्राण से है और प्राण की क्रिया से ही षट् चक्र वेध होता है। इस अभिप्राय से भी कालिन्दी रूपी पिंगलागत प्राण की क्रिया से उनकी उपमा ठीक सिद्ध होती है।

(७८)

स्थिरो गङ्गाऽऽवर्तः स्तनमुकुलरोमावलिलता–
निजावालं कुण्डं कुसुमशरतेजोहुतभुजः।
रतेर्लीलाऽगारं किमपि तव नाभिर्गिरिसुते
बिलद्वारं सिद्धे र्गिरिशनयनानां विजयते॥

कठिन शब्द:— आवाल=गमला, कुसुमशर=कामदेव

अर्थ:— हे गिरि सुते! तेरी नाभि की जय है। उसकी उपमा नीचे दिये हुए किसी भी प्रकार से दी जा सकती है।

(१) गंगा का स्थिर भंवर, (२) तेरे स्तन रूपी विकसित पुष्पों को धारण करने वाली रोमावलि रूपी लता के उगने का गमला, (३) काम देव के तेज रूपी अग्नि को धारण करने वाला हवन कुंड. (४) रति का क्रीडा स्थल, अथवा (५) गिरीश शंकर के नयनों को सिद्धि प्राप्त करने के लिये तप करने की गुफा का द्वार।

(७९)

निसर्गक्षीणस्य स्तनतटभरेण क्लमजुषो
नमन्मूर्तेर्नाभौ वलिषु च शनैस्त्रुसत इव।
चिरंते मध्यस्य त्रुटिततटिनीतीरतरुणा
समावस्थास्थेम्नो भवतु कुशलं शैलतनये॥

पाठान्तर—**नारीतिलकशनकैस्त्रुट्यत इव।**

तिलक=तिलक और एक वृक्ष विशेष का नाम। शनकैः=शनैः

अर्थः— हे शैल तनये! तेरे मध्य भाग की सम अवस्था चिर कुशल रहे, जो स्वाभाविक ही क्षीण है और स्तन रूपी तट के भार से क्लान्त होने के कारण झुकी हुई तेरी मूर्ति के नाभि देश पर पडने वाली वलियों पर शनैः २ नदी के तट के वृक्ष के सदृश टूटता सा प्रतीत होता है।

यहां कटि का बहुत पतला होना और स्तनों का भारी होना दिखा गया है। ये दोनों स्त्रियों के सौन्दर्य के चिन्ह हैं।

(८०)

कुचौ सद्यः स्विद्यत्तट घटित कूर्पासभिदुरौ
कषन्तौ दोर्मूले कनककलशाभौ कलयता ।
तव त्रातुं भङ्गादलमिति वलग्नं तनुभुवा
त्रिधानद्धं देवि त्रिवलिलवलीवल्लिभिरिव ॥

कठिन शब्दः— कूर्पास=अंगिया, चोली । दोर्मूल=कांख, बगल, बलग्नं=जुडासा जोड, तनुभू=काम देव ।

हे देवि ! कांखों की रगड से झट २ पसीना आने के कारण जिनके किनारे पर से अंगिया फट गई है सुवर्ण कलश की आभा-युक्त तेरे कुच द्वय के हिलने से टूटने से बचाने के लिये अलम् अर्थात् पर्याप्त हैं इतना मात्र जुडा हुआ तेरा (कटि प्रदेश) मानो काम देव ने लवली वल्लि (एक प्रकार की बेल) से वल्लियों से तीन बार बांध रखा है ।

भाव यह है कि छाती का भाग भारी है और नीचे कटि प्रदेश इतना पतला है कि हिलने मात्र से टूट सकता है, परन्तु पेट की तीन बलियां ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो काम देव ने उसके सौन्दर्य की रक्षा करने के लिये लवली की बेल से तीन बार लपेट कर बांध रखा है । नहीं तो टूटने में कोई कसर नहीं जान पडती थी।

निंतव का ध्यानः—

(८१)

गुरुत्वं विस्तारं क्षितिधरपतिः पार्वति निजात्
नितम्बादाच्छिद्य त्वयि हरणरूपेण निदधे ।
अतस्ते विस्तीर्णो गुरुरयमशेषां वसुमतीं
नितम्बप्राग्भारः स्थगयति लघुत्वं नयति च ।।

कठिन शब्दः—हरणरुपेणं=दहेज,

अर्थः—हे पार्वति ! पर्वतराज हिमालय ने अपने नितंबों से काटकर अपना भारीपन और विस्तार तुझको दहेज में दिये थे, इसीलिये तेरे नितंब इतने विस्तीर्ण और भारी हैं, कि तेरे नितंब के भार से सारी पृथिवी की गति रुक गई है और तेरे विस्तार की अपेक्षा से पृथिवी छोटी दिखने लगी है ।

यदि पृथिवी को स्थिर मानें तो भगवती के उसपर बैठ जाने से उसकी गति रुक गई है और यदि उसे चल माने तो उसकी गति स्थगित होकर नियम बद्ध हो गई है । भाव यह है कि प्रकृति देवी ने पृथिवी को अपना आसन बना रखा है । और भूमि पर जो भी शोभा फैली हुई है, उसका सारा श्रेय पर्वतों को ही है, जिनकी देन रूपी स्रोत सारी पृथिवी को हरा भरा ही नहीं कर रहे, वरन् बडे २ देश उनके नितंबों से काटकर लाई हुई मिट्टी की ही कृपा है । अर्थात् भूमि की प्राकृतिक शोभा हिमाच्छादित पर्वतराज की ही तनुजा है ।

उरुयुगमका ध्यानः—

(८२)

करीन्द्राणां शुण्डान् कनककदलीकाण्डपटली-
मुभाभ्यामुरुभ्यामुभयमपि निर्जित्य भवती ।
सुवृत्ताभ्यां पत्युः प्रणतिकठिनाभ्यां गिरिसुते
विजिग्ये जानुभ्यां विबुधकरिकुम्भद्वयमपि ॥

कठिन शब्दः—पटली=पटं विस्तारं लाति आददाति,

अर्थः—हे गिरि सुते । आप अपने दोनों उरुओं से गजेन्द्रों के सूंडों को और सुवर्ण के बने हुए केले के लंबे स्थंबों को जीतकर, पति को प्रणाम करते २ कठिन हो गये हैं ऐसे दोनों सुन्दरगोल घुटनो से बुद्धिमान हाथीके दोनों (मस्तक के) कुंभों को भी पराजित कर रही हैं ।

जंघाओं का ध्यानः—

(८३)

पराजेतुं रुद्रं द्विगुणशरगर्भौ गिरिसुते
निषङ्गौ जङ्घे ते विषमविशिखो बाढमकृत ।
यदग्रे दृश्यन्ते दशशरफलाः पादयुगली-
नखाग्रच्छद्मानः सुरमकुटशाणैकनिशिताः ॥

कठिन शब्दः—निषङ्ग=तरकस, विशिखः=शर, बाण; विषम विशिखः=कामदेव

अर्थः—हे गिरि सुते ! तेरी दोनों पिंडलियां रुद्र को जीतने के लिये दुगुने बाणों से भरे कामदेव के दो तरकसों के समान हैं। जिनके अग्रफल पैरों की १० अंगुलियों के नखों के अग्र भाग के रूप में दस दिख रहे हैं, जो देवताओं के मुकुट रुपी सान पर पैनाए गये हैं।

भाव यह है कि कामदेव के तरकस में केवल ५ पुष्प बाण हैं, उनसे वह शंकर को नहीं जीत सका, इसलिये उसने भगवती के चरणों की अंगुलियों के नख रुपी फल वाले १० और बाण अपनी सहायता के लिये लेलिये हैं, जो दोनों पिंडलियों रुपी तरकसों में पांच २ रखे हैं। इन बाणों के फल वत् नखों के अग्रभाग देवताओं के प्रणाम करते २ उनके मुकुट रुपी सान पर घिसर कर पैने हो गये हैं।

कामदेव के ५ बाण शब्द स्पर्श रुप रस गंध ५ विषय हैं। भगवती के चरणों में ५ सामान्य और ५ दिव्य शब्द स्पर्श रूप रस गंध सहित १० बाण हैं। योगदर्शन में दिव्य विषयों का वर्णन (१-३५) सूत्र में मिलता है। '**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबंधिनी**'। (१-३५) विषयों की दिव्य प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर मन की स्थिरता का उदय होता है। इसलिये भगवती के चरणों के नखों का ध्यान योगी को सामान्य और दिव्य भोग देकर चित्त को एकाग्रता प्रदान करता है। मानों कामदेव के ५ बाणों के स्थान पर भगवती के चरणों की शरण लेकर दस बाणों से शंकर को जीतना चाहता है, परन्तु मन की एकाग्रता हो जाने से मनुष्य स्वयं शिवस्वरूप हो जाता है।

इसलिये—

(८४)

श्रुतीनां मूर्धानो दधति तव यौ शेखरतया
ममाप्येतौ मातः शिरसि दयया धेहि चरणौ ।
ययोः पाद्यं पाथः पशुपतिजटाजूटतटिनी
ययोर्लाक्षालक्ष्मीररुणहरिचूडामणिरुचिः ॥

कठिन शब्द— पाथ=जल, तटिनी=नदी, चूडा=केश, शेखर=चोटी, रुचि=कान्ति ।

अर्थ— हे मां ! तेरे चरण जो श्रुतियों की मूर्धा पर शिखरवत् रखे हैं, दया करके उनको मेरे शिर भी रख दे, जिनका चरणोदक शंकर की जटाजूट से निकली हुई गंगा है, और जिनके तलवों में लगी लाक्षा की कान्ति हरि के चूडा में (केशों में) धारण की हुई अरुण मणि की कान्ति के सदृश है ।

(८५)

नमोवाकं ब्रूमो नयनरमणीयाय पदयो—
स्तवास्मै द्वन्द्वाय स्फुटरुचिरसालक्तकवते ।
असूयत्यत्यन्तं यदभिहननाय स्पृहयते
पशूनामीशानः प्रमदवनकङ्केलितरवे ॥

कठिन शब्द—अलक्तक=लाक्षा, कङ्केलि=अशोक, असूयति=ईर्ष्या करते हैं ।

अर्थ—हम तेरे इन दोनों चरणों को प्रणाम करते हैं, जो नयनों को रमणीय हैं, और जिन पर लाक्षा की तीव्र कान्ति चमक रही है। जिनके अभिहनन की स्पृहा से पशुपति तेरे प्रमदावन के अशोक वृक्ष से अनन्य असूया रखते हैं।

ऐसा कहते हैं कि पद्मिनी स्त्री के पद प्रहार से अशोक वृक्ष प्रसन्न होता है। इस श्लोक में यह भाव है कि भगवती की वाटिका के अशोक वृक्ष को भगवती के पद प्रहार का सौभाग्य सदा प्राप्त है, इसलिये पशुपति उससे ईर्ष्या रखते हैं, क्योंकि उनको भी भगवती के चरण प्रहार की स्पृहा है। अशोक का अर्थ वीत शोक अथवा शोक रहित है। और पशुपति भी वीतशोक होने के कारण अशोक हैं। जीवों को पशु कहते हैं, क्योंकि वे संसार की आसक्ति स्वरूप राग पाश में बंधे हैं। शिव को इसी अभिप्राय से पशुपति कहा जाता है।

> पाशवद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।
> पाशवद्धः पशुप्रोक्तः पाशमुक्तः पशुपतिः॥

प्रत्येक मनुष्य में जीव भाव और शिव भाव साथ २ रहते हैं। जैसा कि भगवान गीता में कहते हैं—

> उपद्रष्टानुमन्ताच भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
> परमात्मेतिचाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

वेदानुवचन भी हैं 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' 'असंगोयमात्मा' इत्यादि।

इसलिये बद्धजीव का अन्तरात्मा रूपी शिव सदा अनंग होने पर भी भगवती के पद प्रहार से अपने को शोक रहित अनुभव करने की सदा स्पृहा किया करता है।

(८६)

मृषा कृत्वा गोत्रस्खलनमथ वैलक्ष्यनमितं
ललाटे भर्तारं चरणकमले ताडयति ते ।
चिरादन्तःशल्यं दहनकृतमुन्मूलितवता
तुलाकोटिक्वाणैः किलिकिलितमीशानरिपुणा ॥

कठिन शब्द— मृषाकृत्वा=झूठा करके, गोत्र=वंश, पहाड़, नाम, अथवा गां इन्द्रियं त्रायते इति गोत्र। स्खलन=गिरावट, फिसलना। वैलक्ष्य=लज्जा, स्वभाव का परिवर्तन, लक्ष्य से हटना। शल्यं=बाण, अन्तर्दाह। उन्मूलितवता=जड़ से उखाड़ता हुआ, सर्वथा नष्ट करता हुआ। तुलाकोटि=मंजीरा, नूपुर, तराजू के पलड़ों की आकृति वाला। क्वाणैकिलिरतं=घंटियां, मंजीरा, अथवा नूपुरों के बजने का शब्द। ईशानरिपु=शिव का शत्रु, काम। भर्ता=पालने वाला, पति।

सामान्य अर्थ—तेरे गोत्र का अपमान करने से लज्जित नीचे नेत्र किये हुए भर्तार के ललाट पर तेरे चरण कमलों का ताडन होने पर इशानरिपु (कामदेव) ने जिसको चिरकाल से जलाया जाने के कारण अन्तर्दाह था उसे निकालते हुए अपना बदला देखकर, तेरे नूपुरों के बजने के क्वणत्कार की किल-किलाहट रूपी हर्ष ध्वनि की।

पूर्व श्लोक में शिवजी को भगवती के चरणों के ताडन की स्पृहा दिखाकर, इस श्लोक में यह दिखाया गया है कि भगवती ने भर्तार के ललाट पर चरण कमलों से लात मारकर उनकी इच्छा पूरी की। इसका सामान्य अर्थ श्रृंगार रस पूर्ण है और श्रृंगार रस के प्रेमी जन प्रेयसी के चरणस्पर्श करना, अथवा उसके पद्प्रहारों से प्रसन्न होना श्रृंगार-रस की विशेषता मानते हैं। श्रीकृष्ण भगवान से भी राधिका के भक्त गण उनके चरण पलोटन कराने में अपनी उपासना की उत्कृष्टता समझते हैं। परन्तु आपत्ति जनक विषय तो यह है कि क्या ९७ श्लोकोक्त सतीत्व की चरम सीमा पति के ललाट पर पद् प्रहार करने में होती है। ऐसे विरुद्ध भावों का समन्वय कैसे किया जा सकता है? इसलिये हम इसका कूटार्थ योगपर दिखाने का नीचे यत्न करते हैं। सामान्य भाव तो यह ही है कि शंकर जिन्होंने काम को भस्म कर दिया, वह भी पत्नि की लातें खाकर काम के उपहास्यास्पद बनते हैं।

इस श्लोक का दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है। गोत्र का-अर्थ इन्द्रिय संयम किया जा सकता है, अर्थात् 'गां त्रायते इति गोत्रम्' इसलिये गोत्रस्खलनं से इन्द्रिय संयम की गिरावट अथवा इन्द्रिय संयम से च्युत होना है, उसको मृषाकृत्वा अर्थात् झूटा करने से इन्द्रिय संयम की कमी को पूरा करने का अभिप्राय है वैलक्ष्यनमितं उस दृष्टि को कहते हैं, जिसमें लक्ष्य रहित दृष्टि नीचे को झुकी होती है। शांभवी मुद्रा में भी नेत्रों की मुद्रा ऐसी ही रहती है। जिसमें अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि होने से दृष्टि लक्ष्य रहित हो जाती है, और नेत्र अर्धोन्मीलित से खुले रहते हैं, जालंधर

बंध लग जाने से शिर भी आगे को झुक जाता है और चिबुक कंठ कूप पर जा लगती है, उस समय दृष्टि नीचे की ओर झुक जाती है और उसे वैलक्ष्य नमित कह सकते हैं। इन्द्रिय संयम युक्त जालंधर बन्ध लगने पर शांभवी मुद्रा का फल यह होता है कि शक्ति का उत्थान होकर वह झट आज्ञा चक्र के ऊपर चढ़ जाती है, अर्थात् आज्ञा चक्रस्थ शिव के ललाट पर पदारोपण करती हुई सहस्रार में प्रवेश करने को उतावली हो उठती है। भर्तार पद से देहाभिमानी देह का पोषण करने वाला भर्ता ही महेश्वर है।

उपद्रष्टानुमन्ताच भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः ॥ गीता

क्योंकि आज्ञा चक्र तक ही देहाभिमान रहता है, उसके ऊपर चित्त की अवस्था उन्मुन्याभिमुखी होने लगती है और देहाभिमान शिथल होने पर भर्ता शब्द की उपयुक्तता कम होने लगती है।

शंकर भगवत्पाद ने स्थान २ पर भगवती के अंग प्रत्यंग की सुन्दरता का वर्णन करते समय उसके हावभावों में कामदेव का सहयोग दिखाया है, मानो कामदेव सदा भगवती का आश्रय लेकर अपना कार्य करता रहता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भगवती कामदेव की ही प्रति मूर्ति है। कादि विद्या का प्रथम अक्षर ककार है, जिससे ब्रह्म की आदि काम रूपा शक्ति अभिप्रेत है। उसकी त्रिपुरतापिन्युपनिषद् में इस प्रकार व्याख्या मिलती है।

स एको देवः शिव रूपी दृश्यत्वेन विकासते, यतिषु, यज्ञेषु, योगिषु कामयते। कामं जायते। स एष निरंजनोऽका-

मत्वेनोज्जृम्भते, अकचटतपयशान् सृजते । तस्मादीश्वरः कामोऽभिधीयते, तत्परिभाषया कामः ककारं व्याप्नोति ।

अर्थः—वह एक शिव रूपी देव दृश्य के रूप में विकसित होता है । यतियों में, यज्ञों में, योगियों में कामना करता है । इस प्रकार काम उत्पन्न होता है । वह निरंजन कामना रहित ब्रह्म जंमुहाई लेता है (विकसित होता है ।) अ वर्ग, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य वर्ग और श वर्ग की सृष्टि करता है । इसलिये ईश्वर को काम कहते हैं । उसकी परिभाषा करने से काम ककार में व्यापक माना जाता है ।

सृजन शक्ति आद्योपान्त काम शक्ति ही है, सामान्य इच्छा के रूप में उसे कामना कहते हैं और प्रजनन वासना को काम वासना कहते हैं । वह शिव की प्रभवाभिमुखी शक्ति है । परन्तु जब वह प्रति प्रसव रूपा होती है, तब उसे शिवा कहते हैं । प्रभव और लय क्रम दोनों उसके विपरित भाव होने के कारण एक दूसरे के प्रति-बन्ध और शत्रु हैं । समाधि काल में काम शिव का शत्रु हैं, परन्तु सृष्टिकाल में वह ही शक्ति के रूप में शिव की अर्धांगिनी का सहयोगी बन जाता है । समाधि काल में जिस काम को शंकर अपने तीसरे नेत्र को खोलकर भस्म कर देते हैं, वह ही उनके प्रभवाभिमुख होने पर मानो उनका उपहास करता है । भगवती के नूपुरों के शृंगार रस परिपूर्ण क्वण २ शब्द की ध्वनि में मानों कामदेव के उक्त उपहास का व्यंग व्यक्त हो रहा है । नृत्य के समय नूपुर ध्वनि अथवा गान वाद्य के साथ मंजीरों का

बजना, जो ध्यान समाधि के प्रतिपक्षी हैं, कामदेव की प्रसन्नता को व्यक्त करने वाले हास्य की किलकिलाहट सदृश्य हैं।

मन के लय और व्युत्थान का स्थान आज्ञा चक्र के ऊपर है। अनाहत् में ईश्वर, विशुद्ध में सदाशिव और आज्ञा में शिव का स्थान है। शांभवी मुद्रा को समाधि का द्वारोद्‌घाटन कहना चाहिये। व्युत्थान के समय जब शक्ति नीचे उतरती है तब मानो शिव के ललाट पर पद प्रहार करती हुई नीचे उतरती है, और उसके नूपुरों के शब्द में कामदेव के हास्य की प्रति ध्वनि बताई गई है। शांभवी मुद्रा के अभ्यासी को काम वासना रूपी अन्तर्दाह का उन्मूलन हो जाता है।

(८७)

हिमानीहन्तव्यं हिमगिरिनिवासैकचतुरौ
निशायां निद्राणं निशि च पर भागे च विशदौ।
परं लक्ष्मी पात्रं श्रियमतिसृजन्तौ समयिनां
सरोजं त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिह किम् ॥

अर्थ—हे जननि ! तेरे दोनों चरण कमल पर जय प्राप्त कर रहे हैं, इसमें आश्चर्य क्या है ? क्योंकि कमल बरफ से मर जाता, तेरे चरण हिमगिरि पर निवास करने में कुशल हैं। कमल रात को सो जाता है, तेरे चरण दिन रात विशद रहते

हैं; वह दिन में लक्ष्मी का पात्र रहता है और तेरे चरण समयाचार के उपासकों को खूब लक्ष्मी देते हैं ।

अर्थात् तेरे चरणों को कमल की उपमा कैसे दी जा सकती है? कदापि नहीं दी जा सकती ।

(८८)

पदं ते कीर्त्तीनां प्रपदमपदं देवि विपदां
कथं नीतं सद्भिः कठिनकमठीखर्परतुलाम् ।
कथंचिद्बाहुभ्यामुपयमनकाले पुरभिदा
यदादाय न्यस्तं दृषदि दयमानेन मनसा ॥

अर्थ—हे देवि ! तेरा पद कीर्तियों का प्रपद (स्थान) है और विपदाओं का अपद है । न जाने सत्पुरुषों ने उसकी तुलना कछुवे की कठिन खोपरी से कैसे की है, वह इतना कोमल है कि विवाह के समय पुरारि ने दयार्द्र मन से किसी प्रकार (अर्थात् बडी हिचकिचाहट और बडे संकोच के साथ) दोनों हाथों से उठाकर उसे पत्थर पर रखा था ।

विवाह में फेरों या भांवरों के समय वर वधू के एक चरण को अपने हाथों से उठाकर पत्थर पर रखकर कहता है, कि हे देवि ! तू धर्म पालनार्थ अपना चित्त इतना दृढ रखना जैसा यह पत्थर है ।

कैवल्यशर्मा का मत है कि यह श्लोक मद्रास की भाषाओं की प्रतियों में नहीं मिलता, इसलिये क्षेपक है।

(८९)

नखैर्नाकस्त्रीणां करकमलसंकोचशशिभि-
स्तरूणां दिव्यानां हसत इव ते चण्डि चरणौ।
फलानि स्वःस्थेभ्यः किसलयकराग्रेण ददतां
दरिद्रेभ्यो भद्रां श्रियमनिशमह्नायददतौ॥

कठिन शब्द— नाक=स्वर्ग, किसलय=पत्र, पल्लव, अह्नाय= तुरन्त, स्वःस्थ=स्वावलंबी, स्वर्ग निवासी, अनिशं=निरन्तर।

अर्थ—हे चण्डि ! तेरे दोनों चरण अपने नखों से कल्पवृक्षों का परिहास सा कर रहे हैं, जो नख देवांगनाओं के कर रूपी कमलों को (हाथ जोड़ते समय) बंद करने के लिये संख्या में १० चन्द्रमा सदृश हैं। कल्पवृक्ष तो स्वर्ग में रहने वाले स्वावलंबी देवताओं को अपने पल्लव रूपी कराग्रों से फल देते हैं, परन्तु तेरे चरण दरिद्रियों को निरन्तर, तुरन्त और बहुत धन देते रहते हैं।

कल्पवृक्ष से स्वर्ग निवासियों को ही लाभ है, यहां के दरिद्रियों को कुछ नहीं।

(९०)

ददाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमाशाऽनुसदृशी-
ममन्दं सौन्दर्यप्रकरमकरन्दं विकिरति ।
तवास्मिन्मन्दारस्तबकसुभगे यातु चरणे
निमज्जन्मज्जीवः करणचरणः षट्चरणताम् ॥

कठिन शब्द— करण चरणः=इन्द्रियों रूपी चरण वाला, षट्चरण=भौंरा, मधुकर ।

अर्थः—इस तेरे चरण में जो मंदार वृक्ष के पुष्पों के स्तबक जैसा सुन्दर है, मेरा ५ ज्ञानेन्द्रिय और १ अन्त: करण रुपी ६ चरण वाला यह जीव छः चरणों वाला मधुकर बनकर डूबा रहे । तेरा चरण जो दीनों को उनकी आशा के अनुसार निरन्तर लक्ष्मी देता रहता है, और सौन्दर्य राशि के मकरन्द को खूब फैलाता रहता है और मन्दार के पुष्पों के स्तबक सदृश सुभग है ।

अर्थात् मैं भौंर की तरह तेरे चरण कमल पर अपना सर्वस्व मनसा, वाचा कर्मणा सब इन्द्रियों और मनके व्यापारों को समर्पण करदूं ।

चरणों की गति का ध्यान:—

(९१)

पदन्यासक्रीडापरिचयमिवारब्धुमनस–

श्चरन्तस्ते (स्खलन्तस्ते) खेलं भवनकलहंसा न जहति ।

अतस्तेषां (स्वविक्षेपे) शिक्षां सुभगमणिमञ्जीररणित–

च्छलादाचक्षाणं चरणकमलं चारुचरिते ॥

कठिन शब्द:—आचक्षाणः=बातें करता हुआ

अर्थ:—हे चारु चरिते ! ऐसा प्रतीत होता है कि तेरे भवन के राजहंस चलते समय तेरे पदन्यास क्रीडा (चाल) का परिचय प्राप्त करने को तेरे खेल का त्याग नहीं करते । (अर्थात तेरे पीछे २ तेरी तरह कदम उठाकर चलते हैं, और वे इस खेल का त्याग नहीं करते , और तेरे चलते समय चरण कमलों में लगी मणियों युक्त नूपुरों की झङ्कार का शब्द मानो उनको चलने की शिक्षा का उपदेश कर रहा है ।

स्त्रियों की चाल की हंसगति से उपमा दी जाया करती है, परन्तु भगवती की चाल से हंस स्वयं चलने की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं । दूसरा भाव यह भी है कि परमहंस महापुरुषों की उन्मत्त गतिविधि में शक्ति की क्रीडा युक्त मस्तीभरी चाल का आभास रहता है । जीवनमुक्त परम हंस ही भगवती के भवन के राजहंस हैं ।

पलंग का ध्यानः—

(९२)

गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरभृतः
शिवः स्वच्छच्छायाघटितकपटप्रच्छदपटः ।
त्वदीयानां भासां प्रतिफलनरागारुणतया
शरीरी शृङ्गारो रसइव दृशांदोग्धि कुतुकम् ॥

कठिन शब्दः—प्रच्छदपट=चादर, दृशां=दृष्टि को, दोग्धि=दुहता है, कुतुकं=कौतुहल

अर्थः—ब्रह्मा हरि रुद्र और ईश्वर द्वारा रक्षा किये जाने वाले (क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत् चक्र) तेरे मंच के चार पाये हैं, अर्थात् चारों तेरा मंच बनाते हैं उसपर बिछी हुई स्वच्छ छाया की बनी हुई कपट रुपी माया की चादर शिव है, जो तेरी प्रभा के झलकने के कारण अरुण दिख पडने से एसी प्रतीत होती हैं कि मानो शृङ्गार रस शरीरी बनकर दृष्टि में कुतूहल उत्पन्न कर रहा है ।

शिव शक्त्यात्मक प्रथम स्पन्द आज्ञा चक्र में, सदाख्य अर्थात् अर्धनारीश्वर शिव विशुद्ध में, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा क्रमशः नीचे के चारों चक्रों के आधिदेव हैं । रुद्र विष्णु और ब्रह्मा शुद्ध विद्या के अन्तर्गत है और जीव (पुरुष) माया के अन्तर्गत है और अन्य २४ तत्त्वों का संघात् रुपी देह अशुद्धविद्या के अन्तर्गत है ।

अशुद्धविद्या के रूप को सुप्त कुण्डलिनी कहा जा सकता है। जागकर वह सब तत्त्वों की शुद्धि करती हुई विशुद्ध चक्र में अपने विशुद्ध रूप में विराजने लगती है। यह हम ऊपर भी एक स्थान पर कह आये हैं कि प्रसुप्त अवस्था में शक्ति का स्थान मूलाधार के पास सुषुम्ना से बाहर है और जागकर सुषुम्ना के भीतर स्वाधिष्ठान चक्र में, परन्तु विशुद्ध स्वरूप में वह विशुद्धिचक्र में रहती है। इस श्लोक में भगवती के इस रूप का ही वर्णन है।

इस श्लोक के साथ ३७ वें श्लोक को एक बार फिर पढ़ लेना चाहिये। व्योमेश्वर और व्योमेश्वरी का यहां चित्र खेंचा गया है। शिव को यदि स्वच्छ छाया वटिन आकाशमयी मायावी चादर सदृश समझा जाय तो शक्ति को उसमें स्फटिकवत् झलकने वाली अरुणिमा समझना चाहिये।

श्री चक्र को भी भगवती का मंच कहा जा सकता है। ईशान् कोण में ईश्वर, अग्नि कोण में रुद्र, नैऋत्य कोण में विष्णु और वायव्य कोण में ब्रह्मा समझना चाहिये। अथवा पूर्व में ब्राह्मी (ईश्वरी) मातृ देवता, दक्षिण में रौद्री मातृ देवता पश्चिम में कौमारी मातृ देवता और उत्तर में वैष्णवी अर्थात् प्रत्येक की शक्ति को देव के वाम ओर में देखना चाहिये, जो चारों द्वारों पर स्थित हैं। श्री चक्र को आकाश रूपी स्फटिक का बना हुआ समझना चाहिये। उस पर शिव रूपी चादर है और अरुणिमा रूपी शक्ति है। वैन्दव स्थान पर शक्ति का आसन है। श्री चक्र की रश्मियां दसों दिशाओं में भुक्ति मुक्ति सहित अणिमादि सिद्धियों के रूपों में फैल रही हैं।

यहां तक भगवती के अंगों का पृथक २ ध्यान बताया जाकर इस श्लोक में पूरे शरीर का ध्यान कहा गया है।

(९३)

अराला केशेषु प्रकृतिसरला मन्दहसिते
शिरीषाभा [1]गात्रें दृषदिव कठोरा कुचतटे।
भृशंतन्वी मध्ये [2]पृथुरपिवरारोह विषये
जगत् त्रातुं शंभोर्जयति करुणा काचिदरुणा॥

पाठान्तरः— **१ चित्तेदृषदुपलशोभा, २ पृथुरुरसिजारोह**

कठिन शब्द—अराला=कुटिल, पृथु=भारी, बड़ा, वरारोह=सुन्दर नितंब, उपल=रत्न, उरसिज=कुच, काचित्=कचते (प्रकाशित इति) काचित, चमकती हुई अथवा काच के सदृश, अथवा कोई भी जिसको हम नहीं जान सकते। करुणा काचिदरुणा=करुणा का अर्थ काचित् अरुणा किया जाना चाहिये।

अर्थः—शंभु की करुणा (अर्थात दया) की, जगत की रक्षा करने के लिये मानों जो काचित अरुणा है सर्वत्र जय हो रही है। जिसके अर्थात् अरुणा भगवती के केश स्वाभाविक सरलता लिये हुए घूंघराले अर्थात कुटिल हैं, मन्द २ हंसी मुख पर है, गात्र अथवा चित्त सिरस की आभा लिये हुए है, कुच पत्थर सदृश कठोर है (अथवा स्फटिक की शोभा युक्त हैं) मध्य में कटिभाग अति पतला है और नितंब भारी हैं (अथवा

कुचों का उठाव भारी है) पाठान्तर को ग्रहण करने में शरीर के स्थान पर चित्त और नितंब के स्थान पर कुचों का दुबारा वर्णन हो जाता है । चित्त को स्फटिक से उपमित तो किया जा सकता, परन्तु देह की शोभा का वर्णन किया जाना अधिक उपयुक्त दिखता है, और कुचों को दोबारा न बताकर नितंबों का भी वर्णन आना अत्यावश्यक है, इसलिये हमने पाठान्तरों को पृथक दिखा दिया है ।

शंभु की करुणा और अरुणा दोनों एक ही हैं । अरुणा भगवती का एक नाम है और उसके अरुण वर्ण के कारण प्रसिद्ध है । करुणा भी ककार पूर्वक अरुणा ही है, इसलिये ककार से काचित् का भाव व्यक्त होता है । काचित् का अर्थ 'कोई' होने से करुणा को अरुणा का एक अंश समझना चाहिये । अर्थात् पराशक्ति अरुणा जिसको कोई नहीं जान सकता वह शंभु की करुणा के रूप में ही जानी जा सकती है । दूसरा भाव यह भी है कि शंभु के स्फटिक अथवा कांच सदृश स्वच्छ शरीर में प्रतिफलित होने वाली अरुणिमा ही भगवती अरुणा की छवी करुणा के स्वरूप में दिख रही है । कुटिलता, हिंसा, और कठोरता करुणा के विरोधी भाव होते हैं । दया का मन्द पडना भी एक कमी का लक्षण है, और किसी भाव का तनु होना उसके क्षीण होने का पूर्व रूप है । इसलिये शंभु की करुणा में कुटिलता हिंसा, कठोरता, मन्दपना और तनु का भाव नहीं होना चाहिये, क्योंकि शंभु की करुणा के रूप में जगत की रक्षा के लिये ही अरुणा ने यह रूप धारण किया है । अराल का अर्थ कुटिल होता है परन्तु कुटिलता भगवती के केशों की

शोभा बढा रही है। शंभु की करुणा कभी मन्द नहीं पडती, परन्तु मन्दपना हंसी में रहकर करुणा की वृद्धि करता है। शिरीष की व्युत्पत्ति 'शॄ' धातु से है (शॄ हिंसायां शृणाति शीर्यते वा इति शिरीषः) अर्थात् जो काटा जाता है, अथवा जो फैलता है वह शिरीष कहलाता है। शिरीष अथवा सिरस एक वृक्ष का नाम है जो कल्याण का सूचक है। अर्थात् भगवती में हिंसा का भाव ऐसा है जैसा कि सिरस में, क्योंकि भगवती का शरीर सिरस की आभायुक्त है जो सारे जगत का कल्याण करने को सदा तत्पर रहता है। जैसे कुटिलता को भगवती ने केशों में धारण कर के उनकी शोभा को बढाया है, और फिर भी पीठ पर पीछे की ओर फैंक दिया है, इसी प्रकार कठोरता भी दया का विरोधी भाव है, उसे भगवती ने अपने पयोधरों में धारण कर लिया है। दूध पिलाकर पोषण करने वाले स्तनों में कठोरता रहने पर भी बे दयाद्रता से टपकते रहते हैं, क्योंकि भगवती का सारा शरीर शिरीष वृक्षवत् कल्याणवपुः है। शंभु की करुणा में कुटिलता, हिंसा और कठोरता के विरोधी भावों को स्थान कहां, वे इतने दयालु हैं कि उनकी करुणा में कभी कमी नहीं आती, वह सदा सर्वदा पूर्ण है, फिर तनु अथवा क्षीण होने की तो संभावना ही कैसे हो सकती है। इसलिये वह पृथु अर्थात् महती करुणा है। पृथु भाव भगवती ने नितंबों में धारण किया हुआ है। नीचे नितंब भाग का भारीपन स्थिरता का द्योतक है, अर्थात् शंभु की करुणा नित्य है। परन्तु भगवती का कटि प्रदेश अति तनु भी है, यद्यपि यह स्त्रियों की शोभा का एक लक्षण है, तो भी करुणा का मध्य भाग तनु होने से उसके क्षीण होने की संभावना की भ्रांति हो सकती है,

परन्तु यह बात नहीं है। कटि प्रदेश में मणिपूर चक्र रुद्र का स्थान होने से, भगवती में रुद्र का रौद्र भाव अर्थात् क्रोध अति *तनु हो गया है, अर्थात् क्षीणवत् तनु है। मानो भगवती ने रुद्र के रौद्र भाव को मेखला सदृश कस रखा है।

अभिप्राय यह है कि भगवती का शरीर मानो शंभु की दया का अवतार है, जो जगत की रक्षा करने के लिये अवतीर्ण हुआ है।

इस श्लोक में यह भाव भी प्रतीत होता है कि सद्गुरु स्वरूप शिव के अनुग्रह से जो शक्ति की जागृति होती है, और उपरोक्त करुणा के स्वरूप में साधक गण उसे अपने अन्तर में अनुभव करते हैं, वह शंभु की करुणा है। अर्थात शिव स्वरुप गुरु का अनुग्रह शंभु का ही अनुग्रह है, जिससे शिष्य में शक्ति का उत्थान होता है। इसलिये गुरु कृपा, शक्ति की अभिव्यक्ति और शंभु की करुणा तीनों पर्यायवाची हैं।

भगवती के शृङ्गारर्थ दर्पण का ध्यान

[९४]

समानीतः पद्भ्यां मणिमुकुरतामम्बरमणि-
र्भयादास्यादन्तःस्तिमितकिरणश्रेणिमसृगः।
दधातित्वद्वक्त्रप्रतिफलनमश्रान्तविकचं
निरातंकं चन्द्रान्निजहृदयपंकेरुहमिव ॥

कठिन शब्द:—मसृणः=चिकना, स्वच्छ; विकचं=प्रफुल्लित, विकसित्, खिला हुआ; निरातंक=आतंकरहित, निडर, बिना भय के।

* नोटः—देखें योग दर्शन सूत्र (२, ४) में ५ क्लेशों की प्रसुत, तनु, विच्छिन्न और उदार चार अवस्थायें।

अर्थः—अंबर मणि अर्थात् सूर्य तेरे चरणों के समीप होने पर मुकुर (दर्पण) का काम दे रहा है। तेरे मुख के भय से उसने अपनी किरणों के समूह को अन्दर छुपा लिया है, इसलिये वह स्वच्छ है और तेरे मुख का प्रतिबिंब उसके हृदय कमल के सदृश सदा विकसित है (क्योंकि तेरा मुख कमल सदा विकसित रहता है और वह उसका प्रतिबिंब है), और उसको चन्द्रमा का भय नहीं है। (कमल सूर्य को देख कर खिलता है और रात्रि में मुरझा जाता है मानों उसे चन्द्रमा से भय लगता है)।

यहां पर सूर्य को दर्पण से उपमा देकर, उसमें प्रतिबिंबित भगवती के मुख कमल को उसके विकसित हृदय कमल से उपमित किया गया है। अनाहत् चक्र का स्थान हृदय है, और वह सूर्य-मंडल का स्थान है। अनाहत् चक्र की १२ पंखडियां १२ आदित्य मानी जाती हैं। इसलिये हृदयस्थ सूर्य मंडल भगवती के चरणों के समीप मुकुरवत् रखा हुआ है। ९२ श्लोक में भगवती को जिस मंच पर बिठाया गया है, वह विशुद्ध चक्र है और हृदय चक्र उसके नीचे है और आज्ञा चक्रस्थ चद्रमंडल ऊपर है। दर्पण स्वच्छ होना चाहिये, यदि सूर्य की किरणें उसको ढकलेती हैं तो वे मुकुर को मलीनवत् करके मुख के प्रतिबिंबित् होने में बाधक होती हैं। परन्तु भगवती के मुख का तेज सूर्य के तेज से भी अधिक है अथवा उसका तेज भगवती के तेज से ही प्रकाश पाता है, इसलिये सूर्य ने भगवती के मुख के भय से अपनी किरणों को अन्तःस्तिमित् कर

लिया है। और भगवती का प्रफुल्लित मुख कमल उसमें दिखने लगा है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

(गीता १५, १२)

भगवती का मुख कमल के सदृश है, इसलिये उसका प्रतिबिंब सूर्य के हृदय कमलवत् जान पडता है। कमल रात्रि में संकुचित हो जाता है और दिन में ही खिलता है। इसलिये ऊपर आज्ञाचक्र में चन्द्र मंडल दिखने से उसके बंद हो जाने की यदि आशंका की जाय तो वह उचित नहीं है, क्योंकि भगवती के तेज से ही चन्द्र-मण्डल चमकता है और उसके प्रतिबिंब को चन्द्रमा से कोई भय नहीं हो सकता।

कठवल्ली (६,५) की 'यथादर्षे तथात्मनि' इत्यादि श्रुति पर भाष्यकार भगवत्पाद लिखते हैं कि जैसे मल रहित दर्पण में मनुष्य को अपना प्रतिबिंब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है वैसे ही तमोगुण और रजोगुण से शुद्ध होने पर बुद्धि रूपी निर्मल आदर्श पर आत्मतत्त्व का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखा करता है। अर्थात् योगियों को प्रत्यक्ष होने वाला हृदय पुरुष परमतत्त्व का प्रतिबिंब है, जो उर्द्ध्वोन्मीलित सूर्य और अधोन्मीलित चन्द्र के योग से योगियों के हृदय में सदा क्रीडा किया करता है। अथवा वह शक्ति का ही रूप है जो योगियों के हृदयस्थ सूर्यमण्डल रूपी मुकुर में परमतत्त्व का प्रतिबिंब मात्र है।

लक्ष्मीधर के मतानुसार श्लोक ९४, ९९ और १०२ तीनों क्षेपक हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कैवल्य शर्मा के मत से श्लोक ८८ क्षेपक है। शंकर भगवत्पाद ने पूरी शतश्लोकी लिखी थी इसलिये ३ श्लोक क्षेपक होने चाहिये अर्थात् उक्त चारों में एक श्लोक क्षेपक नहीं है। हमारी समझ में यह ९४ वां श्लोक क्षेपक नहीं माना जाना चाहिये, क्योंकि इसकी पूर्व संगति ९२ श्लोक से और उत्तर संगति ९५ श्लोक से स्पष्ट है। शृङ्गार के लिये यदि ९५ श्लोकोक्त शृङ्गार का डिब्बा पास में दिखाया जाता है तो शृङ्गार के आवश्यक साधन मुकुर को क्यों नहीं स्थान दिया जाना चाहिये। शृङ्गार के लिये शृङ्गार का डिब्बा जितना अनिवार्य है उतना आवश्यक मुकुर भी है।

शृङ्गार के डिब्बे का ध्यान:—

(९५)

कलङ्कः कस्तूरी रजनिकर बिम्बं जलमयं
कलाभिः कर्पूरैर्मरकतकरण्डं निबिडितम्।
अतस्त्वद्भोगेन प्रतिदिनमिदं रिक्तकुहरं
विधिर्भूयो भूयो निबडयति नूनं तव कृते॥

कठिन शब्द:—मरकत=एक हरे रंग की मणि; करण्ड=डिब्बा, पिटारी; निविडितं=भरा हुआ; कुहरं=डिब्बे के भीतर का पोलापन।

अर्थ:—चन्द्र बिंब एक मरकत मणि के बने हुए डिब्बे के सदृश है, उसका कलङ्क (काला धब्बा) किस्तूरी का काला

रंग है और चमकती हुई कलायें कपूर सदृश हैं। दोनों को जल में पीसकर तेरे आभोग के लिये डिब्बे में भरकर रखा हुआ है, जो प्रतिरात्रि खर्च होता रहता है और ब्रह्मा उसे फिर दिन में बार २ भरता रहता है।

नीचे चरणों के पास सूर्यमण्डल, और ऊपर विशुद्ध चक्र में १६ कलायुक्त चन्द्रमण्डल दोनों भगवती के शृङ्गार के साधन हैं। सूर्यमण्डल यदि मुकुर है तो चन्द्रमण्डल शृङ्गार का डिब्बा है। कृष्णपक्ष भगवती की रात्रि है और शुक्लपक्ष दिवस। शुक्ल और कृष्ण पक्षों को देवताओं का दिनरात कहते हैं।

भगवती की सपर्या की असुलभता

(९६)

पुरारातेरन्तःपुरमसि ततस्त्वच्चरणयोः
सपर्यामर्यादा तरलकरणानामसुलभा।
तथाह्येते नीताः शतमखमुखाः सिद्धिमतुलां
तव द्वारोपान्तस्थितिभिरणिमाऽऽद्याभिरमराः॥

कठिन शब्दः— शतमख=इन्द्र

अर्थः— तू त्रिपुरारि के अन्तःपुर की रानी है इसलिये तेरे चरणों की सपर्या पूजा की मर्यादा चंचल इंद्रियों वाले मनुष्यों को सुलभ नहीं, और इन्द्र की प्रमुखता में रहने

वाले ये देवगण तेरे द्वार के निकट खडी रहने वाली अणिमादि की अतुल सिद्धियों तक ही पहुंच पाते हैं ।

देवताओं के पास जो अणिमादि सिद्धियां होती हैं, उनका स्थान भगवती के अन्तःपुर के द्वारों के बाहर ही है, जैसाकि श्रीचक्र के भूगृह के बहिर्द्वारों पर उनका स्थान बताया जाता है, और असंयतेन्द्रिय चंचल चित्त वाले मनुष्यों की तो वहां तक गति ही दुर्लभ है । उनको तो भगवती की पूजा करने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं होता, कहा है देवो भूत्वा देवं यजेत् । और सिद्धियां भी अन्तःपुर में प्रवेश नहीं कर पातीं ।

इस श्लोक में असंयमी और सिद्धियों की कामना रखने वाले मनुष्यों की निन्दा की गई है और अगले श्लोक में कुरवक तरु (कांटेदार वृक्षों) के सदृश कषायों से युक्त कुत्सित् मनुष्यों में शक्ति के जागरण होने की असंभावना दिखाई गई है ।

(९७)

कलत्रं वैधात्रं कतिकति भजन्ते न कवयः
श्रियो देव्याः को वा न भवति पतिः कैरपिधनैः ।
महादेवं हित्वा तव सति सतीनामचरमे
कुचाभ्यामासंगः कुरवकतरोरप्यसुलभः ॥

कुरवक=एक प्रकार का वृक्ष, जिसमें पीत, रक्त और नीले रंग के पुष्प होते हैं । लाल फूलों वाला कुवरक कहलाता है, पीले फूलों

वाला कुरुण्टक, और नीले रंग वाले को झिंटी कहते हैं। कुत्सित् है 'रव' अर्थात् शब्द जिसका वह कुरवक।

अर्थः— विधाता की स्त्री सरस्वती को क्या कितने ही कविजन नहीं भजते? और कौन थोडा सा भी धनवान होकर लक्ष्मी का पति नहीं होता? (धनाढ्य को धनपति या लक्ष्मि पति कहने लगते हैं)। परन्तु हे सति सतियों में श्रेष्ठ! महादेव को छोडकर तेरे कुचों का संग तो कुरवक तरू को भी दुर्लभ है।

यहां भगवती का आसंग आलिंगन करने से शक्ति के जागृत होने पर उसकी क्रिया अथवा उसके आवेश का अपने शरीर में अनुभव करने का अभिप्राय है, परन्तु वह कुरवक जैसे कषाय युक्त कुतर्की कुवादियों को सुलभ नहीं होता, शक्ति जागृत होने पर तो मनुष्य शिवतुल्य हो जाता है। कवि होना और धनवान होना सुलभ है परन्तु भगवती का कृपा पात्र बनना कठिन है।

(९८)

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेःपत्नि पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया काऽपित्वं दुरधिगम निःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि॥

अर्थः— हे पर ब्रह्म की महाराज्ञि! शास्त्रों के जानने वाले ब्रह्मा की पत्नि को सरस्वती वाक देवी कहते हैं, विष्णु

की पत्नि को पद्मा (कमला) कहते हैं और हर की सहचरी को पार्वती कहते हैं । परन्तु तू महामाया कोई चौथी ही है, तेरी महिमा असीम है तूने सारे विश्व को भ्रम में डाल रखा है, तुझको जानना कठिन है ।

सरस्वती का बीज मंत्र ऐं है, लक्ष्मी का श्रीं, पार्वती का क्लीं और महामाया का ह्रीं । वाग्भव कूट का तीसरा अक्षर शक्ति का वाचक है और वर्णमाला का चौथा अक्षर होने से तुरीय पद समाधि का द्योतक है और वह सब बीजाक्षरों के अन्त में रहता है । अनुस्वार भी शक्ति के साथ सदा रहता है, वह शिवात्मक है । इसे काम कला कहते हैं ।

छटा अवस्था

(९९)

समुद्भूतस्थलस्तनभरमुरश्चारुहसितं
कटाक्षे कंदर्पो कतिचन कदम्बद्युतिवपुः ।
हरस्य त्वद्भ्रान्ति मनसि जनयसिस्म विमला
भवत्या ये भक्ताः परिणतिरमीषामियमुमे ॥

अर्थ – हे उमे ! ऊपर उभरे हुए स्थूल स्तनों के भार से युक्त उरुःस्थल, सुन्दर हंसी और कटाक्ष में कंदर्प और कदंब वृक्ष की कुछ शोभा वाला शरीर, सब हर के मन में तेरी याद दिलाकर भ्रम उत्पन्न करते हैं, क्योंकि तेरे विमल भक्तों में तेरी तद्रूपता की परिणति के कारण वे तेरे जैसे दिखने लगते हैं ।

ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति, ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, भगवती के निरन्तर चिन्तन करने से भगवती के भक्त भी भगवती के रूप वाले हो जाते हैं। शक्ति जागृत होने पर साधक का शरीर आनखशिख शक्ति के आवेश से पूर्ण आविष्ट हो जाता है। इस अवस्था को घटा अवस्था कहते हैं।

यह श्लोक क्षेपक माना जाता है। यह क्षेपक हो सकता है क्योंकि इसकी संगति पूर्वापर से नहीं मिलती। और भगवती के शरीर का इस प्रकार का वर्णन पहिले भी आ चुका है।

प्रार्थना

(१००)

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविता कारणतया
यदाधत्ते वाणी मुखकमल ताम्बूलरसताम्॥

अर्थ—हे मां! बताओ, वह समय कब आयेगा, जब मैं एक विद्यार्थी, तेरे चरणों का धुला हुआ जल (चरणोदक), जो लाक्षारस (महावर) के रंग से लाल हो रहा है, पान करूंगा, जिसमें सरस्वती के मुखकमल से निकले हुए पान की पीक के सदृश, जन्म के गूंगे को भी कविता शक्ति प्रदान करने की क्षमता है।

यहां 'अयं विद्यार्थी' पद से अनुमान होता है, कि जिस समय यह स्तोत्र लिखा गया था, उस समय शंकर भगवत्पाद विद्यार्थी ही थे। वैसे तो मनुष्य जीवन भर विद्या का प्रार्थी रहता है परन्तु विद्यार्थी शब्द रूढी अर्थ में गुरु कुल में रहने वाले विद्यार्थी के लिये ही प्रयुक्त होता है।

(१०१)

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधि हरि सपत्नो विहरते
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा।
चिरञ्जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान्॥

अर्थ—तेरा भजन करने वाला मनुष्य सरस्वती और लक्ष्मी दोनों से युक्त होकर ब्रह्मा और हरि के सापत्नडाह का पात्र बनकर विहार करता है। और सुन्दर रम्य शरीर से रति (कामदेव की स्त्री) के भी पातिव्रत धर्म को शिथिल करता है, अर्थात् वह विद्वान्, धनाढ्य और सुन्दर रूपलावण्य युक्त शरीर वाला हो जाता है। और पशु पाश के दु:खों को नष्ट करके चिरकाल तक परमानन्द के रस का रसास्वाद लेता हुआ जीवित रहता है।

बंधन में पडा हुआ जीव पशु कहलाता है, और राग रूपी पाश संसार रूपी खूंटे से बांधने की रस्सी है। कहीं २ आठ पाशों

का भी जिकर आता है वे ये हैं, घृणा, लज्जा, भय, निन्दा, शोक, जाति, कुल और शील। परन्तु भावनोपनिषद् में मोह अथवा राग को ही पाश कहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के (१,४) में भी एक ही पाश बताया गया है, जैसे 'अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं' इत्यादि।

अगला १०२ वां श्लोक भी क्षेपक समझा जाता है। हम कह आये हैं कि लक्ष्मीधर के मत के अनुसार ९४, ९९ और १०२ श्लोक क्षेपक हैं और कैवल्य शर्मा ८८ वें श्लोक को ही क्षेपक मानते हैं। अनुमान से भगवत्पाद ने पूरे १०० श्लोक का ही यह स्तोत्र लिखा होगा। हमारी समझ में ९४ वां श्लोक क्षेपक नहीं होना चाहिये। इसलिये ८८, ९९ और १०२ ये तीन श्लोक क्षेपक कहे जा सकते हैं। ९९ श्लोक का क्षेपक होना तो स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि अन्तिम दो श्लोकों को ग्रंथ का अंग न माना जाय, क्योंकि उनमें ग्रंथ की स्वीकृति के लिये भगवती से पृथक प्रार्थना की गई है अर्थात् ग्रंथ जिसके लिये प्रार्थना की गई है वह पूरे १०० वें श्लोक पर समाप्त होता है, तो प्रार्थना के इस १०२ श्लोक को भी क्षेपक कहना उचित् नहीं। इस दृष्टि से एक श्लोक ही क्षेपक कहा जा सकता है और वह ९९ वां श्लोक हो सकता है अथवा ८८ वां। ८ और ९ के अंक के पढ़ने में भ्रांति होने के कारण किसी ने ८८ को किसी ने ९९ को क्षेपक समझ लिया है और संभव है ९९ के स्थान पर ८८ को गलती से क्षेपक कह दिया गया हो।

समर्पण

[१०२]

निधेनित्यस्मेरे निरवधिगुणे नीतिनिपुणे
निराधाटज्ञाने नियमपरचित्तैकनिलये ।
नियत्यानिर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे
निरातंके नित्ये निगमय ममापि स्तुतिमिमाम् ॥

अर्थः—हे सदा हंसमुखि असीमगुणनिधे, नीतिनिपुणे, निरतिशयज्ञानवति, नियम परायण भक्तों के चित्त में घर करने वाली, नियति से निर्मुक्त अर्थात् नियति से अतीते, सब शास्त्र उपनिषद् जिसके पदकी स्तुति करते हैं ऐसी अभये, सनातनी नित्ये ! मेरी भी इस स्तुति को स्वीकार करके अपने निगमों में स्थान दो ।

[१०३]

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासूतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्य रचना ।
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधि सौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम् ॥

अर्थः—हे जननि ! तेरी प्रदान की हुई वाक्शक्ति से की गई इस स्तुति के शब्द इस प्रकार हैं जैसे दीपक की ज्वालाओं से सूर्य की आरती उतारना, अथवा चन्द्रकान्त मणि से टपकते हुए जलकणों से चन्द्रमा को अर्घ्य प्रदान करना, अथवा समुद्र का सत्कार उस ही के जल से करना ।

उपसंहार

शास्त्रों में कर्म, भक्ति, ध्यान और ज्ञान भेद से अध्यात्मसाधन के सोपानक्रम के तीन स्तर कहे गये हैं. इनकी साधन पद्धतियों में भिन्नता अवश्य है, परन्तु सब के आधार में एक ही मूल सिद्धान्त है, इसलिये परस्पर में एक दूसरे के विरोधी न होते हुए वे अधिकारी भेदसे सबको उत्तरोत्तर एकही लक्ष्य पर पहुंचाते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् ने सब साधनों की उपयोगिता बताते हुए सब जिज्ञासुओं को तीन प्रकार का अधिकारी माना है। प्रथम श्रेणि के वे पुरुष हैं जिनको धनदारादि में दृढ आसक्ति है, वे कर्मयोग के अधिकारी होते हैं, दूसरी श्रेणि के वे पुरुष हैं जिनको संसार से तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया है वे ध्यान ज्ञान के अधिकारी होते हैं, तीसरे मध्यम श्रेणि के मनुष्य वे हैं जिनका चित्त संसार की आपत्तियों से व्याकुल रहता है परन्तु घर की आसक्ति का त्याग नहीं कर सकते, उनको भक्ति योग का अधिकारी समझना चाहिये, उनके लिये भक्ति उपासना का मार्ग ही श्रेयस्कर होता है। यद्यपि सब साधनों का लक्ष्य शुद्धचेतन स्वरूप परमात्मतत्त्व की प्राप्ति की ही ओर होता है, तो भी ऐहिक और पारलौकिक भोगों की प्रबल वासना उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अग्रसर होने में बाधा डालती रहती है। ज्यों २ अनेक दृष्ट और अनुश्रविक अर्थात् देखे और सुने विषयों की तृष्णा कम होती जाती है, चित्त की स्वस्थता उन्नत होती जाती है और वृत्तियां बाह्य विषयों का आश्रय त्याग कर अभ्यन्तर नित्य अखंड आनन्दमयी आत्मज्योति का अवलंबन पकडने लगती हैं। बाह्य विषयों से शनैः२ क्रमशः विरक्तिपूर्वक शुद्ध आत्मज्योति का प्रकाश एवं साक्षात्कार

होने तक सारी साधन यात्रा को बाह्य, अभ्यन्तर और मिश्रित् उपासना भेद से तीन स्तरों पर बांटा जाता है। उनको बहिर्याग और अन्तर्याग अथवा अपरा और परा पूजा भी कहते हैं। शुद्ध सत्त्विक चेतन सत्ता एक परमात्मा की ही है और देहादि की उपाधियों के योग से प्रतिभासित होने वाली चेतना जीव कहलाती है। इसलिये चित्त की वृत्तियों को सब उपाधियों से हटाकर शुद्ध चेतन सत्ता पर लगाना ही सब साधनों का सार है, जिसका उपसंहार जिवाभिमान के सर्वथा नष्ट होने पर सब वृत्तियों का परमतत्त्व में विलीनीकरण द्वारा होता है। कर्मयोगी उसे स्थित प्रज्ञता कहता है, भक्त उसे जीव ब्रह्म का सायुज्य योग मानता है और ज्ञानी उसे ब्राह्मी स्थिति जानता है।

इसलिये उपासना सदा चेतनसत्ता की की जाती है, जड पदार्थों की नहीं। व्यवहार में भी सब मनुष्य पुत्र कलत्र मित्र बंधु राजा और राज्य कर्मचारियों के देह की सेवा द्वारा देही आत्मा की ही प्रसन्नता प्राप्त किया करते हैं। परन्तु परम चेतन तत्त्व जिसकी व्यापकता सर्वत्र है सामान्यतया मनबुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ग्रहणगम्य नहीं, उसकी सेवा उपासना 'ईशावास्यमिदँ सर्वं' इस श्रुति के अनुसार यत्र तत्र सर्वत्र भावना द्वारा ही प्रतिमादि जड प्रतीकों के सहारे आवाहन पूजन के उपचारों सहित की जानी संभव है। सर्वव्यापी परमेश्वर का आवाहन अर्चन करने का विनियोग यंत्र प्रतिमा अथवा प्रतीक विशेष में उसके अस्तित्व की धारणा को दृढ करानां मात्र है। इस प्रकार दृढ संकल्प और दृढ धारणा से सर्वव्यापी की चेतन सत्ता उन जड प्रतीकों में इस प्रकार प्रकट हो जाती है

जैसे ईंधन में अग्नि। वाह्य यागों में जैसे मूर्ति अथवा यंत्रों में देव का आवाहन प्राणप्रतिष्ठा और तदनन्तर पचोपचार षोडशोपचार सहित अर्चन पूजन एवं ध्यान किया जाता है, वैसेही अन्तर्याग में भी, देहरूपी प्रतीक के अंग प्रत्यंगों में करन्यास अंगन्यासों द्वारा उसी देव की प्रत्येक अंग संबंधिनी शक्तियों का आवाहन, हृदय में प्राणप्रतिष्ठा और मानसिक पूजन ध्यानादि अनेक क्रियाओं का विधान है, जिनका तात्पर्य अपने देह रूपी प्रतीक में उस सर्वान्तर्यामी की जागृति करना है, जब उस देवात्मिका शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव अपने अन्तर में होने लगता है, तब वाह्य प्रतीकों की अपेक्षा नहीं रहती, तो भी वे मूर्तियां और यंत्रादि विशेष आदरणीय बने ही रहते हैं।

इसके पश्चात् उस मनुष्य की उपासना का स्तर सूक्ष्म हो जाता है और उपासना के पीठ स्थान स्थूल देहको छोडकर सूक्ष्म देह के स्तरों पर उठने लगते हैं। पंचतन्मात्राओं पंचप्राणों और पंच कर्मेन्द्रियों का देहसे सुषुम्नागत मूलाधारादि चक्रोंद्वारा संबंध है और पंचज्ञानेन्द्रियों का आज्ञाचक्र द्वारा। साधक इस स्तरपर अपना भावनायुक्त ध्यान क्रमशः भिन्न-भिन्न चक्रों पर करता हुआ सहस्रार तक ऊपर उठाता है। प्रत्येक चक्र पर प्रत्यक्ष होने वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव प्रभृति सब शिव शक्ति भेद से एक ही परम चेतनतत्व के उस उस चक्र से संबंधित् रूप हैं। इनसे ऊपर नाद, कला, ज्योति, शांति आदि भी उस ही परम चिति शक्ति की अभिव्यक्तियां प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में आती हैं।

एक ही निर्विशेष चिदात्मा ब्रह्म की सगुण निर्गुण भेद से उपासना की जाती है। सगुण ब्रह्म के दो भेद हैं, एक जगत् का नियन्ता और दूसरा जगदात्मक अर्थात् सबका अन्तरात्मा। ज्ञान क्रिया, गुणादि की उपाधि भेद से जैसे एक ही ईश्वर का अनेक रूपों से ध्यानार्चन किया जाता है, वैसे ही उसका स्मरण भी अनेक नामों द्वारा किया जाता है। विष्णु सहस्रनाम, गोपाल सहस्रनाम, शिवसहस्रनाम दुर्गासहस्रनाम, ललितासहस्रनाम, अनेक सहस्र-नामावलियां प्रसिद्ध हैं, जिनमें पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग पदों द्वारा ब्रह्मपद का गुणविशिष्ठ निर्देश देखने में आता है, वास्तव में ब्रह्म को किसी लिंग वाच्य नहीं कहा जा सकता। भास्करराय अपनी ललितासहस्रनाम की व्याख्या में कहते हैं कि 'पदानुसारीण्येव हि लिंगानि, नतुवास्तविकं ब्रह्मण्येकमपि लिंगम्।' अर्थात् ये लिंग पदानुसारी मात्र हैं, वास्तविकता यह है कि ब्रह्म में एक भी लिंग नहीं होता जैसा कि कहा है,

पुंरूपं वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा चिन्तयेत्।
अथवा निष्कलं ध्यायेत्सच्चिदानन्दलक्षणम्॥

अर्थः—हे देवी, चाहे पुंरूप से उसका स्मरण करो, चाहे स्त्रीरूप से चिन्तन करो, अथवा उस निष्कल ब्रह्म पद का ध्यान सत्‌चित् आनन्द लक्षण युक्त करो।

बहिर्यागों में भक्त जिसका भगवान् अथवा भगवती पदों से संबोधन करता है, उसी को अन्तर्याग वाला साधक प्रज्ञानात्मा,

चिदात्मा, चिन्मय अन्तःपुरुष, चिन्मयी या चितिशक्ति कह कर ध्यान और निदिध्यासन करता है। जैसा कि श्रुति कहती है

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यंति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतंनेतरेषाम् ॥

उसी परम तत्व को श्रीविद्या के उपासक ललिता महात्रिपुर सुन्दरी कहते हैं।

श्रीचक्रराजनिलया, श्रीमत्त्रिपुर सुंदरी।
श्रीशिवा शिवशक्तयैक्यरूपिणी ललिताम्बिका ॥

(ललिता सहस्रनाम)

अर्थात् श्रीचक्रराज में निवास करने वाली श्रीमत्त्रिपुर सुंदरी श्रीशिवा ललिता अंबिका शिवशक्ति के भेदरहित ऐक्यरूपा है

त्रिपुर सुंदरी का अर्थ भास्करराय इस प्रकार करते हैं:—अत्र त्रीणि पुराणि ब्रह्मविष्णुशिवशरीराणि यस्मिन् सः त्रिपुरः परशिवः, तस्य सुंदरी शक्तिः। वायुसंहिता में भी कहा है कि:—

शिवेच्छया पराशक्तिः शिवतत्वैकतां गता।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलंतिलादिव ॥

अर्थः—वह पराशक्ति सृष्टि के आदि में शिव की इच्छा (संकल्प) से, शिवतत्व की एकता रखने वाली उस ही (शिव से) परिस्फुरित होती है, जैसे तिलों से तेल। इसलिये यह ही भाव सौंदर्य लहरी के प्रथम श्लोक में व्यक्त किया गया है।

ब्रह्मणोऽभिन्नशक्तिस्तु ब्रह्मैव खलु नापरा। (सौर संहिता)

शक्ति ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म ही है अन्य नहीं। जडचेतन भेद से उसके दोनों ही रूप हैं कहा है:—

चिच्छक्तिश्चेतनारूपा जडशक्तिर्जडात्मिका।

(ल० ष०) देखें श्लोक ३, ५ सौं० ल०

सत्‌चित् आनन्द की अभिव्यक्ति अस्ति, भाति और प्रियता द्वारा सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है। अखिल ब्रह्मांड की भौतिक सत्ता सत् शक्ति का कार्य है, उसका ज्ञान प्राणिमात्र में प्रतिभासित होने वाली चित् शक्ति का परिस्फुरण है, और उस बाह्य ज्ञान से उदय होने वाली प्रियता आनंद की प्रतिफलित क्रिया है। अर्थात् सत् शक्ति के आसन पर चिति शक्ति महात्रिपुर सुंदरी विराजमान है, जिस चिदानंद-लहरी से पिण्ड और ब्रह्मांड दोनों व्याप्त हैं और परब्रह्म उसकी आत्मा है, (श्लोक ३४)। विश्व उस विश्वरूपा षोडश-कलात्मिका का विराटदेह है इसलिये स्थूल शरीराभिमानी जागरित्-स्थानो बहिःप्रज्ञः एकोनविंशति-मुखः स्थूलभुक्वैश्वानरोजीव उसी का अभिन्न स्वरूप है।

ललिता सहस्रनाम में कहा है—

विश्वरूपा जागरिणी स्वपन्ती तैजसात्मिका।
सुप्ता प्राज्ञात्मिका तुर्यासर्वावस्थाविवर्जिता॥

इसी प्रकार स्वप्नस्थानी अन्तःप्रज्ञ प्रविविक्तभुक् तैजस तैजसा-त्मिका से और सुषुप्तस्थानी एकीभूत प्रज्ञानघन आनंदमय आनंदभुक् चेतोमुख प्राज्ञ प्राज्ञात्मिका से अभिन्न एक ही रूप है, सर्व अवस्थाओं से वर्जित शुद्ध शान्त अद्वैत शिव चिन्मात्र आत्मा का स्वरूप तुर्यावस्था है।

जैसे जगत् नियन्त्रिणी विराट्रूपा विश्वतोमुखी भगवती का अनुग्रह प्रतिमा विशेष में अथवा ब्रह्माण्ड और पिण्ड के प्रतीक स्वरूप श्रीयंत्र में पूजन अर्चन करने से अनन्य भक्ति द्वारा प्राप्त किया जाता है, वैसे ही अध्यात्म योग विद्या के जानकार देह को ही श्रीयंत्र जान कर चिदात्मिका की अंतर्भावना द्वारा उपासना करते हैं। जैसा कि कहा है:-'अंतर्मुख समाराध्या बहिर्मुख सुदुर्लभा।' (ल० स०)। योगीजन उस शक्ति की स्थिति प्राणिमात्र के देह में प्रसुप्त अवस्था में मानते हैं, जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं, जो भावना द्वारा जगाई जा सकती है।

मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रंथि विभेदिनी। मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथि विभेदिनी। आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रंथि विभेदिनी। सहस्राराम्बुजारूढा सुधासाराभिवर्षिणी॥ तडिल्लतासमरुचिः षट्चक्रोपरिसंस्थिता। महासक्तिः कुण्डलिनी बिसतन्तुतनीयसी॥ भवानी भावना गम्या भवारण्यकुठारिका॥ (ल० स०)

भावना दो प्रकार की होती है:-आर्थीभावना और शाब्दी भावना। आर्थी भावना प्रवृत्तिरूपा होती है, यह स्थूलरूप है जिसका

सावयव अनुभव किया जा सकता है और शाब्दी सूक्ष्म मंत्रमयी है। योगिनी हृदय में भावना के तीन प्रकार इस प्रकार कहे गये हैं।

आज्ञान्तं सकलं प्रोक्तं ततः सकलनिष्कलम् ।
उन्मन्यन्ते परे स्थाने निष्कलं च त्रिधास्थितम् ॥

अर्थः—मूलाधार से आज्ञाचक्र तक सगुण रूप कहा जाता है, उसके ऊपर उन्मनी तक सगुण निर्गुण, और उसके अंत में सहस्रारस्थ परम स्थान पर निष्कल निर्गुण की स्थिति है, इसलिये तीनों में वैसे ही भावना करना चाहिये। यह आर्थी भावना के भेद हैं।

शाब्दी भावना के अंतर्गत, मंत्रों का न्यास, प्राणप्रतिष्ठा और जप स्वाध्याय का समावेश है। वैदिक, तांत्रिक और पौराणिक भेद से मंत्र अनेक हैं, परन्तु वे सब एक नादरूपा नामरूपविवर्जिता शक्ति के ही अनेक पदवाचक रूप हैं, जैसा कि कहा है

यदा भवति सा संवित् त्रिगुणीकृतविग्रहा ।
सा प्रसूते कुंडलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ॥
शक्तिस्ततो ध्वनिस्तमान्नादस्तस्मान्निरोधिका ।
ततोऽर्धेन्दुस्ततो विन्दुस्तस्मादासीत्पराततः ॥
पश्यन्ति मध्यमा वाणी वैखरीसर्गजन्मभूः
इच्छाज्ञानक्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ।
क्रमेणानेन सृजति कुण्डलिन्यर्णमालिकाम् ।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मंत्रमयंजगत् ॥

अर्थः—जब वह संवित् ज्ञानशक्ति विशेष गुणों से युक्त होकर वर्णपदमंत्रविग्रहा अर्थात् पदों का रूप धारण करती है, तब वह शब्द ब्रह्ममयी कुण्डलिनी व्यापिका (विभुः) रूप से शक्ति को जन्म देती है, फिर शक्ति से ध्वनि (महानाद), ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका, उससे अर्धेन्दु फिर बिन्दु, उससे परा, परा से पश्यन्ती मध्यमा एवं वैखरी वाणी का जन्म होता है। वह तेजोमयी त्रिगुणात्मिका कुण्डलिनी जो इच्छाज्ञानक्रिया स्वरूपा है क्रम से वर्णमाला की सृष्टि करती है। वह विश्वात्मिका जब प्रबुद्ध होती है तब समस्त मंत्रमय जगत् को जन्म देती है।

नादरूपा की व्याख्या करते हुए श्रीभास्करराय कहते हैं कि

ह्रींकारादिषु बिन्दोरुपर्यर्धचन्द्ररोधिनीनादनादान्तशक्ति व्यापिकाः समनोन्मन्याख्याः सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमरूपा अष्टौ-वर्णा वर्तन्ते तेषुतृतीयो रूपो वर्णोनाद इत्युच्यते। नाद एव रूपं यस्याः सा नादरूपा।

ह्रीं आदि मंत्रों में बिन्दु के ऊपर अर्धचंद्रिका, रोधिनी, नाद, नादान्त (ध्वनि या महानाद), शक्ति व्यापिका समनी और उन्मनी नाम वाले सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम ८ वर्ण होते हैं, उनमें तीसरा वर्ण नाद कहलाता है। नाद है रूप जिसका वह नादरूपा।

शक्ति के सूक्ष्मरूप को भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भेद से त्रिविध समझना चाहिये, उसका सूक्ष्म रूप पंचदशी विद्या है, सूक्ष्मतर रूप कामकला बीजाक्षर और सूक्ष्मतम रूप कुण्डलिनी है। प्रथम के तीन विभाग हैं जिनको क्रमशः वाग्भवकूट, कामराजकूट

और शक्तिकूट कहते हैं। पूरे मंत्र को मूल पंचदशाक्षरी विद्या कहते हैं। यह भगवती का सूक्ष्म शरीर है। जिसका स्वरूप श्लोक ३२, ३३ में दिया गया है और सूक्ष्मतर रूप कामकला का रूप श्लोक १९ में देखें (आनंद लहरी), कुण्डलिनी का वर्णन देखें श्लोक(९,१०)

श्रीभास्करराय ने अपने वरिवस्या रहस्य में तीनों त्रिकूटायुक्त पंचदशी मंत्र के गायत्र्यार्थ, भावार्थ, संप्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, महातत्त्वार्थ, नामार्थ, शब्दरूपार्थ, नामैकदेशार्थ, शाक्तार्थ, सामरस्यार्थ, समस्तार्थ, सगुणार्थ और महावाक्यार्थ इन १५ प्रकार से अर्थ समझाकर भावनाकरने का उपदेश किया है। कहा भी है 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'।

पुरुषार्थानिच्छद्भिः पुरुषैरर्थाः परिज्ञेयाः।
अर्थानादरभाजां नैवार्थः प्रत्युतानर्थः॥

(वरिवस्यारहस्य ५६)

अर्थः—पुरुषार्थों की इच्छा रखने वाले पुरुषों को अर्थ जानने चाहिये, अर्थ का आदर न करने वालों को अर्थसिद्धि भी नहीं होती, प्रत्युत अनर्थ होता है

मंत्र की वर्ण संख्या, उनका उद्धार, उच्चारण का काल और मात्रा, उच्चारण, उत्पत्ति स्थान, आकार स्वरूप और अर्थयुक्तभावना ये विद्या के अंतरंग अवयव कहलाते हैं, और ऋषि, छंद, देवता, विनियोग, बीजशक्ति कीलक, न्यास, ध्यान नियम और पजा अर्चनादि बहिरंग अवयव कहलाते हैं। प्रायः

का उन्हें प्रायः ज्ञान नहीं होता, जिनका ज्ञान मंत्र सिद्धि के लिये अत्यावश्यक है। क्योंकि उनके बिना उपासना को प्राणविहिन जानना चाहिये। जैसे बीज से जड और जड से भूमि के नीचे और उपर वृक्ष का फैलाव होता है, यद्यपि दोनों समान रूप से वृक्ष के अंग हैं परन्तु भूमि के नीचे का फैलाव उसकी जान होती है। इसी प्रकार मंत्र के अंतरंग अवयवों को मंत्र का प्राण समझना चाहिये।

हम ऊपर कह आये हैं कि पंचदशी के १५ अक्षरों का १५ तिथियों से संबंध है और षोडशी का १६ वां अक्षर चितिरूपा अमावस्या अर्थात् निर्विकल्प समाधि है। वहां यह भी बताया गया है कि एकादशी दशमीविद्धा उपोष्या नहीं मानी जाती, वरन् द्वादशी विद्धा होनी चाहिये, नहीं तो शुद्धा द्वादशी ही उपोष्या माननी चाहिये। इसी क्रम से मंत्र के जप और न्यास के समय ध्यान रखना जरूरी है। इसका अध्यात्मिक अर्थ यह है कि मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र के ऊपर निरोधिका तक दशमी रहती है, निरोधिका पर एकादशी आती है, उसके ऊपर नाद पर द्वादशी का स्थान है। इसका अर्थ यह है कि नीचे के चक्रों का संबंध ५ कमन्द्रियों से है और आज्ञा से अर्धेन्दु तक ५ ज्ञानेन्द्रियों के स्थान हैं अर्थात् १० तिथियों एवं १० अक्षरों का संबंध दस इंद्रियों से रहता है। मन एकादशी है। उसका योग जब तक इंद्रियों से रहता है वह उपोष्या नहीं होती, अर्थात् वह बहिर्मुख रहती है। बुद्धि को द्वादशी, चित्त को त्र्योदशी, अहंकार को चतुर्दशी और महत्तत्व को पूर्णिमा समझना चाहिये। अमावस्या निर्विकल्प स्थिति है। अव्यक्त संचित् और प्रारब्ध संस्कारों के आशय को कहते हैं, वह कामेश्वरी है,

उसे चितिरूपाज्ञानाग्नि में शुद्ध कर लेना है, इसलिये उसकी यहां गणना नहीं की गई।

जैसा कि श्रुति में कहा है कि

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरूषःपरः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्टा सा परागतिः॥ कठ (३, ११)

इसलिये

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

कठ (३, १३)

अर्थात् महत्तत्व से सूक्ष्म अव्यक्त और अव्यक्त से सूक्ष्म परम पुरुष है वह अंतिम सीमा है उससे परे कुछ भी नहीं और वह ही परम गति का स्थान है, इसलिये बाणि आदि इंद्रियों को बुद्धिमान मन में ले जाकर (रोकदे), मन को ज्ञानात्मा बुद्धि में ले जावे और बुद्धि को महत् में और महत् को शांत आत्मा में ले जाय। इस क्रम में अव्यक्त को छोड दिया गया है।

यदि एकादशी रूपी मन दशमी से बिंधा रहता है, तो द्वादशी रूपी बुद्धि को ही ग्रहण करना चाहिए, उस मन का त्याग कर देना चाहिये।

क्योंकि

दृश्यतेत्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मयासूक्ष्मदर्शिभिः। कठ (३, १२)

किसी मंत्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिये, उस मंत्र को सिद्ध गुरु के मुख से ग्रहण करना चाहिये। गुरु की शक्ति मंत्र के साथ शिष्य में प्रविष्ट होकर बीज का कार्य करती है, जो शिष्य के अंतःकरण रूपी क्षेत्र में श्रद्धा की वर्षा से पोषण पाकर अंकुरित होती है और दीर्घकालनिरंतरसत्कारासेवित् होने पर पूर्ण प्रकाश पाती है। इसलिये गुरु, मंत्र, शक्ति, और शिव चारों की एकता समझनी चाहिये। द्वैत की भावना में शक्ति और गुरु अथवा शिव का प्रत्यक्ष भेद दृष्टिगोचर होता है और अद्वैत की सिद्धि के साथ शक्ति की अपने अन्तरात्मा के साथ एकता अनुभव होने लगती है। इस प्रकार गुरु ईश्वर और आत्मा तीनों का एकीकरण अनुभव में आता रहता है।

कहा है

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्ति भेद विभागिने।

व्योमवत्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तयेनमः ॥

श्रीभगवत्पाद ने सौंदर्य लहरी के प्रथम श्लोक में शिवशक्ति की अभिन्नता और दूसरे में सत् कारणवाद की पुष्टि करते हुए तीसरे श्लोक में तीनों धर्म अर्थ काम की सिद्धि सहित अज्ञान तिमिर के नाशार्थ उपासना द्वारा मोक्ष प्राप्ति की ओर लक्ष्य कराया है। ६ठे ७वें श्लोकों में बहिर्ध्यान और ८वें में भगवती के अभ्यंतर चिति शक्ति के चिदानंद लहरी स्वरूप को इंगित करके ९वें १०वें श्लोकों में तांत्रिक योग पद्धत्ति के अनुसार षट्चक्रवेध की ओर साधकों का ध्यान आकर्षित किया है, क्योंकि बहिर् उपासना का पूर्ण फल कुंड-

लिनी के जागरणोपरांत् अन्तर्योग रूपी षड्चक्र वेध होकर परमतत्व के अनुभव प्राप्त करने पर होता है।

११ से १३ श्लोकों में बहिरुपासना के लिये ब्रह्माण्ड के प्रतीक स्वरूप यंत्र का वर्णन और पश्चात् जगत् नियन्त्री का ध्यान एवं अर्चन का फल कहा है, फिर १४ से २१ तक अभ्यन्तर साधन के लिये षट्चक्रों का रहस्य और ध्यान बता कर मूलबीज मन्त्र स्वरूप कामकला की ओर लक्ष्य कराया गया है। इस प्रकार मन्त्रयोग द्वारा लय योग राजयोग के सोपान क्रम के पश्चात् भक्ति उपासना से महावाक्योत्थ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की उपलब्धि २२ से ३० श्लोक तक कही गई है। तत्पश्चात् श्रीविद्या की उत्कृष्टता ३१ वें श्लोक में बता कर ३२, ३३ श्लोकों में पचदशी का उद्धार और ३४, ३५ में समष्टि व्यष्टि गत शक्ति एवं उसके परिणामों द्वारा वाचारम्भण मात्र नामरूपात्मक व्यापारों में सूत्रात्मा शिव का अन्वय व्यतिरेक ज्ञान से विवेचन किया गया है। और ३६ से ४१ तक षट्चक्रों का विशेष विवरण दिया गया है। शेष ग्रन्थ में विराट्रूपा भगवती के ध्यानार्थ और अन्तर्योगार्थ मानसिक उपचारों का सुन्दर निरूपण किया गया है।

भगवती का वर्ण अरुण अर्थात् लाल माना जाता है, इसलिये उसका एक नाम अरुणा भी है। वेद और तन्त्र अग्नि को ही शक्ति का रूप मानते हैं, चिदग्नि, ब्रह्माग्नि, ज्ञानाग्नि पदों के प्रयोग इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। अग्नि का भी वर्ण अरुण है। अग्नि जब शान्त हो जाती है, तब उसका अपने कारण स्वरूप ब्रह्म

में विलीनीकरण होता है, इसी अभिप्राय से हवन में आहुतियां देने से वे जिस जिस देवता को लक्ष्य करके दी जाती हैं, उसी देव को पहुंचती हैं, क्योंकि ब्रह्म में सब ही देवों का समावेश है। भगवान गीता में कहते हैं कि:—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपिमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ गीता (९,२३)
अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्तिते ॥
गीता (९,२४)

अर्थात् जो लोग श्रद्धा से युक्त होकर किसी भी अन्य देवता का भजन करते हैं, वे मेरा ही भजन करते हैं। उनका वह भजन विधीपूर्वक नहीं होता; क्योंकि वास्तव में सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु मैं ही हूं, परन्तु वे मेरे तात्विक स्वरूप को नहीं जानते, इस लिये उनका उपास्यभाव परमतत्व से च्युत होकर नीचे के स्तरों पर रह जाता है।

ऐत्तरेयब्राह्मण की श्रुति कहती है कि 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' (१,४)। अर्थात् अग्नि सब देवताओं में प्रथम है, इसलिये सब का मुख है। शिव का प्रथम स्पन्द शक्ति के रूप में प्रकट होता है इसलिये शक्ति ही सर्व प्रथम देवता है और वह स्वयं अग्नि स्वरूप ही है। ललिता सहस्रनाम में भी भगवती को चिदग्निकुण्ड सम्भूता कहा गया है अर्थात् चिद्ब्रह्म वह अग्निकुण्ड है जिसमें से भगवती की उत्पत्ति होती है, इसीलिये महात्रिपुरसुन्दरी को चिति शक्ति कहते हैं। चित् और चित् से उत्पन्न होनेवाली चितिशक्ति

एक ही हैं। ज्ञानाग्नि अज्ञान रूपी सब कर्माडम्बर को भस्मसात् कर देती है, जैसे अग्नि सब इन्धन को भस्म कर देती है।

ज्ञानाग्निः सर्वं कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।
(गीता ४,३७)

अग्नि शान्त होजाने पर ईंधन की जो राख बचती है वह भी इतनी पवित्रता लिये होती है कि किसी भी अपवित्र एवं गन्दे पदार्थ पर डालने से उससे उत्पन्न होनेवाली घृणा को दूर कर देती है, और अग्नि में जलकर चन्दन और विष्ठा एक समान हो जाते हैं। इसलिये तान्त्रिक शक्ति उपासना को वैदिक अग्नि उपासना की आश्रयीभूता याज्ञिक पद्धति का ही उपासनापर साधनक्रम समझना चाहिये, जिस प्रकार उपनिषदों में भी अनेक उपासनाओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु उन सब उपासनाओं का उपसंहार जैसे ब्रह्मात्मैक्य अनुभूति में किया गया है, वैसे ही यहां पर भी समझना चाहिये। वेदों में 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि ऋचाओं द्वारा लक्ष्य करके जिस देवता का यज्ञों में आह्वान किया गया है, वह देवता सच्चिदानन्दरूपा ब्राह्मी शक्ति के सिवाय दूसरा कौन हो सकता है? यास्काचार्य ने अग्नि का अर्थ अग्रणी भी किया है, इस अभिप्राय से भी स्थूल अग्नि द्वारा सर्वप्रथमकारणभूता चिदग्नि की ही उपासना ग्रहणीय युक्त है। उपनिषदों में अग्नि को ब्रह्म की एक कला कहा गया है जैसे

अग्निःकला सूर्यःकला चन्द्रःकला विद्युत्कलैष वै सौम्य
चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम। छ० (४,७,३)

वाक् को भी ब्रह्म मानकर उपासना करने की विधि बताई गई है। जैसे 'वाग्वै ब्रह्मेति' बृ० (४, १, २) 'वाचं ब्रह्मेति उपास्ति'

छा० (७, २, २) इत्यादि। और वाक् को अग्नि का ही सूक्ष्म-रूप कहा गया है (तेजोमयी वाक्) इस प्रकार कारण, सूक्ष्म, और स्थूल भेद से चितिशक्ति, वाणि और स्थूल अग्नि की एकरूपता मानकर हवन में आहुति द्वारा मंत्र का जप पूर्वक चिन्मात्र की भावना करने से एकही ब्रह्म की सगुणोपासना की जाती है।

वैदिक उपासना के इस सिद्धान्त के आधार पर चिदग्निकुण्ड-सम्भूता ब्रह्ममयी शक्ति को भगवती अरुणा महात्रिपुरसुन्दरी नाम देकर तान्त्रिक रूप दिया गया है, जो योग की एक पद्धति है और जिसका निर्माण दीर्घ अनुभूति की नींव पर किया गया है। श्रीमच्छंकर भगवत्पाद ने उसे उपासकों के लाभार्थ सौन्दर्य लहरी का सुन्दर रूप देकर वैदिक कर्मकाण्ड से अनभिज्ञ कलिकाल के जिज्ञासुओं पर परम अनुग्रह किया है।

संक्षेप में सब साधन पद्धतियों का समावेश इन तीन मंत्रों में किया जाता है:—(१) 'ॐ तत् सत्' अर्थात् वह ॐ स्वरूप ब्रह्म सत् स्वरूप है, (२) 'सच्चिदेकं ब्रह्म' वह सत् चित्स्वरूप भी है और सारे चेतन जगत् में एक ही चित्सत्ता है जिसे ब्रह्म कहते हैं, (३) 'आनन्दं ब्रह्म' उस ब्रह्म की अनुभूति ब्रह्मानन्द के आवेश में होती है। निम्न कोटि के साधकों को सारे जगत् में ईश्वर की सत्ता की व्यापकता की कल्पना करने का उपदेश प्रथम मंत्र द्वारा किया गया है, दूसरे श्रेणि के साधकों को दूसरे मंत्र के द्वारा अपनी चेतना में ब्रह्मभावना करने का उपदेश है, जिसका अभ्यास महावाक्यों के मनन निदिध्यासन द्वारा किया जाता है और अपने अन्तर में आत्मानन्द के आवेश की जागृति होने पर उसकी आश्रयीभूता आत्मस्थिति द्वारा प्राप्त होने वाली ब्राह्मी स्थिति का साधन तीसरे भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति है। यह अन्तिम साधन पद्धति शक्ति

उपासना का मुख्य विषय है और भगवत्पाद ने उस चिदानन्द के सौन्दर्य का विषद निरूपण सौन्दर्य लहरी के रहस्यपूर्ण पदों में किया है। अन्त में सब साधनों का उपसंहार 'तत् सत् सोहम्' में होता है। प्रथम दो साधन कल्पना के विषय हैं जो प्रत्येक नरनारी की कल्पना शक्ति पर निर्भर हैं, परन्तु अन्तिम साधन स्वात्मानुभूति का विषय वस्तुतन्त्र होने के कारण गुरुकृपा की ही सर्वथा अपेक्षा रखता है।

यह हम अनेक बार कह चुके हैं, कि गुरुजन शक्तिपात दीक्षा द्वारा शिष्यों पर अनुग्रह किया करते हैं। शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति को जगा देने का ही नाम शक्तिपात है जैसा कि शक्तिरहस्य के निम्नोद्धृत श्लोकों से स्पष्ट है,

व्यापिनी परमाशक्तिः पतितेत्युच्यते कथं ?
उर्ध्वादधोगतिःपातो मूर्तस्यासर्वगतस्य च ॥
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत् स्थिता ।
किन्त्वियं मलकर्मादिपाशबद्धेषु संवृता ॥
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ।

अर्थः—वह परमाशक्ति सर्वव्यापिनी है, फिर वह पतिता अर्थात् गिरती है ऐसा क्यों कहते हैं ? मूर्तिमान एक देशीय जो सर्व व्यापी नहीं उसी की ऊपर से नीचे गिरने की गति को पतन कह सकते हैं। सत्य, वह नित्य सर्वव्यापिनी है और स्वभाव से शिववत् स्थित है किन्तु वह कर्मों के मल के पाश से आवृत्त रहती है, जब दोषों के पक जाने पर वह सुव्यक्त होती है, तब उसे शक्तिपात कहते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

परिशिष्ट (१)

ऋग्वेदीयं नासदासीय सूक्तम् ।

अष्टक ८, अ० ७, मं० १०, सू० १२९

परमेष्ठी प्रजापति : ऋषिः, त्रिष्टुभ् छन्दः परमात्मा देवतः ।

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं, नासीद्रजोनो व्योमा परोयत् ।
किमावरीवः कुहःकस्य शर्मन्नम्भः, किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१६॥

अर्थ—तब न असत् था, न सत् था, रज नहीं था और जो पराकाश है वह भी न था, क्या कोई आवरण था, (जैसे) कुहरा या अंधकार ? किसकी प्रधानता थी, जल की ? क्या था ? गहन गभीर था। (१६).

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, न राध्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं[1] स्वधयातदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस ॥१७॥

न मृत्यु थी न अमृत था, रात्री और दिन के चिन्ह भी नहीं थे, वह बिना वायु प्राण लेता था, वह अकेला अपनी महिमा से पूर्ण था, और निश्चय उससे अन्य दूसरा कुछ न था। (१७)

---

१ यह परं ब्रह्म ॐ का स्वरूप है।

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतमसलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्, तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥१८॥

पहिले तम[2] हुआ, वह तम से छुपा हुआ था, (उसमें) यह सब (जगत् नाम रूपात्मक प्रपंच) लिंग रहित था, वह जल (सलिल) नहीं था।

जो था वह तुच्छ (माया) से ढक गया, उसने[3] तप किया, तप की महिमा से एक[4] (पुरुष) उत्पन्न हुआ। १८.

कामस्तदग्रे[5] समवर्तताधि, मनसो[6]रेतः[7] प्रथमं यदासीत् ।
सतोबंधुमसति निरविन्दन्, हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषाः ॥१९॥

उसने पहिले संवर्तन (जगत् की सृष्टि) के लिये कामना की। (संसार के रूप में वर्तमान होने को संवर्तन कहते हैं)।

प्रथम जो हुआ वह (उसके) मन की रेतस् शक्ति हुई। उस असत् में सत् ने अपना बंधु साथी पाया, यह बात बुद्धिमान् सर्वज्ञ ऋषियों ने जिज्ञासा पूर्वक जानी। १९.

---

२ यह माया परा शक्ति ह्रीँ का रूप है, ३ यह सदाख्य तत्व श्रीँ का स्वरूप है, ४ यह ईश्वर का ऐँ स्वरूप है, ५ यह भी ईश्वर का क्लीँ रूप है, ६ सत् मन शुद्ध विद्या का रूप है, ७ असत् रेतस् अशुद्ध विद्या का रूप है।

तिरश्चिनो विततोरश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥
॥२०॥

तिरछी फैलती हुई उनकी किरणें नीचे को ओर फैलीं या ऊपर की ओर, वे शक्ति धारण किये हुए थीं, वडे विस्तार वाली थीं, और अपने ही आधार पर दूर तक फैली हुई थीं। २०.

को अद्धावेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आवभूव ॥२१॥

निश्चय यह किसने जाना ? किसने यहां कहा, कि कहां से आई, कहां से यह सृष्टि हुई ? देवता तो इसके वनने के पीछे के हैं। इसलिये किसने जाना कि कहां से हुई ? २१.

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमनूत्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥२२॥

यह सृष्टि जहां से हुई, उसको धारण किया हुआ है या नहीं। यह बात इसका जो अध्यक्ष परमाकाश है अरे! वह ही जानता है, अथवा यदि नहीं जानता (तो दूसरा कौन जान सकता है, इसलिये वह ही जानता है)। २२.

नोटः—बीज मंत्रों का उत्पत्ति क्रम जो यहां दिखाया गया है, वह योग मार्ग का क्रम है, देखें योगशिखोपनिषद

महामाया महालक्ष्मीर्महादेवी सरस्वती ।
आधार शक्ति रव्यक्ता यया विश्वंप्रवर्तते ॥ (२—१२,१२)

दूसरा क्रम जो प्रवृत्ति मार्ग वालों को इष्ट है, उसके अनुसार परा शक्ति को माया के ऊपर का स्तर मानकर 'ऐं' बीज ग्रहण किया जाता है. सदाख्य स्पन्द में माया की स्थिति बीज रूप से मानने से वहां ह्रीँ बीज माना जाता हैं; तप: पुञ्ज ईश्वर को श्रीँ का स्थान और कामना युक्त ईश्वर को काम बीज क्लीँ का स्थान माना जाता है। सत् और असत् दोनों शक्ति सकार के रूप होने से सौ: बीज के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। और इस प्रकार दो मंत्रों का निर्माण हो जाता है।

परिशिष्ट (२)

अथ ऋग्वेदीया त्रिपुरोपनिषत् ।

त्रिपुरोपनिषद्वेद्यंपारमैश्वर्यवैभवम् ।
अखण्डानन्द साम्राज्यं रामचन्द्रपदं भजे ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थ: श्रुतं मे माप्रहासीरननेनाधी-तेनाहोरात्रात् संदधामि । ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु, अवतुमाम् , अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: ।

ॐ तिस्र पुरास्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः
आधिष्टायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥१॥

अर्थ—तीन पुर जिसके तीन पथ हैं, विश्व का आकर्षण करके धारण किये हुए है, जहां अकथ अक्षर संनिविष्ट हैं. उसकी अधिष्ठातृ देवता अजरा, पुराणी, देवताओं की सबसे बड़ी महिमा युक्त त्रिपुरा है।

श्रीचक्र के मध्यस्थ त्रिकोणाकृति सर्वसिद्धिप्रद आवरण का यहां संकेत है। तीनों भुजाओं पर सोलह २ अक्षर जानने चाहियें, अर्थात् ▽ की ऊपर की भुजा पर अ से अः तक १६ स्वर, दाहिनी ओर भुजा पर क से त तक और तीसरी भुजा पर थ से म तक और शेष तीन ह क्ष और ळ तीनों अक्षरों को उसी क्रम से तीनों कोणों पर जानना चाहिये। इस क्रम में ळकार नीचे के कोण पर आता है। इसको अकथ अथवा गुरु चक्र भी कहते हैं, इसका स्थान सहस्रार के मध्य ब्रह्मरंध्र में है। यह त्रिपुरा भगवती की पीठ है। सौन्दर्य लहरी श्लोक ८ में कहा शिवाकार मंच यह ही है

नवयोनीर्नवचक्राणि दधिरे नवैवयोगा नवयोगिन्यश्च।
नवानां चक्रा अधिनाथा स्योना नवभद्रा नवमुद्रा महीनाम् ॥२॥

उसमें ९ योनी, और ९ चक्रों को धारण किया हुआ है, ९ ही योग है और ९ योगिनियां हैं। वे चक्रों की अधिनाथा हैं जिनकी किरणें ९ भद्रा और ९ मुद्रा हैं।

सौन्दर्य लहरी के ११ वें श्लोकोक्त चार श्रीकंठ और पांच शिव युवतियां ९ योनियां हैं। इनको वहां मूल प्रकृति कहा गया है। ९ चक्र ९ आवरण हैं। प्रत्येक चक्र की एक २ योगिनी है। उनके नाम प्रकट, गुप्त, गुप्ततर, संप्रदाय, कुलोत्तीर्ण, निगर्भ, रहस्य, परा, और परपरातिरहस्य योगिनी हैं। देखें श्लोक ११ सौंदर्य लहरी।

एका साऽऽसीत प्रथमा सा नवासीदासोनविंशदासोनत्रिंशत्।
चत्वारिंशादथ तिस्रः समिधा उशतीरिव मातरो मा विशन्तु ॥३॥

अर्थः—वह पहिले एक थी, फिर (अष्टार सहित) ९ हो गई, (अन्तर्दशार सहित) १९ हुई, (बहिर्दशार सहित) २९ हुई, और (चतुर्दशार सहित ४३ हुई। ये सब प्रज्वलित कान्ति युक्त समिधा सदृश तेजोमयी माताएं मेरे भीतर प्रवेश करें। अर्थात मेरे शरीर में निवास करें।

ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनं ज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं तद्रजोऽभूत्।
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयन्ति ॥४॥

अर्थः—पहिले ऊर्ध्व ज्वाला युक्त प्रज्वलित ज्योति तमोगुण हुई, बिना जीर्ण हुए अर्थात अनन्त वह जब तिरछी फैलीं, वह रजोगुण हुआ, और आनन्द एवं मोद के देने वाली चन्द्रमा की

ज्योति सत्त्व गुण, ये तीनों क्रमशः अग्नि, सूर्य और सोम के मण्डल बनाती हैं।

४३ त्रिकोणों को समिधाओं से उपमित किया जाने से यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ये सब अग्नि और सूर्य मंडलों के अन्तर्गत होने चाहिये क्योंकि चन्द्रमा को समिधा की आव-श्यकता नहीं होती। इसलिये अष्ट दल और षोडश दल पद्म चन्द्रमण्ड में होने चाहिये, चतुर्दशार और बहिर्दशार सूर्य मंडल में, और अन्तर्दशार एवं अष्टार अग्नि मण्डल में। मध्य त्रिकोण शक्ति का स्थान है और भूगृह तीनों पुर अर्थात भूर्भुवः स्वः तीनों लोकों का प्रतीक है।

अन्तर्दशार और बहिर्दशार के दस २ दलों को अग्नि की दस २ कलायें, अष्टार के ८ दलों को अष्टवसु अथवा ८ दिशाओं रुपी ८ समिधा और चतुर्दशार के १४ दलों को सप्ताह की दिन रात्रियों रूपी १४ समिधाओं से उपमित किया जा सकता है।

यास्तिस्रोरेखाः सदनानि भूस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रिप्रकाराः।
एतन्त्रयं पूरकं पूरकाणां मंत्री प्रथते मदनो मदन्या ॥५॥

अर्थः—जो तीन रेखा हैं वे तीन सदन अर्थात लोक हैं, तीन प्राकार तीन गुण हैं। इस तीन मण्डलों से बने श्रीचक्र का कामेश्वरी मंत्र द्वारा मदन मंत्रीकरण करता है।

नोटः—मनुष्य देह ही श्रीचक्र है ।

मदंतिका मानिनी मंगला च सुभागा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपंती ॥६॥

पंचदशी कादिविद्या के प्रत्येक अक्षर के अनुसार १५ शक्तियों के नाम ये हैं:—

अर्थः—मदन्तिका, मानिनी, मंगला, सुभागा और वह सुन्दरीत्रिपुरा; सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, इष्टा, और पुष्टा; लक्ष्मी, उमा, ललिता और लालपन्ती ।

इमां विज्ञाय सुधिया मदन्ती परिस्रुता तर्पयन्तः स्वपीठम् ।
नाकस्य पृष्ठे महतोवसन्ति परंधाम त्रैपुरं चाविशंति ॥७॥

अर्थः— इस विद्या को जानकर (सुधारूपी) मदिरा से मदन्ती को, उसकी पीठ (श्रीचक्र) में तृप्त (प्रसन्न) करने वाले महान पुरुष स्वर्ग के ऊपर वास करते हैं और त्रैपुर धाम में प्रवेश करते हैं ।

स्वपीठम् को निवसन्ति के साथ पढ़ने से इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये कि मदन्ती को तृप्त करने वाले महान् पुरुष स्वर्ग के ऊपर उसकी पीठ में वास करते हैं, इत्यादि ।

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमातादिविद्या ॥८॥

अर्थः—कामः (ककार) योनिः (एकार) कामकला (ईकार) वज्रपाणिःइन्द्र (लकार) गुहा (ह्रीं) हसा (हस) मातरिश्वा (ककार) अभ्रं (हकार) इन्द्रः (लकार) पुनर्गुहा (ह्रीं), सकला (सकल) मायया (ह्रीं)। यह प्रकाशवर्ती विश्वमाता स्वरूपा आदि विद्या है।

षष्ठं सप्तममथवह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।
कथ्यं कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते ॥९॥

अर्थ—ऊपर वाली विद्या के षष्ठ, सप्तम, और वह्निसार्थि अर्थात् मातरिश्वा का मूलत्रिकं (प्रथम तीन अक्षरों के स्थान पर आदेश करने वाले साधक कथ्य (वाच्य पद) सर्वज्ञ कल्प के निर्माता कामेश्वर को प्रसन्न करके मुक्त हो जाते हैं। (कल्पः शास्त्रे विधौ न्याये संवर्ते ब्रह्मणो दिने)। यह लोपा मुद्रा मंत्र है।

पुरं हन्त्रीमुखं विश्वमातूरवेरेखा स्वर-मध्यं तदेषा।
वृहत्तिथि दशपंच च नित्या सषोडशीकं पुरमध्यंविभर्ति ॥१०॥

अर्थः—पुरं हन्त्रीमुखं (शिवाभिमुखं), विश्वमातुः (छंदे—दीर्घ) विश्वमाता की, अवेः पुष्पवती की, एखा 'ए'नामाख्या, स्वर मध्यं (स्वर हैं मध्य में) जिसके वह (विद्या), वृहत्तिथिदशपंच च (शुक्ल पक्ष की १५ तिथियां) और षोडशीक बीज सहित नित्या

भगवती पुरके मध्य में धारण करती है। अर्थात् पुष्पवती विकसिता विश्वमाता की 'ए'नामाख्या और जो शुक्ल पक्ष की १५ तिथियों युक्त है वह नित्या शिवाभिमुखसषोडशीक मध्य में स्वर-युक्त है उसे पुरके मध्य में लिये हुए श्रीचक्र अथवा सहस्रारस्थ अकथ चक्र को धारण करती है।

इस श्रुति का संकेत अष्टम मंत्रोक्त विद्या की ओर और विशुद्ध चक्र एवं श्रीचक्र के पूजन की विधि की ओर हैं। अर्थात् कादिविद्या को सषोडशीक लेना चाहिये, जिसके १५ अक्षर शुक्लपक्ष की तिथियों के सदृश विकसित हो रहे हैं। अविः से रजस्वला स्त्री का अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये। उसका अर्थ शिवाभिमुख अर्थात् शिव की ओर मुख किये हुए मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने वाली होनी चाहिये। विशुद्ध चक्र जो सब स्वरों का स्थान है उसमें उसका ध्यान करना चाहिये, जिसके दल सहस्रार की ओर विकसित हो रहे हैं।

यद्वा मंडलाद्वा स्तनविम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि।
कामीकलां कामरूपां चिक्त्वा नरो जायते कामरूपश्चकामः ॥११॥

अर्थः—अथवा जो गोल होने के कारण स्तनबिम्ब के सदृश एक मुख वाला है और उसके नीचे तीन गुहा सदृश घर बने हुए हैं एसी कामरूपा कला के कोई सकामी मनुष्य अनु-

ष्ठान में लाता है तो उसकी कामना पूर्ण होती है और वह स्वयं कामरूप हो जाता है। यहां कामबीज की ओर संकेत है।

परिस्रुतं झषमाजंफलं च भक्तानि योनीः सुपरिष्कृताश्च।
निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति ॥१२॥

अर्थः— परिस्रुतं=मदिरा, झषं=मत्स्य, नागरवेल, आजं=अजा से संबंध रखने वाला फल, अथवा आज्यं घी और फल अथवा झषा नागबला से उत्पन्न होने वाला फल, भात भोजन के पदार्थ, और योनियों को अच्छी तरह साफ सुथरा करके महादेवी को नैवेद्य देकर अपने लिये किये हुए सुकृत से सिद्धि पाता है। यह सारी विद्या सांगोपांग अति गोपनीय है, इसका यंत्र, मंत्र, पूजन विधि और पूजन की सामग्री का वर्णन कूट शब्दों में किया गया है। वास्तविक अर्थ सांप्रदायिक आचार्यों के मुख से ही जाना जा सकता है। इसलिये नैवेद्य की सामग्री के नाम भी कूट शब्दों में बताये हैं। जैसे परिस्रुतं मदिरा, झषं मछली, आजंबकरे का मांस. योनि स्त्री की योनि इत्यादि वास्तव में इन निषिद्ध पदार्थों के नामों द्वारा कूटशब्दों में अध्यात्म निवेदन निहित है। उसको गुप्त रखा गया है। परिस्रुतं से कुण्डलिनी जागरणोपरान्त अनुभव में आने वाली आध्यात्म मस्ती का संकेत है, झष्माजफलं से कर्मों का फल, भक्तानि से प्रारब्ध भोग और योनी से उनकी कारण भूत वासनायें समझनीं चाहिये।

सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः पाशेनैव प्रतिबध्नात्यभीकाम्।
इषुभिः पंचाभिर्धनुषा च विधत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या ॥१३॥

अर्थः—शर्करा के अंकुश से विश्व का आकर्षण करने वाली, पाश से क्रूरता का दमन करती है पांचबाणों से और धनुष से वह विश्व जननी आदि शक्ति अरुणा सबको नियन्त्रण में रखती है।

भगवती के चारों हाथों में अंकुश पाश, पांच बाण और धनुष हैं। और उसका वर्ण लाल है. इसालिये उसका नाम अरुणा है। अंकुश शर्करा का बना है, बाण फूलों के और धनुष ईख का। क्रोध को अंकुश, मोह को पाश, शब्द स्पर्श-रूपरसगंध को पांच बाण और मन को धनुष समझना चाहिये। मोह भी माधुर्य लिये होता है, भगवती का क्रोध भी मीठा होता है। मन में आनंद रूपी रस भरा रहता है और पांचों विषयों में भी मधुर्ता होती है।

भगः शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दातारविह सौभगानाम।
समप्रधानौ समसत्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः ॥१४॥

अर्थः—भग शक्ति है, भगवान् कामेश दोनों यहां सौभाग्य के देने वाले हैं, दोनों समान रूप से प्रधान हैं, समान सत्व वाले हैं, और समान ओजस्वी हैं, ओजरा उनकी शक्ति है जो विश्व का कारण है।

इच्छा, श्री, ज्ञान, वैराग्य, कीर्ति, ऐश्वर्य, धर्म और मोक्ष ये ८ भग कहलाते हैं, इनकी शक्तियों से युक्त भगवान कहलाता है।

परिस्त्रुता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः ।
शर्वः सर्वस्य जगतो विधाताधर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति ॥१५॥

अर्थः—मदिरा की हविद्वारा अर्थात् आनन्दावेशरूपी हविद्वारा भावना करने से प्रसंकोच के गलित होने पर अर्थात् जीवभाव का त्याग करके वैमनस्क उनमनी भाव को प्राप्त होता है। और कल्याण स्वरूप सारे जगत का विधाता धर्ता और हर्ता उसको विश्वरूप में दिखने लगता है।

इयं महोपनिषत् त्रैपुर्या यामक्षयं परमोगीर्भिरीट्टे ।
एषग्र्यजुःपरमेतश्च सामायमथर्वेयमन्या च विद्या ॥१६॥

अर्थः—यह त्रिपुरा का महोपनिषत् है, जो अक्षय और परम है, जिसको, यहां वाणी द्वारा कहा गया है। यह ऋक् यजुर् है और वह परसाम है, यह ही अथर्व और अन्य विद्या स्वरूप है।

ॐ ह्रीमों ह्रीमित्युपनिषत्। वाङ्मे मनसीति शांतिः॥ हरिःॐ तत्सत्

इति ऋग्वेदीया श्रीत्रिपुरोपनिषत् समाप्ता ॥

परिशिष्ट (३)

अथ अथर्ववेदीया भावनोपनिषत् का हिन्दी अनुवाद !

स्वाविक्षापदतत्कार्यं श्रीचक्रोपरि भासुरम् ।
बिन्दुरूपंशिवकारं रामचन्द्रपदं भजे ॥

ॐ भद्रंकर्णेभिः शृणुयामदेवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिररङ्गैः स्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्तिनः पूषाविश्ववेदाः, स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु । ॐ शान्तिः३॥

हरिः ॐ ॥ आत्माका चारों ओर सकल ब्रह्माण्डमण्डल को घेरेहुए, अखण्ड मण्डलाकार स्वयं प्रकाशमान ध्यान करना चाहिये । ॐ श्रीगुरु सबकी कारणभूता शक्ति है । उससे ९ रंध्र (छिद्र) वाला देह बनता है, वह ही ९ शक्ति स्वरूप श्रीचक्र है । (जैसे देह में २ नेत्र, २ कान, २ नाक के छिद्र, १ मुख, १ पायु और १ उपस्थ ये ९ छिद्र हैं वैसे ही श्रीचक्र में ४ श्रीकंठ और ५ शिव युवतियों वाले ९ प्रकृति स्वरूप त्रिकोण हैं), (सौ. ल. श्लोक ११) । वाराही शक्ति पितृ रूपा है । (सौ. ल. श्लोक ३) और कुण्डलिनी शक्ति मातृ रूपा है (सौ. ल. श्लोक ९), पुरुषार्थ सागर हैं, देह नवरत्नद्वीप (सौ. ल. श्लोक ८), आधर नवक मुद्रा शक्तियां हैं (त्रैलोक्य

मोहन चक्र के तीसरे चतुष्कोण की प्रकट योगिनियां, (अर्थात् सर्व संक्षोभिणी, सर्व विद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्व वशंकरी, सर्वोन्मादिनी, सर्व महाङ्कुशा, सर्व खेचरी, सर्व बीजा और सर्व योनि मुद्रा शक्तय:)। त्वगादि सत धातुओं से अनेक प्रकार संयुक्त संकल्प कल्पतरु हैं, तेजकल्पकोद्यान है। (श्लोक ८) जिह्वा के मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय और क्षार (लवण) भेद से छ: रस छ: ऋतु हैं। क्रियाशक्ति पीठ है, ज्ञानशक्ति कुण्डलिनी घर है, और इच्छाशक्ति महात्रिपुर सुन्दरी है। ज्ञाता होता, ज्ञान अग्नि और ज्ञेय हवि हैं; तीनों की अभेद भावना श्रीचक्र पूजन है। नियति सहित शृंगार, विभत्स, रौद्र, अद्‌भुत, भयानक, वीर, हास्य, करुण और शान्त ये ९ रस, त्रैलोक्य मोहन चक्र के प्रथम बहिर चतुष्कोण पर स्थित् अणिमा, लघिमा, महिमा, ईशत्व, वशित्व, प्राकाम्य, भुक्ति इच्छा, प्राप्ति और मुक्ति १० सिद्धियां हैं (श्लोक ५१)। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मय, मात्सर्य, पुण्य और पाप मध्य चतुष्कोणास्था ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा और महालक्ष्मी ८ मातृ देवता हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश; श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण; वाक्, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ, और मनोविकार सर्वाशा परिपूरक दूसरे अवरण के १६ दलों पर स्थित कामाकर्षिणी, बुद्धया कर्षिणी, अंहकाराकर्षिणी, शद्बस्पर्श रूपरसंगधाकर्षिणि, चित्ताकर्षिणी धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी,

नामाकर्षिणी, बीजाकर्षिणी, आत्माकर्षिणी, अमृता कर्षिणी और शरीराकर्षिणी १६ नित्या कला गुप्त योगिनियां हैं। बोलना, चलना, पकडना, मलमूत्र का विसर्जन करना मैथुन, हानि, लाभ और उपेक्षा बुद्धि, सर्व संक्षोभण संज्ञक तीसरे आवरणके ८ दलों पर स्थिता अनङ्ग कुसुमा, मेखला, मदना, मदनातुरा, रेखा, वेगिनी, अङ्कुशा और मालीनी ८ गुप्ततर योगिनियां हैं। अलंवुसा, कुहू विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा यशस्वती अथवा पयस्विनी, अश्विनी, गांधारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, ईडा, पिङ्ला, और सुषुम्ना ये १४ नाडियां सर्व सौभाग्य दायक चतुर्थ चतुर्दशार आवरण के १४ त्रिकोणों पर स्थिता सर्व संक्षोभिणी, सर्व विद्राविणी, सर्वाकर्षिणी सर्वाल्हादिनी, सर्वसंमोहनी सर्वस्तंभिनी, सर्वजृंभिणी, सर्ववशंकरी, सर्वरञ्जनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसंपत्ति पूरिणी, सर्वमंत्रमयी, और सर्वद्वंद्वक्षयंकरी १४ संप्रदाय योगिनियां हैं। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धंनजय १० वायु सर्वार्थ साधक संज्ञक बहिर्दशार गत पांचवें आवरणके १० त्रिकोणों पर स्थिता सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसंपत्प्रदा, सर्वप्रियकरी, सर्वमंगलकरी, सवकामदा, सर्वदुख:विमोचिनी, सर्वमृत्यु प्रशमनी, सर्वविघ्न निवारिणी, सर्वाङ्ग सुन्दरी, और सर्वसौभाग्य दायिनी १० कुलोत्तीर्ण योगिनियां हैं। उक्त दस वायु के संसर्ग की उपाधि भेद से जो रेचक पूरक, शोषक, दाहक, प्लावक पंचप्राणादि की अमृत रूपी पालन करने वाली क्रियाएं

हैं, और क्षारक, दारक, क्षोभक, मोहक, जृंभक ५, क्रियाएं जो पालन नहीं करतीं नागादि की क्रियाएं है, जिन से मनुष्यों का मोहक दाहक खाया पीया भक्ष्य, लेह्य, चोष्य, और पेय चतुर्विध अन्न पचता है सर्वरक्षाकर संज्ञक छटे अन्तर्दशार चक्र की सर्वज्ञा सवशक्तिप्रदा, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधि विनाशिनी, सर्वाधारस्वरूपा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी सर्वरक्षा स्वरूपिणी, और सर्वेप्सित फलप्रदा १० वह्निकला निगर्भ योगिनियां हैं। शीत, ऊषण, सुख, दुःख, इच्छा, सत्व, रजोगुण और तमोगुण सर्वरोगहर संज्ञक अष्टार सप्तम आवरण के ८ त्रिकोणों में स्थिता वशिनी कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयनी, सर्वेश्वरी और कौलिनी वागदेवता ८ रहस्य योनियां हैं। शब्द स्पर्श रूप-रसगंध ५ तन्मात्रा ५ पुष्पबाण है, मन इक्षुधनु, वश्यबाण, राग पाश और द्वेष अङ्कुश है। अव्यक्त, महत्, अहंकार तीनों कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, और भगमालिनी देवियां हैं जिनका स्थान सर्वसिद्धप्रद अष्टम आवरण के मध्य त्रिकोण के अग्र भागों पर है। काल के परिणाम को दिखाने वाली १५ तिथियां १५ नित्या हैं, श्रद्धानुरूपा बुद्धि देवता है, उन में कामेश्वरी सदा आनंदघना परिपूर्ण स्वात्मैका रूपा हैं। इसका स्थान सर्वानन्दमय संज्ञक नवम आवरण में अर्थात् विन्दुस्थान है, जिसको ललिता महात्रिपुर सुन्दरी परापरातिरहस्य योगिनी कहते हैं।

उपासना क्रमः—तर्पणादि के लिये जल सत्व है, कर्तव्या कर्तव्य विचार उपचार है, कर्तव्यता है या नहीं यह अनूपचार

अर्थात गौण उपचार है। वाह्य और अभ्यन्तर इन्द्रियों की रूप ग्रहण करने की योग्यता बनी रहे यह इच्छा आवाहन है। उन वाह्याभ्यन्तर कर्मों की एक विषय पर स्थिरता आसन है। रक्त और शुक्ल पदों का एकीकरण पाद्य है। (ईडा और पिंगला शक्ति के दोनों चरणों में शक्तयात्मक पद रक्त हैं और शिवात्मक पद शुक्ल है। आमोद और आनंद का प्रकाश आसनदान और अर्घ्यदान। स्वत: सिद्ध स्वच्छता आचमन। चन्द्रमयी चिति में सर्वांग स्रवण स्नान है। चिदग्नि स्वरुप परमानन्द शक्ति का स्फुरण वस्त्र है। सत्ताइस भेदों से युक्त क्रिया, इच्छा और ज्ञान रूपी ब्रह्म ग्रंथिवाली छ: तन्तु की ब्रह्म नाडी ब्रह्म सूत्र है। प्रत्येक क्रिया शक्ति, इच्छा और ज्ञान शक्ति के २७ भेद कहे गये हैं। अधिभौतिक, अधिदैविक, और अध्यात्म भेद से तीनों शक्तीयां तीन तीन प्रकार की होती है। फिर प्रत्येक के मृदु मध्य और तीव्र भेद से तीनों के नवधा भेद समझना चाहिये। फिर प्रत्येक के सुख दु:ख और मोहात्मक अथवा सात्विक राजसिक और तामसिक भेद से सत्ताईस भेद होते हैं। मृदु मध्य और तीव्र के स्थान पर मनसा वाचा कर्मणा भेद से भी तीनों को त्रिधा माना जा सकता है। ब्रह्म सूत्र में तीन ग्रंथियां इच्छा ज्ञान और क्रिया रूपा है और उसमें छ: तन्तु है। तीनों की शक्तियां शिव शक्ति अथवा ईडा पिंगला भेद से ६ प्रकार की होती हैं। इस प्रकार २७ तारों का यज्ञोपवीत बट कर उसकी छ डोरियों

ने सुषुम्ना रूपी ब्रह्म सूत्र बना है। अपने को वस्तु संग रहित पृथक स्मरण करना विभूषण है। सच्चिदानन्द की परिपूर्णता का स्मरण करना गंध है। सब विषयों का एकाग्रस्थिर मन से अनुसंधान करना पुष्प हैं। उन को ही सर्वदा स्वीकार करना धूप है। सचित् स्वरूप उल्काकाश देह वाला जो पवन के झोकों से न हिलने वाला उर्द्ध शिखा युक्त प्रज्वलित दीप है। सर्वथा याता-यात वर्जित एकान्तवास नैवेद्य है। तीनों अवस्थाओं का एकीकरण तांबूल है। मूलाधार से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त और ब्रह्मरंध्र से मूलाधार तक आना जाना प्रदक्षिणा है। तुर्यावस्था नमस्कार है। देह के शून्य होने पर प्रमातृत्व का लय होना बलि हरण है। सत्य है कर्तव्य और अकर्तव्य परन्तु उदासीनता के भाव में नित्य आत्मा को मग्न रखना होम है। स्वयं उसकी पादुकाओं में निमग्नता परिपूर्ण ध्यान है। इस प्रकार तीन मुहूर्त भावना करने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। उसे सायुज्य देवात्मैक्य सिद्धि होती है। उसके चिन्तित कार्य बिना यत्न के सिद्ध होते हैं। वह ही शिवयोगी कहलाता है। यह कादि हादि मत के अनुसार भावना प्रतिपादित की गई है। जो ऐसा जानता है वह जीवन मुक्त हो जाता है। वह जीवन मुक्त हो जाता है।

इति उपनिषत्। ॐ भद्रं कर्णे भिरिति शान्तिः।

हरीः ॐ तत्सत्।

इत्यथर्वण वेदे भावनोपनिषद् हिन्दी अनुवाद।

परिशिष्ट (४)

अथ देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम् ।

न मंत्रं नो यंत्रंतदपि च नजाने स्तुति महो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च नजाने स्तुति कथाः ।
नजाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेशहरणम् ॥ १ ॥

अर्थः—हे मां ! मैं न यंत्र जानता हूं, न मंत्र, और फिर अहो स्तुति भी तो नहीं जानता, आवाहन ध्यान और तेरी स्तुति कथा कुछ नहीं जानता, तेरी मुद्रा नहीं जानता, और न रोना ही जानता हूं, परन्तु हे मात ! इतना तो जानता हूं कि तेरा अनुसरण करने से क्लेशों का नाश होता है ।

त्रिधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया
विधेयाशक्यत्वात्तव चरणयोर्या च्युतिरभूत् ।
तदतत्क्षन्तव्यं जननि सकलोद्धारिणि शिवे
कुपुत्रोजायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥ २ ॥

अर्थः—तेरी पूजा की विधि का ज्ञान न होने के कारण धन के अभाव से और आलस्य से एवं विधिवत् पूजा करने में अशक्य होने के कारण जो तेरे चरणों से अलग रहा हूं, वह मेरा अपराध क्षमा किया जाने के योग्य है । हे जननि सब का

उद्धार करने वाली शिवे ! कुपुत्र तो हो सकता है परन्तु कहीं भी कुमाता नहीं होती ।

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः संतिसरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तवसुतः ।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥ ३ ॥

अर्थः—पृथ्वी पर तेरे, हे मां ! बहुत से सरल पुत्र हैं, परन्तु उनमें मैं भी एक विरल चपल तेरा सुत हूं । हे शिवे ! जो तूने मुझे त्याग रखा है, यह तेरे लिये उचित नहीं है, क्योंकि कुपुत्र तो होते हैं परन्तु कहीं भी कुमाता नहीं होती ।

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता
न वादत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया ।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत्प्रकुरुषे
कुपुत्रा जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥ ४ ॥

अर्थः—हे जगज्जननि ! हे मां ! मैंने तेरे चरणों की सेवा कभी नहीं की, और हे देवि ! मैं तुझे बहुत धन भी न दे सका, तौ भी तू जो मेरे ऊपर निरुपम स्नेह करती है, ठीक है क्योंकि कुपुत्र तो हो सकते है, परन्तु कहीं भी कुमाता नहीं होती ।

परित्यक्ता देवा विविधविध सेवा कुलतया
मया पंचाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि ।
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम् ॥ ५ ॥

अर्थः—विविध प्रकार से सेवा करते-करते व्याकुल होकर अब ८५ वर्ष से भी अधिक वय हो जाने पर मैंने सब देवों कोछोड दिया है, यदि अब हे मां ! तेरी भी कृपा नहीं होगी, नो हे गणेश जननि ! मैं निरालम्ब किसकी शरण में जाउं ?

यहां ८५ वर्ष की आयु से अधिक समय अन्य देवताओं की सेवा में व्यतीत हो जाने के उल्लेख से यह शंका होती है कि यह स्त्रोत्र आदि शंकर भगवत्पाद का विरचित नहीं है। संभव है कि चारों मठों की आचार्य परंपरा में किसी अन्य आचार्य का यह विरचित हो सकता है, क्योंकि सब मंठों के आचार्य शंकराचार्य ही कहलाते हैं। अन्यथा ८५ वर्ष से भी अधिक वय कहने से सामान्य लोगों का दीर्घायु तक अन्य देवताओं की सकाम उपासना में ही लगे रहने की ओर संकेत है।

श्वपाकोजल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा
निरातंको रंको विरहति चिरं कोटि कनकैः ।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं
जनः को जानीते जननि जपनीयं जपविधौ ॥ ६ ॥

अर्थः— हे अपर्णे ! तुम्हारे मंत्र का एक वर्ण भी कान में पडजाने का जब यह फल है, कि बकवास करने वाला मूर्ख भी मधुपाक जैसी मधुरवाणी का वक्ता हो जाता है और रंक भी किरोडों सुवर्ण की मुद्राओं से दीर्घ काल तक निर्भय विहार करता है। तो कौन मनुष्य जान सकता है कि हे जननि, जप की विधि के अनुसार जप करने का क्या फल होगा. क्योंकि जप विधि को कौन जानता है ? अर्थात् कोई नहीं जानता।

चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पट धरो
जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः।
कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीं
भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम् ॥७॥

अर्थः—हे भवानि ! चिता की भस्म कालेप करने वाला, हलाहल खाने वाला, दिगम्बर जटाधारी, कंठ में सर्पों का हार पहिनने वाला, पशुओं का पति, कपाली (हाथ में भिक्षा के लिये खप्पर लिये) भूतेश ईश्वर जगत की एक मात्र ईशन (शासन) करने की पदवी धारण करता है. इसका कारण तेरा पाणिग्रहण करने की परिपाटी का ही फल है।

न मोक्षस्याकांक्षा भवविभववाञ्छापि च न मे
नविज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।

अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः ॥ ८

अर्थः—हे चन्द्रमुखि जननि ! न मुझे मोक्ष की इच्छा है न संसारिक वैभव की इच्छा है, न विज्ञान की ही अपेक्षा है और न सुख की इच्छा, इसलिये यह ही याचना करता हूं कि मेरा जीवन 'मृडानी' रुद्राणी, शिव २ भवानी' इस प्रकार जप करता हुआ बीते ।

नाराधितासि विधिना विविधोपचारैः
किं रुक्षचिन्तनपरैर्न कृतं वचोभिः ।
श्यामे त्वमेव यदि किञ्चन मय्यनाथे
धत्से कृपामुचितमम्ब परं तवैव ॥९॥

अर्थः—हे श्यामे ! अम्बे ! मेरेसे न तो विधिपूर्वक तेरी विविध सामग्रियों से पूजा ही हुई है। और मेरी रूखे चिन्तन में लगी वाणी द्वारा क्या नहीं किया गया है ? तो भी यदि तूही मुझ अनाथ पर जो कुछ कृपा रखती है, हे मां वह तेरे लिये उचित है। (जो मुझ जैसे कुपात्र पर कृपा तो है ही)

आपत्सु मग्नः स्मरणं त्वदीयं
करोमि दुर्गे करुणार्णवेशि ।
नैतच्छठत्वं मम भावयेथाः
क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति ॥१०॥

अर्थः—हे दुर्गे, हे दया के सागर की ईश्वरि ! आपत्तियों में डूबा हुआ मैं तेरा स्मरण करता हूं मेरी इसमें शठता है ऐसा मत समझना, क्योंकि क्षुधा और तृषा से दुःखी बालक ही माँ को याद करता है ।

जगदम्ब विचित्रमत्रकिं, परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि ।
अपराध परम्परावृतं, न हिमाता समुपेक्षते सुतम् ॥११॥

अर्थः—हे जगदम्ब ! इसमें यहां आश्चर्य ही क्या है कि मेरे ऊपर तेरी पूर्ण दया है; अपराधों पर अपराध करते रहने पर भी, माता पुत्र की उपेक्षा नहीं करती ।

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि ।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु ॥१२॥

अर्थः—मेरे समान कोई पापी नहीं, और तेरे समान पापों का नाश करने वाली दूसरी नहीं, ऐसा जानकर हे महा देवि, जैसा योग्य समझो वैसा करो ।

इति श्री शङ्कराचार्य विरचितं देव्यपराधक्षमा प्रार्थना स्तोत्रम् संपूर्णम् ॥

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंकति	अशुद्धि	शुद्धि
६	१६	साधनोंपाय	साधनोपाय
९	१९	युद्ध	शुद्ध
१६	१२	के	में
,,	२०	शान्ता	शान्तो
१८	४	संक्या	संख्या
२३	११	बहिद्र्ष्टि	बहिर्दृष्टि
३०	८	उच्छ्श्वास	उच्छ्वास
३०	११	दु. स.	दु. श.
३९	१०, १२	हो जायगी	लग जायगी
३९	अन्तिम	ऐ स्वरात्मक	ऐ उसका स्वरात्मक
४०	१७	शांतातीता	शांत्यातीता
४४	१७	सृस्ट्रत्व	सृष्ट्रत्व
५९	११	गायत्री का भी	गायत्री का ही
६१	३	शक्ति अनन्तता	शक्ति की अनन्तता
,,	४	शैरि	शौरि
६६	९	संमार	संसार
७२	१८	शाक्षात्	साक्षात्

७४	१४	निम्नोध्द्दत	निम्नोद्धृत
७५	२	वराभित्यभिनया	वराभीत्यभिनया
८३	६	शक्त	शक्ति
,,	१३	नाया	माया
८९	६, ७	तमोगु रजोगु	तमोगुण रजोगुण
,,	अन्तिम	रजित	रंजित
१००	७, ८	रुद्रग्रंथि के स्थान पर ब्रह्मग्रंथि और ब्रह्मग्रंथि के स्थान पर रुद्रग्रंथि पढ़ें	
१०६	६	जसे	जैसे
११९	७	शा. नि.	शा. ति.
१३२	१५	हरमहिशि	हरमहिषि
१३३	५	हराधींगिनी	हराधींगिनी
१३४	१३	सूर्याः	सूर्यः

-